निष्कम्प दीप शिखा

(जैन आगम के आलोक में)

पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

स्वाध्याय रसिकों को सादर समर्पित

वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-110 002

सम्पादकीय

मेरे लिए ऐसा सोचना 'आका श कुसुमवत्' होता कि मुझ अल्पज्ञ को पं० पद्मचन्द शास्त्री जैसे अप्रतिम-उद्‌भट मनीषी विद्वान् के महत्त्वपूर्ण निबन्धो के संचयन एव सम्पादन का कभी सुयोग मिलेगा। वस्तुतः मैंने ऐसा सोचा भी नहीं था। अलबत्ता मैं जब भी वीर सेवा मन्दिर के आपके निवास पर ठहरा, तब-तब ऐसी भावना अवश्य प्रगट की होगी कि यत्र-तत्र आपकी बिखरी सामग्री एक ग्रन्थ के रूप में आने से विद्वानो के ज्ञानवर्द्धन हेतु उपयोगी रहेगी। 'जरा सोचिये शीर्षक की अधिकांश सामग्री भी मैंने सकलित करके सौंपी थी। वह प्रकाशित हो चुकी है। इसी प्रकार 'आगम के आलोक' मे लिखे गए पंडित जी के शताधिक निबन्ध जैन पत्र-पत्रिकाओ की पुरानी फाइलो मे मिल ही जायेंगे। इस बार मैं पत्नी आशा के साथ अपनी विदुषी बीमार जीजी श्रीमती ज्ञानमाला जैन से मिलने भोपाल गया था। पूर्व योजनानुसार वीर सेवा मन्दिर में भी दर्शन-मेला करना था। सो दि० 14 जुलाई 2006 की सुबह पहुँचकर पंडित जी की चरणरज मस्तक पर लगाई। पहुँचने पर माँ समान मामी जी की खुशी देखते ही बनती है। उस विषय में क्या लिखें? आन्तरिक संतोष और प्रसन्नता मिलती है। अस्तु,

एक विचित्र संयोग घटित होता है। बिखरी सामग्री के एक जगह लाने का सोच विद्वान् श्रेष्ठि श्री रूपचन्द जी कटारिया के मन में भी पनप रहा था। अचानक वे और श्री सुभाषचन्द जैन (शकुन-प्रकाशन) दोनों वीर सेवा मन्दिर पधारे थे। तत्त्व-चर्चा के मध्य पंडित जी के निबन्धों के संकलन का प्रसग जुड़ गया। कटारिया जी का आदेश मुझे मिला कि आप

इस कार्य को करेगे। मैंने भी साहस करके हामी भर दी। मैंने कटारिया जी के आगम-बोध एंव विद्वत्ता की चर्चा पं० पद्मचन्द्र शास्त्री जी से सुन रखी थी। अतः उनसे मैंने आग्रह पूर्वक कहा कि संकलन मैं करके छोड़ जाऊँगा; आप सम्पादकीय लिख दीजियेगा। लेकिन कटारिया जी के साथ सुभाषचन्द जी ने एक स्वर से कहा, "अजी सब कुछ आप ही कीजिये, काट-छाँट, सशोधन-परिवर्तन जो करना होगा, हम कर लेंगे।" सो आप देख रहे हैं कि 'बिल्ली के भाग से छींका टूटने' वाली बात हो गई; मै ही सम्पादकीय लिखने को बाध्य हूँ। परिवर्तन-संशोधन जो उन्हे करना होगा-करे या नहीं करें। सर्वाधिकार उन्हीं का...।

'जैनागम के आलोक' में पंडित जी द्वारा लिखित लगभग 55-60 लेख मैंने अपने सामने रखे। उन्हें उलट-पुलटकर विहगम दृष्टि डाली। मुझे लगा इनमें से 33 लेखों को एक संग्रह में प्रकाशित करना सार्थक होगा। इनको पूर्वापर क्रमबद्धता देने के साथ-साथ सूचीबद्ध करने में समय तथा श्रम लगना ही था। जाहिर है पंडित जी के लेख अलग-अलग विषयों पर भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। उनके बीच में अन्तराल भी आया है। मैंने सोचा था कि जैन समुदाय के पूजा-विधान, मंत्र-जाप, दर्शन विधि की क्रियाओं में एक नियमित क्रमबद्धता होती है। जैन तथा जैनेतर कोई भी हो सभी के यहाँ अपना मूल मन्त्र है। सोते-जागते उस मन्त्र के उच्चारण मनन-चिन्तन की अपनी परम्पराएँ व मान्यताएं हैं। हमारा मूलमन्त्र णमोकार मन्त्र हैं। इसे अनादिमन्त्र की सज्ञा प्राप्त है। जैनो का कोई कार्यारम्भ इस मन्त्र के बिना नहीं हो सकता। बच्चे के बोल निकलते ही माँ उसे णमोकार मन्त्र को उच्चारित कराने का पुनः-पुनः प्रयत्न करती है किसी आगन्तुक के आने पर बच्चों के द्वारा इस मन्त्र को सुनाने पर उसे शाबासी मिलते रहने से, वह स्वतः भी सुनाने को उद्यत हो जाता है। "जैन ससार मे णमोकार मन्त्र का प्रचलन समान रूप से है। सभी इसे 'सव्वपावपणासणो' और 'पढमं हवइ मगल' रूप में मानते हैं, पढ़ते और स्मरण करते हैं। मान्यता ऐसी है कि प्रसिद्ध यह मंत्र अनादिमूल और अपराजित है–'अनादिमूल मंत्रोऽयम्' 'अपराजित मंत्रोऽयम्' इत्यादि।"

अतएव पुस्तक के अनुक्रम में पहले स्थान पर इसी को रखा गया है। पुस्तक का दूसरा लेख 'स्वस्तिक रहस्य' है। सभी समुदायों में स्वस्तिक चिन्ह का समादर है। पंडित जी ने स्वय लिखा है कि, "आस्तिक भारतीयों में, चाहे वे वैदिक मतावलम्बी हों या सनातन जैन मतावलम्बी। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी की मांगलिक क्रियाओं (जैसे विवाह आदि षोडश संस्कार, चूल्हा-चक्की स्थापना, दुकानदारों के खाता-वही, तराजू-बांट के मुहूर्त में) तीन परिपाटियाँ मुख्य रूप से देखने को मिलती हैं। कुछ लोग 'ॐ' लिखकर कार्य प्रारम्भ करते है और कुछ स्वस्तिक अंकित कर कार्य का श्रीगणेश करते है।....."। विस्तार से विविध प्रामाणिक उद्धरणों को देते हुए गवेषणात्मक शोधपूर्ण निबन्ध है। यहाँ तक कि मूर्धन्य विद्वान्, पंडित कैलाशचन्द सिद्धान्तशास्त्री जी ने इस निबन्ध के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "...पंडित जी ने इस पर नवीन दृष्टि से विचार किया है। अभी तक तो यही माना जाता रहा है कि सीधी और आडी दोनो लकीरे जीव और पुद्गल के सम्बन्ध की सूचक है और उनका फल चार गतियो मे भ्रमण है। उसी का प्रतीक स्वस्तिक है। किन्तु पडित जी ने उसे चत्तारिमंगल से जोडा है। यह प्रसंग भी पढ़ने योग्य है।" यों पंडित जी की गवेषणात्मक शैली का लोहा विद्वानों को प्रायः मानना ही पड़ता है।

'जैन ध्वज स्वरूप और परम्परा,' 'अहिंसा के रूप' सूची में तीसरे और चौथे निबन्ध है। दरअसल चयनित निबन्धो के पीछे एक दृष्टि यह रखी गई है, कि ग्रन्थ का उपयोग केवल विद्वानो तक सीमित न रहकर प्रत्येक जैन और जैनत्व की जानकारी चाहने वालो के लिए भी होवे। उक्त दोनों लेखो मे जिन विषयो की जानकारी दी गई है, वह जैन मात्र को जानना नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार 29, 30 और 31 वे लेखों में गुम्फित सामग्री भी सभी धार्मिको की जिज्ञासाएँ शान्त करने मे सक्षम है। इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष उल्लेख करना अनावश्यक तथा औचित्यरहित है; चूँकि सभी लेख अपने मे पूर्ण और स्पष्ट है। विद्वान् उनकी शैली और स्वभाव से सुपरिचित हैं ही। आगम के प्रतिकूल इन लेखों में कोई बिन्दु

पा लेना, संभव नहीं है। अतः सम्पादकीय के बहाने कुछ भी लिखना सार्थक नहीं है। मैं मानता हूँ, 'अन्त भला सो जग भला'। अनुक्रमांक के अनुसार अंतिम लेख 'हिमालय के मुनि की सल्लेखना' मे लेखक पं० पद्मचन्द शास्त्री की विवेचना सोच एवं निर्मल भावना के प्रति मैं। नतमस्तक हूँ। इस लेख के लिए कौन व्यक्ति लेखक को साधुवाद नहीं देगा?

चयनित निबन्धों के प्रकाशित करने की कार्य-योजना के क्रियान्वयन को सफलता दिलाने का प्रथम श्रेय आदरणीय श्री रूपचन्द जी कटारिया को ही है। उन्होंने ही पं० पद्मचन्द शास्त्री से उनके यत्र-तत्र बिखरे लेखों के संचयन-प्रकाशन करने की स्वीकृति दिलाई। प्रकाशन के पूरे व्ययभार उठाने को स्वयं आगे बढ़े। वीर सेवा मन्दिर के सचिव एव 'शकुन प्रकाशन' के संचालक श्री सुभाषचन्द जी जैन का भी भरपूर योगदान है। इन दोनों ही महानुभावों की इच्छानुसार मैंने सम्पादन का कार्य सम्पन्न किया है। इनका आभार व्यक्त करने के लिए शब्द कम पड रहे हैं। मै कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। वीर सेवा मन्दिर में कार्यरत पं० संजीव कुमार जैन ने लेखों के उपलब्ध कराने में पूरा सहयोग किया। इस हेतु वे सराहना एवं धन्यवाद के पात्र है। इस पुस्तक के प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्ष जिनका भी सहयोग मिला है, मैं उन सभी का अभारी रहूँगा। अन्त मे यह कहना नहीं भूलूँगा कि–

आज की दैनन्दिनी का पृष्ठ भी पूरा हुआ लो–
और मैं रीता था, रीता रह गया......

–प्रेमचन्द्र जैन
आशा-निलय'
गली नं० 5-नहर कालोनी के पीछे
नजीबाबाद-246763
(उ०प्र०)

अनुपम श्रुत आराधक
पंडित पद्मचन्द्र शास्त्री

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान।। कबीर।।

प्रस्तुत दोहे के निहितार्थ तथा सैद्धान्तिक पक्ष से मैं सर्वथा सहमत हूँ। परन्तु व्यावहारिक पक्ष से असहमति है। चूँकि आज जब हमें प्राचीन विद्वानों के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ देखने को मिलती हैं, तो स्वभावतः रचनाकार, रचनाकाल, एवं स्थान आदि के विषय में जिज्ञासा होती है। यदि उनमें ये सब नही दिया गया है तो पाण्डुलिपि के संदिग्ध हो जाने का ख तरा पैदा होने के अलावा अन्य समस्याये भी सामने आते देखी जाती हैं और फिर मेरा मानना है कि लेखक हो या कोई व्यक्ति, अपने जीवन के विषय में वह स्वय जो जान सकता है, वह दूसरा नहीं जान सकता। अपने इसी सोच को दृष्टि में रखते हुए मैंने पंडित पद्मचन्द शास्त्री के समक्ष उनके जीवन-परिचय के सन्दर्भ मे जब-जब कोई प्रश्न उठाया होगा, तब-तब उन्होने मुझे जैनागमों से सम्बन्धित चर्चा में उलझाकार मेरे प्रश्न को आकाश के हवाले करते हुए अनुत्तरित ही रहने दिया होगा। ऊपर से एक मीठी झिड़की खिलाकर कहेगे, 'आराम कर ले थक गया होगा।' अरे ऽ प्रेम तुम लोग समझते नहीं हो, इस परिचय-वरिचय मे क्या रखा है? सुनो ऽ, 'परमार्थ शतक मे' पंडित रूपचन्द ने लिखा है:–

चेतन चित्परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछू न हत्थ।।
चेतन सौं परिचय नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि बिहूनैं खेत की, वृथा बनाबत बारि।।

जैनागम शास्त्रों के मर्मज्ञ, प्राकृत-संस्कृत, अपभ्रंश जैसी प्राच्य भाषाओं के ज्ञाता प्रकाण्ड पंडित तथा कुन्द-कुन्दाचार्य भगवान के ग्रन्थों पर साधिकार

व्याख्यान देने में समर्थ पंडित पद्मचन्द शास्त्री को, भला हम कैसे समझाएँ कि आप जिज्ञासुओ के लिए 'कन बिन तुस' अथवा 'सालि बिहूने खेत' के समान नहीं हैं। आपने प्राच्य भाषा प्राकृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के चिन्तन-मनन में अपना समग्र जीवन होम कर डाला है। उस चिन्तन-मनन और मन्थन से जो नवनीत प्राप्त किया है, उसे अपने निबन्धो, व्याख्यानो और चर्चाओं के माध्यम से समाज को ही निःस्वार्थ-निर्लोभ भाव से भेंट कर दिया है। कुन्द-कुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे प्रतिपादित जैन-सिद्धान्त, दर्शन और धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा, आस्था और विश्वास ही नही, आचरण में भी उसे व्यवहृत करके दिखाया है।

'मूल जैन-सस्कृति : अपरिग्रह' शीर्षक आपकी लघुकाय रचना को विद्वत्समाज ने बहुमान दिया है। कुछ ही समय में हिन्दी भाषा में न केवल तीसरा सस्करण छापना पड़ा है, अपितु उसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद होकर पुस्तक विदेशो में भी अपनी छाप छोड़ रही है। आपने 'अपरिग्रह' जैसे विषय पर लिखा ही नही है, बल्कि अपने वास्तविक जीवन मे जिया भी है। 'प्रत्यक्षे कि प्रमाण' हमने देखा है, एक ओर जहाँ ज्यादातर विद्वान् पुरस्कारो की जुगत भिड़ाते देखे जा सकते है; वहीं आप पुरस्कार मे प्राप्त धनराशि संस्था के सदुपयोग के लिए भेट करते हैं। आज इस प्रकार की निर्लोभ एवं त्यागवृत्ति विरल हो गई है।

मैं ऐसा मानकर चल रहा हूँ कि पंडित पद्मचन्द्र शास्त्री का आत्मकथ्यात्मक कोई कृति या आलेख नहीं है, तो एक संक्षिप्त परिचय ही उनकी नवीन पुस्तक में दे देना अनुपयुक्त नही होगा। किन्हीं कारणोवश मेरे लिए इनका परिचय लिखना दुरूह है, तथपि प्रयत्न करता हूँ। इसमे समस्या एक तो यही है, 'हल्का कहूँ तो बहु डरूँ, भारी कहूँ तो झूठ'...। इसीलिए कबीर ने आगे 'मै का जानूँ. ...' लिखकर स्वयं को सुरक्षित कर लिया था। मैंने तो जब 'ओखली में सिर रख लिया है तो चोटों से क्या डरना'? जो भी सही-सही जानकारी कर सका हूँ उसी आधार पर लिखता हूँ।

पंडित जी का जन्म कार्तिक शुक्ला अष्टमी विक्रम सं० 1972 को जिला बदायूँ, उ०प्र० के कस्बा बिलसी में स्वनामधन्य पिता श्री चिरंजीलाल जैन बाकलीवाल के यहाँ हुआ था। माता श्रीमती कटोरी-बाई सरल एवं शान्त स्वभाव की.धार्मिक गृहणी थी। अच्छे जैन परिवार में पुत्र का जैसा लालन-पालन होता है, आपका भी उत्तम रीति से हुआ था। उचित समय पर प्रारम्भिक कक्षा 5 तक की शिक्षा बिल्सी में ही पूरी की थी। आगे की शिक्षा के लिए पिता श्री ने 'ऋषभ' ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी, मथुरा को चुना और वहीं भेज दिया। सौभाग्य से इसके

आगे का विवरण पंडित जी के ही एक लेख में 'जिन खोजां तिन पाइयाँ' की तर्ज पर मेरे हाथ लग गया है। जिसे किसी खास व्यक्ति के संस्मरण के दौरान पंडित जी को लिखना अपरिहार्य हो गया होगा। प्रसन्नता है, कुछ तो भार हल्का हुआ। आगे उद्धृत है:

"लगभग सन् 1927 के चैत्र मास की बात है, जब श्री कुँवर दिग्विजयसिंह जी अहिक्षेत्र के मेले के बाद बिलसी पहुंचे। उनके साथ मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम के प्रचारक प० सिद्धसेन गोयलीय और एक पगडी धारी पंडित जी श्री देवीसहाय जैन– (सम्भवतः सलावा वाले थे) भी थे। उन दिनों आर्य समाज के प्रचार का युग था। आये दिन आर्य समाजियों से जैनियो के विवाद चलते रहते थे। मेरे पिता जी की ऐसे विवादों में रूचि थी–उन्हें ज्यादा रस आता था-जैन की बात पोषण में। कुँवर साहब के आने से शास्त्रार्थ का वातावरण बन गया। नियम-समय आदि निर्धारित हो गए। आर्य समाज ने अपनी ओर से बरेली के पं० बंशीधर शास्त्री को नियुक्त किया और जैन की ओर से कुंवर साहब बोले। कुँवर साहब को वहाँ कई दिन ठहरना पड़ा।

मुझे याद है कटरा बाजार में मेरे ताऊ श्री दुर्गा प्रसाद जी की दुकान के सामने काफी भीड़ थी। दोनों ओर मेजें लगी थी। दोनो विद्वान् बारी-बारी बोलते थे। सभापति का आसन विलसी के प्रमुख रईस श्री गेदनलाल ने (जो अजैन थे) ग्रहण किया था। नतीजा क्या रहा मुझे नहीं मालूम? हाँ, दोनो ओर की तालियों की गड़गडाहट और जयकारो का मुझे ध्यान है। अगले दिन कुवॅर साहब के सुझाव पर, वातावरण से प्रभावित मेरे पिता ने मुझे विद्वान् बनाने का संकल्प ले लिया और मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम मे भेजने का निश्चय प्रकट किया। कुॅवर साहब ने मेरे सिर हाथ रखकर मुझे विद्वान् पंडित बनने का आशीर्वाद दिया और गोयलीय जी से कहा-इस बालक की अच्छी व्यवस्था करना। मुझे भली-भांति याद है उस समय कुँवर साहब सफेद चादर ओढ़े, सफेद चॉदी फ्रेम वाला चश्मा लगाए थे और उनकी दाढी मन मोह रही थी। कुछ महीनों में मैं आश्रम में पहुंच गया। मेरे पिता नहीं चाहते थे कि वे मेरा बोझ समाज पर डाले, फलत.- उन्होने खुशी से आश्रम को पांच रुपए मासिक देना स्वीकार किया और राशि बराबर पहुंचती रही। उन दिनों पांच रुपयो की बड़ी कीमत थी।" उन दिनों माणिकचन्द दिगम्बर जैन परीक्षालय शोलापुर की बड़ी मान्यता थी। मथुरा मे पढ़ाई करते हुए ही आपने जैन धर्म, न्याय, शास्त्री आदि की परीक्षाएँ पास की थीं। कलकत्ता से होने वाली 'व्याकरणतीर्थ' की कठिन परीक्षा भी उत्तम श्रेणी मे पास की। इस प्रकार

पढाई करते हुए पंडित जी मथुरा ही रहे। आगे उन्होंने लिखा है– ·

"पढ़ाई के बाद सन् 36 में जब अम्बाला शास्त्रार्थ संघ में उपदेशक विद्यालय खुलने की बात मेरे पिता के ध्यान में आई तब उन्होंने पुराने शास्त्रार्थ की बात याद कर मुझे आदेश दिया कि शास्त्रार्थ संघ में चले जाओ। बस, स्वीकृति आने पर मैं पहुंच गया। 15-5-36 के उद्घाटन पर उपदेशक विद्यालय का मैं तत्त्वोपदेशक विभाग का सबसे छोटी उम्र का और प्रथम छात्र था। उन दिनों पं० बलभद्र जी संघ के मैनेजर थे-हमारे आफीसर। फिर भी सादा, सरल। उन्होंने मुझे भाई सरीखा स्नेह दिया। आश्रम का छात्र होने के कारण संघ में मुझे ब्रह्मचारी का संबोधन मिला।"

शास्त्रार्थ संघ अम्बाला मे पहुँचकर उपदेशक के रूप में कार्य करते हुए व्यख्यान शास्त्रार्थ की शिक्षा पाई। इस संघ ने अपने व्यय से ही आपको वाराणसी भेज दिया था। यहाँ किराए का मकान लेकर रहे और ब्राह्मण विद्वानों से वेदों का अध्ययन किया और कलकत्ते से होने वाली 'वेदतीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण की। ये पूरा का पूरा अध्ययन शास्त्रार्थ में काम आता था। वहाँ की पढाई पूरी करने के बाद पुन· संघ मे आ गए। अम्बाला शास्त्रार्थ सघ की शाखा मथुरा से फिरोजपुर छावनी चले गए। यहाँ पर जैन हाई स्कूल में अध्यापक रहे और जैन जिज्ञासुओ को स्वाध्याय कराया; यहाँ 6-7 वर्ष रहे पुनः 1 वर्ष मथुरा रहकर जैन समाज में पढ़ाया। इसके बाद मुल्तान (पजाब) मे एक वर्ष ही रह पाये थे। दगे शुरू हो जाने के कारण सपरिवार घर बिल्सी आ गए। कुछ दिनो घर रहने के बाद दिगम्बर जैन स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी घाट, वाराणसी में 12-13 वर्ष व्यवस्थापक रहते हुए अध्यापन भी करते रहे।

डॉ० नेमीचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य उन दिनो वाराणसी आते-जाते रहते थे। उनके सद्परामर्श से पंडित जी ने यू० पी० बोर्ड का हाई स्कूल; वा० स० वि० वि० से जैनदर्शन शास्त्री और प्राकृत से एम० ए० की परीक्षाऍ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थीं। इनका इस प्रकार का शैक्षिक विकास के साथ जब स्वाभिमान को ठेस लगने के कारण उपस्थित हुए तो विद्यालय की सेवायें छोड़ दी। परिणामतः आर्थिक कठिनाइयो से भी उन्हें दो-चार होना पड़ा। परन्तु सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति, मितव्ययी कुशल गृहणी और आपकी पत्नी श्रीमती कमलेश जैन का साहस और हौंसला देखते ही बनता था। वे अपने परिवार के अलावा विद्यार्थियों के लिए भी अन्नपूर्णा माँ की भूमिका बराबर निभाती रही। ऐसे अवसरों पर पंडित फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री विद्वान् हों अथवा जैन विद्यार्थी सभी

की सहायता करने के लिए तत्पर रहते थे। उनके आशीर्वाद सदैव साथ रहे। बच्चों की शिक्षा बराबर जारी रही। मैं बच्चों में शरीक था। साथ ही रहता था। अतः कथन में मिलावट जैसी कोई बात नहीं है। सच्चाई, ईमानदारी, स्वाभिमान एवं सिद्धांत की रक्षा के लिए ऐसे कष्ट झेलने में मेरे मामा-मामी को अपूर्व आनन्द मिलता रहा है। इस प्रकार ये दोनों ही धन्य है।

सन् 1962 ई० मे देश की राजधानी दिल्ली आ गए। कुछ समय बाद मुनि विद्यानन्द जी के साथ रहे। उन्हीं के साथ-साथ पदयात्राएँ करते रहे। हिमालय भी साथ गए। 'हिमालय के दिगम्बर मुनि' शीर्षक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की अन्त तक माँग बनी रही। आपके पाण्डित्य की छाप इस पुस्तक में उजागर हुई है। तदुपरान्त वे 'वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली' अनेकान्त के सम्पादक के रूप में आ गए। वीर सेवा मन्दिर एव अनेकान्त के संस्थापक पंडित जुगलकिशोर जी मुख्तार और कमेटी ने संस्था के जो उद्देश्य निर्धारित किये थे, उन्हें पूरा करने में पंडित जी प्राणपण से जुट गए। बड़े पुत्र राजीव, छोटे प्रदीप कुमार, सबसे बड़ी पुत्री सुधा और मधु सबकी शिक्षा-दीक्षा विवाह सभी कार्य सपन्न हो गए। ये सभी सरकारी उपक्रमो में अच्छे पदो पर कार्यरत हो गए। सभी स्वावलम्बी पूर्णत· समर्थ है। सबकी सन्ताने हैं। सब अपने-अपने घर से जाकर माता-पिता की सेवा करना चाहते हैं। परन्तु वीर सेवा मन्दिर में रहते हुए पंडित जी संस्थान तथा जिनागम की सेवा में मनसा-वाचा कर्मणा सजग भाव से समर्पित हैं। उनकी त्याग एव निर्लोभ वृत्ति अनुगमनीय है। सस्थान के सदस्यो, पदाधिकारियों तथा समाज को इसका भरपूर लाभ मिल रहा है। सभी पडित जी की भावनाओ का आदर करते हैं। वे अब 92 वर्ष की अवस्था पूरी करते हुए भी कुन्द-कुन्दाचार्य के शास्त्रो को वाणी देते नज र आते हैं।

प० पद्मचन्द्र शास्त्री की इतनी लम्बी जीवन-यात्रा का विवरण भी एक पूरी पुस्तक चाहता है। यहाँ विस्तारभय से मैंने पूरे तथ्य देने में भी लेखनी को नियन्त्रण मे रखने का प्रयत्न किया है। लेकिन अनेकान्त के सदर्भ के साथ-साथ, वीर सेवा-मन्दिर से पडित जी के जुड़ाव पर डॉ० सुरेशचन्द्र जैन द्वारा प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण स्पष्टोक्ति को उद्धृत किये बिना 'जीवन-परिचय' की बात में अधूरापन रहना अवश्यम्भावी है। अन्ततः क्षमायाचनापूर्वक उसे जोड़ना मेरे लिए अपरिहार्य है। उन्होने अनेकान्त के एक लेख में अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं; मेरी दृष्टि में वे तथ्यात्मक ही नहीं, यथार्थ भी हैं। देखे:-

"उतार-चढ़ाव और आर्थिक एवं सामाजिक उदासीनता के चक्र में भी गौरव पूर्ण उद्देश्यों के प्रति समर्पित यह पत्रिका अपने अवदानो के लिए जैन इतिहास, सिद्धांत, साहित्य, समीक्षा, सामयिक कविता एवं मूलभाषा सम्बन्ध आलेखों का एक सशक्त जीवन्त दस्तावेज है, जिसे आ० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० परमानन्द शास्त्री, श्री भगवत स्वरूप भगवत् श्री अगरचन्द्र नाहटा, डॉ० दरबारी लाल कोठिया, श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, पं० हीरालाल सिद्धांत शास्त्री, पं० नाथूराम प्रेमी, पं० आदि मनीषी विद्वानों ने पल्लवित और पुष्पित किया ही है। श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ने तो विगत 30 वर्षों में अनेकान्त में प्राकृत विषयक जो सामग्री प्रस्तुत की है वह जैन साहित्येतिहास के लिए भविष्य मे मार्गदर्शक सिद्ध होगी।"

तात्पर्य यह है कि अनेकान्त में इतिहास-पुरातत्त्व के आलेखो के साथ ही मूल आगम ग्रन्थ सम्पादन तथा आगम भाषा विषयक सामग्री का भी प्रचुरमात्रा मे प्रकाशन हुआ है। वह भी इतिहास की सामग्री से भिन्न नही है। 2500वे निर्वाण महोत्सव के प्रसंग मे 'अनुत्तर योगी महावीर' कृति की समीक्षा करते हुए 'विष मिश्रित लड्डू' शीर्षक से परम्परागत मूल्यो की रक्षा का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार मूल आगम एवं भाषा विषयक प० पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत आलेख दिगम्बर आगमो के सुस्पष्ट निर्धारण के उन आयामो और मानदण्डों को स्थापित करते हुए मार्गदर्शन करते हैं, जिन पर समस्त दिगम्बर परम्परा और इतिहास की भावी भित्ति खडी होगी तथा अध्येता अनुसन्धित्सुओं को एक सुनिश्चित मार्ग निर्धारण करने को मार्ग प्रशस्त करेगा। विडम्बना यह है कि आज कतिपय विद्वत् वर्ग सत्यान्वेषी न होकर अर्थान्वेषी है और अर्थ की लोलुपता सत्य को खोजने में सबसे बड़ी बाधा है यदि ऐसा न होता तो वर्तमान के सभी मनीषी विद्वान् प्राकृत विषयक अवधारणा और मूलआगम संपादन-सशोधन विषयक पं० पद्मचन्द्र शास्त्री की धारणा से सहमत होते हुए भी उदासीन भाव से असहमत न होते। विद्वत्-समुदाय ने अनेकान्त के परम्परा पोषित सन्दर्भो में भी न्याय का आश्रय नहीं लिया यह भी विडम्बना और आश्चर्य का विषय है। परन्तु पण्डित पद्मचन्द्र शास्त्री ने अदम्य साहस के साथ एकला चलो रे की राह नहीं छोडी और समाज को ज रा सोचिए तथा परम्परित मूल्यों के प्रति अपने आलेखों के माध्यम से सचेत करते रहे।"

- प्रेमचन्द्र जैन

प्रकाशकीय

आचार्य पं. जुगल किशोर मुख्तार द्वारा संस्थापित एवं संवर्द्धित वीर सेवा मंदिर दरियागंज और यहाँ से प्रकाशित 'अनेकान्त' एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। इस संस्था ने 20वीं शताब्दी में अपने स्थापना काल के प्रारम्भ से ही आगम-रक्षा और उसके सवर्द्धन का व्रत ले रखा है। सौभाग्य से इस संस्था को पं. परमानन्द शास्त्री, अयोध्या प्रसाद गोयलीय, डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, प. नाथूराम प्रेमी जैसे प्रखर और ओजस्वी विद्वानों का अनन्य सहयोग मिला है। इस कड़ी में पं. पद्मचन्द्र शास्त्री विगत तीन दशकों से संस्था के स्थापित उद्देश्यों की पूर्ति में जिस निष्पक्षता और बेवाकी से समर्पित हैं, वह निश्चित ही अनुकरणीय है।

लेखन के 'अनेकान्त' में उन्होने अपनी लेखनी से कई प्रतिमान स्थापित किए है। यद्यपि समाज व विद्वज्जगत् इससे उद्वेलित भी हुआ है, परन्तु वे निष्कम्प और अड़िग रहे और हैं क्योंकि उनका मानना है कि आगम में न तो कोई मिलावट होनी चाहिए और न ही आगम विरूद्ध कोई आचरण। हॉं, निरपेक्ष दृष्टि से आगम का आदोलन-विलोडन कर 'जिनोक्त सूक्ष्म तत्त्वों' का निदर्शन करते रहने से दृष्टि-दोष दूर होते है।

कथनी-और-करनी में एकरूपता उनकी विशेषता है। सन्तोष और परिग्रह परिमाण व्रत के अघोषित पालक की आगम के आलोक मे उनके विशद लेखों को पुस्तकाकार रूप देने की इच्छा बहुत दिनों से थी। संयोग से श्री डॉ. प्रेमचन्द जैन आए और उन्होंने चिरसंचित इच्छा को सहर्ष स्वीकृति प्रदान करते हुए उसे मूर्त रूप दिया है अतः संस्था उनके इस सहयोग के प्रति आभार व्यक्त करती है।

आशा है जिज्ञासु हमारे इस प्रयास का भरपूर लाभ उठांएगे।

– सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मंदिर

अनुक्रम

1. अनादिमूल मन्त्रोऽयम्	17
2. स्वस्तिक रहस्य	26
3. जैन ध्वज : स्वरूप एवं परम्परा	36
4. अहिंसा के रूप	48
5. भगवान पार्श्व के पच महाव्रत	63
6. सिद्धा ण जीवा–धवला	77
7. भरत क्षेत्र के "सीमंधर" दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द	110
8. दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है?	114
9. क्या आगम का आधार किंवदन्ती हो सकती है?	119
10. 'अनुत्तरयोगी–तीर्थंकर महावीर'	123
11/1. 'विष–मिश्रित लड्डू'	131
(अनुत्तरयोगी–तीर्थंकर महावीर-कृति)	
11/2. हे जिनवाणी भारती	138
• दिगम्बर-परम्परा में स्त्री-मुक्ति-निषेध	
• करवां लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे	
• संस्मरणों के आधार पर	
12. आगम के मूल रूपो में फेर-बदल घातक है	155
13. क्या कुन्द-कुन्द भारती (भाषा) बदलेगी?	162
14. कैन्सर में तब्दील होती शौरसेनी की गॉठ	168
15. भाषा-बदलाव का क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा?	174

16. आगमों के सम्पादन की 'घोषित विधि' सर्वथा बाधक है 181
17. आर्ष भाषा को खण्डित न किया जाय 189
18. आगम के प्रति विसंगतियाँ 194
19. आचार्य कुन्द-कुन्द की प्राकृत 232
20. प्राकृत भाषा 238
21. समयसार या समयपाहुड? 244
22. मनमानी व्याख्याओं का रहस्य क्या है? 248
23. आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है 259
24. परिग्रह : मूर्च्छाभाव 269
25. परिग्रह-मोह ने पंचव्रतों के नाम बदलाए 277
26. दो पर्यायवाची जैसे शब्द (परिग्रह और कर्म) 282
27. परिग्रह के दलदल में फसा अपरिग्रही धर्म 289
28. श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा 297
29. श्रावक और रत्नत्रय धर्म 305
30. पयुर्षण और दशलक्षण धर्म 312
31.1. दिल की बात दिल से कही 319
2. दिल की बात दिल से कही—और रो लिए
32. सिद्ध शिला 330
33. हिमालय के मुनि की सल्लेखना 332

अनादि मूलमंत्रोऽयम्।

जैन ससार में णमोकार मंत्र का प्रचलन समानरूप से है। सभी इसे 'सव्वपावपणासणो' और 'पढम हवइ मगल' रूप में मानते, पढ़ते और स्मरण करते हैं। मान्यता ऐसी है कि प्रसिद्ध यह मंत्र अनादिमूल और अपराजित है–**'अनादिमूलमंत्रोऽयम्', 'अपराजितमंत्रोऽयम्'** इत्यादि।

जहां तक मत्र के अनादित्व की बात है–सिद्धान्तरूप में 'नैगमनय' की अपेक्षा अर्थात्–'जो सत् है उसका नाश नही' की रीति मे, णमोकार को अनादि माना जायगा–हर चीज के मूल को अनादि माना जायगा। यत –

'सत्तामेत्तग्गाही, जेणाऽऽइम-नैगमो तओ तस्स।
उप्पजइ नाभूयं, भूयं न य नासए वत्थु।।'

नैगमनय सत्तामात्रग्राही, होता है। इसकी अपेक्षा वस्तु सर्वदा सत्स्वरूप ही होती है–चाहे वह किसी भी पर्याय मे क्यो न हो। एतावता मंत्र और मनन के पात्र परमेष्ठी दोनो ही अनादि सिद्ध होते है। यत·–जैनमान्यतानुसार आत्मा ही परमात्मा–सिद्ध स्वरूप है। और आत्मा के विकासक्रम मे साधु, उपाध्याय, आचार्य और अरहत भी आत्मा-परमात्मा की भाति अनादि है। ये क्रम प्रवाह रूप से कही न कही, किसी न किसी रूप मे सदा वर्तमान रहते है।

जैन मान्यतानुसार पाचो परमेष्ठी अनादि काल से होते रहते है, और अनन्तकाल तक इनके होते रहने मे कोई सन्देह नही। तीर्थकर क्रम मे भूतकाल मे अनत चौबीसी हुई हैं और भविष्यकाल में अनत होती रहेगी।

विदेह क्षेत्र में इनकी सत्ता सर्वकाल विद्यमान है ही। जो अरहत अवस्था को प्राप्त हुए वे सिद्ध हुए, जो अरहत अवस्था को प्राप्त होंगे वे सिद्ध होगे इसमें भी सन्देह नहीं। अभ्यास दशा की श्रेणी में विद्यमान (भूत-वर्तमान-भविष्यत्काल सम्बन्धी) आचार्य, उपाध्याय और साधु भी अनादि-अनंत (सत्ता की अपेक्षा) रहे हैं और रहेंगे। और जब-जब ये है तब-तब इनको नमन भी है। अतः इनके नमनभूत 'णमोकार' भी (सत्ता की अपेक्षा) अनादि है। इसीलिए कहा है–

'स नमस्कारो, नित्य एव, वस्तुत्वात् नभोवत्। नोत्पद्यते नापि विनश्यतीत्यर्थः।'–

वह नमस्कार नित्य–सदाकाल है, वस्तु होने से। जो-जो वस्तु है वह (द्रव्य की अपेक्षा) नित्य है, जैसे आकाश द्रव्य की अपेक्षा आकाश न कभी उत्पन्न है और न कभी विनाश को प्राप्त है। हाँ, पर्यायों के परिवर्तनरूप से उसे अनित्य–घटाकाश, मठाकाश इत्यादि कहा जाता है। जो आकाश अभी समयपूर्व घटाकाश कहलाता था, वही घट के नष्ट होने पर (मठ मे स्थित होने से) मठाकाश कहलाया। पर, अस्तित्व की अपेक्षा से 'नासतो विद्यतेऽभावोनाऽभावो विद्यते सतः।'–'जो सत् है उसका नाश नहीं, न ही असत् कभी पैदा होता।'–ऐसा नियम है। इसी परिधि की अपेक्षा णमोकार को अनादि माना गया है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि–माना, णमोकार मत्र के सभी पात्र और उनके लिए नमन, व्यक्तिशः–एक एक की पृथक्-पृथक् सत्ता आदि की अपेक्षा अनादि हैं, पर यह निश्चय कैसे किया जाय कि णमोकार की शृंखला में अरहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और सर्वसाधु को ही निश्चित स्थान (भी) अनादि है? यदि इन्हीं का स्थान निश्चित है तो इस मत्र के विभिन्न रूप देखने में क्यो आते हैं? और यदि वे रूप सत्य हैं तो ऐसा मानना पड़ेगा कि–विविधता होने के कारण णमोकार मंत्र अनादि नही है।

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमे (नामों की अपेक्षा) णमोकार मंत्र के सभी रूपों पर दृष्टिपात करना होगा। तथाहि–

प्रथमरूप–

'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, **णमो लोए सव्वसाहूणं।।'**

—षट्खंडागम

द्वितीयरूप–

'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाण, **णमो सव्वसाहूणं।।'**
'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति क्वचित् पाठः।'

—श्री भगवती सूत्र (मगलाचरण) निर्णय सा॰ सं॰ 1974

अभिधान राजेन्द्र (आगम कोष) के उल्लेख के अनुसार–भगवती का उद्धरण इस प्रकार है जो मत्र के तृतीय रूप को इंगित करता है– तथाहि–

तृतीयरूप–

"यतो भगवत्यादावेवं पचपदान्युक्तानि–
नमो अरिहताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं, **णमो बंभीए लिवीए'** इत्यादि।
क्वचिद् नमो लोए सव्वसाहूणं इति पाठ इति।"

—अभिधान राजेन्द्र भाग 4, पृ॰ 1837

उक्त तीनो रूपो में मत्र के अन्तिम पद की विभिन्नता विचारणीय है। हमें तीनो ही रूपों को मान्य करने में आनाकानी करने की गुंजाइश नहीं है। यत –षट्खंडागम कर्ता–श्री पुष्पदन्ताचार्य व भगवतीसूत्र कर्ता श्री सुधर्मा स्वामी जी सभी हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, फिर भी मंत्र गठन के निर्णय की दिशा मे कुछ मार्ग निकालना होगा। फलतः–

जब हम इस ऊहापोह को आगे बढ़ाते हैं तब देखते हैं कि मंत्र के माहात्म्यरूप में पढ़े गये 'एसो पंच णमोक्का (या) रो, सव्वपावपणासणो। मंगलाणं च सव्वेसि, पढमं हवइ मंगलं।' के हमें पाँच रूप [के] प्रयोग मिलते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि–खट्खंडागम तथा अन्य आगमों में

वर्णित णमोकार का रूप स्थायी है और 'णमोबभीए लिवीए' व णमोसव्वसाहूण' जैसे रूप अस्थायी और अधूरे व प्रक्षिप्त हैं।

यदि 'णमो बभीए लिवीए' रूप को अनादि माना जायगा तो प्रत्यक्ष बाधा उपस्थित होगी कि ब्राह्मी लिपि तो तीर्थकर ऋषभदेव की पुत्री के काल से है, फिर अनादि मत्र के साथ इसका सम्बन्ध कैसे? यदि सम्बन्ध मानते हैं तो मत्र अनादि नहीं ठहरता। जैसा कि कहा जा रहा है–'अनादि मूलमत्रोऽयम्।' फिर–

यदि णमोकार मंत्र मे 'णमो बभीए' का समावेश होता, तो मत्र माहात्म्य के रूपो मे एक 'छठवां, रूप ऐसा भी मिलना चाहिए था जो 'वभी लिवी' को भी इगित करता। परन्तु ऐसा मिलता नही है। माहात्म्य पाठ मे जो भिन्न-भिन्न पाच प्रयोग मिलते है, वे निम्न भॉति हैं–

प्रथमरूप– अरहत नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो।
मंगलाण च सव्वेसि, **पढमं** हवइ मगल।।'

द्वितीयरूप–' **'सिद्धाण** नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, **बीयं** हवइ मगल।।'

तृतीयरूप– **'आयरिय** नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो।
मगलाण च सव्वेसि, **तइयं** हवइ मंगल।।'

चतुर्थरूप– **'उवझाय** णमोक्कारो, सव्वपावपणासणो।
मगलाण च सव्वेसिं, **चउट्ठं** हवइ मगल।।'

पंचमरूप– **'साहूण** नमोक्कारो, सव्वपावपणासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं, **पंचमं** हवइ मगल।।'

उक्त प्रसग से यह स्पष्ट होता है कि भगवती जी के पाठ को प्रचलित मूलमत्र के सन्दर्भ मे नही जोडा जा सकता।

इसके सिवाय एक कारण और भी है और वह है–'नवकार मंत्र के उच्चारण के विधान का प्रसग'। एक स्थान पर कहा गया है कि–

'वणऽट्ठसट्ठि नवपएं, नवकारे अट्ठसपया तत्थ।
सगसपयपयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया।।229।।

—सप्रति भाष्यगाथा व्याख्यायते—वर्णा अक्षराणि अप्टषष्टि, नमस्कारे पचपरमेष्ठिमहामंत्ररूपे भवन्तीतिशेष·।

उक्त च— 'पचपयाण पणती—सवण चूलाइवण तित्तीस।
एव इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए।।'
'सत्तपण सत्त सत्त य, नव अट्ठ य अट्ठ अट्ठ नव हुति।
इय पय अक्खसखा, असहू पूरेइ अडसट्ठी।।'
—अभि॰ रा॰ भाग 4, पृ॰1836

उक्त पाठ प्रामाणिक स्थलो से उद्धृत है और इनमे कहा गया है कि मत्र की पूर्णता 68 अक्षर प्रमाण मंत्र के पढ़ने पर होती है। अत· मत्र को 68 अक्षरो मे पढना चाहिए। अर्थात् पूरा पाठ इस भांति 68 अक्षरो का वोलना चाहिए—

'ण मो अ रि ह ता णं, ण मो सि द्धा ण ण मो आइरियाणं।
ण मो उ व ज्झा या ण, ण मो लो ए स व्व सा हू ण।।
ए सो प च न मो क्क (या) रो, स व्व पा व प णा स णो।
म ग ला ण च स व्वे सि, प ढ म ह व इ म ग लं।।'

यदि उक्त पदो के स्थान मे अधूरारूप—'णमो सव्व साहूणं' बोला जाता है, तो 'लोए' ये दो अक्षर कम हो जाते है और यदि 'णमो बभीए लिवीए' बोला जाता है तो एक अक्षर कम हो जाता है। दोनो ही भाति मत्र वैसा युक्तिसगत नही बैठता जैसा कि इष्ट है। अत—

निष्कर्ष निकलता है कि—अभि॰ राजेन्द्र कोष की पक्तिया इस दिशा मे स्पप्ट है—

'आयरिय हरिभद्देण ज तत्थायरिसेदिट्ठ, त सव्वं समतीए सोहिऊण लिहिअ ति अन्नेहि पि सिद्धसेण दिवायर बुड्ढवाइजक्खसेण देवगुत्त जसवद्धण खमासमणसीस रविगुत्त नेमिचदजिणदासगणि खवगसच्चसिरिपमुहेहिं जुगप्पहाण सपहरेहि वहुमन्नियमिण ति (महा॰ 3 अ॰) अन्यत्र तु संप्रति वर्तमानाऽऽगम·, तत्र मध्ये न कुत्राप्येव नवपदाष्ट-सप्तदादि प्रमाणो नवकारउक्तो दृश्यते। ततो भगवत्यादादावेव पचपदान्युक्तानि—'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाण,

नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो बभीए लिवीए' इत्यादि।'

—(अभि. रा. भाग 4, पृ. 1837)

इसका अर्थ विचारने पर यही सिद्ध होता है कि सभी आचार्य–हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, जसवर्धन, क्षमाश्रमणशिष्य रविगुप्त, नेमिचन्द, जिनदासगणि आदि 68 अक्षरों वाले पाठ को युक्तिसंगत मानते हैं और वही षट्खंडागम के पाठ तथा अन्य आगमों के पाठों से (पंचपद व पैंतीस अक्षर की मान्यता से भी) ठीक बैठता है और मंत्र की एकरूपता को भी सिद्ध करता है। जब कि श्री भगवती जी का पाठ उक्त श्रेणी में अनुकूल नहीं बैठता।

भाषा और लिपि जो भी हो (दोनों ही परिवर्तनशील हैं) पर, मंत्रगठन और पात्रो की दृष्टि से मत्र के युक्ति-संगत-अनादित्व को सिद्ध करने वाला रूप–प्रथमरूप ही है; जो पचपरमेष्ठी गर्भित रूप है। 'बभीए लिवीए' मूलमंत्र का अग नही है। हाँ, यदि इस पद को मत्र मानना इष्ट हो तो अन्य बहुत से मंत्रों की भांति आठ अक्षरों वाला एक पृथक् मंत्र स्वीकार किया जा सकता है।

एक बात और, भगवती जी मे (जैसा कि पहिले मंत्र के द्वितीय रूप मे बतलाया जा चुका है) मंत्र के अतिम पद में 'लोए' पद के न होने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि वहां मत्र मे गर्भित 'सव्व' पद के न होने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि वहा मत्र मे गर्भित 'सव्व' पद के प्रयोजन को तो सिद्ध किया गया है, जो कि अन्य चार पदो की अपेक्षा विशेष है। पर, लोए का प्रयोजन नहीं बतलाया गया। यदि वहा 'लोए' शब्द होता तो सूत्रकार उसका भी प्रयोजन बतलाते। क्योंकि 'लोए' भी 'सव्व' की भाँति–अन्य पदो से विशेष है। तथाहि–

'यहाँ पर 'सव्वसाहूण' पाठ मे 'सव्व' शब्द का प्रयोग करने से सामायिक विशेष, अप्रमत्तादिक, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, यथा-लिगादि कल्पिक, प्रत्येक बुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधित प्रमुख गुणवंत साधुओ को भी ग्रहण किये हैं।' —विवाहपण्णत्ति (भगवती) पृ. 2, अमो. ऋ.

हा, 'क्वचित् नमो लोए सव्वसाहूणं इति पाठः'—संदर्भ में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि—'लोए' का ग्रहण, गच्छ-गण आदि मात्र का ही

ग्रहण न माना जाय, अपितु समस्त साधुओं का ग्रहण किया जाय—इस भाव में किया गया है। इसमें 'क्वचित्' का अर्थ भगवती से अन्यत्र स्थलो में ही लिया जायगा—भगवती में नहीं।

एक स्थान पर 'बंभीलिवी' का अर्थ ऋषभदेव किया गया है। अनुमान होता है कि ऐसा अर्थ किसी प्रयोजन खास की पूर्ति के लिए किया गया होगा। अन्यथा, लिपि तो, लिपि ही है उसे ऋषभदेव के अर्थ में कैसे भी नही लिया जा सकता है। 'लिपि' मूर्ति-मात्र है और उसे नमन करना मूर्तिपूजा का द्योतक होता है--शायद, इसी दोष के निवारण के लिए किन्हीं से ऐसा अर्थ किया गया हो अस्तु, जो भी हो स्थल इस प्रकार है—

'यहाँ पर सूत्रकार ने अक्षर स्थापनारूप लिपि को नमस्कार नहीं करते हुए लिपि बताने वाले ऋषभदेव स्वामी को नमस्कार किया है और भी वीरनिर्वाण पीछे 980 वर्ष में पुस्तकारूढ़ ज्ञान हुआ, इससे लिपि को नमस्कार करना नही संभव लगता है।' —विवाह पण्णत्ति (वही) पृ. 3 टिप्पण अमो. ऋ.

उक्त प्रसग से यह तो स्पष्ट है कि षट्खंडागम एवं आगम परम्परा मे सभी जगह (भगवती के अतिरिक्त) णमोकार मत्र की एकरूपता अक्षुण्ण रही है— उसके रूप में कहीं पाठभेद मेल नहीं खाता। सम्भव है— विद्वानों ने उस पर विचार किया हो या 'णमो बंभीए-लिवीए' पद मानते हुए और मूलमंत्र में 'लोए' पद न मानते हुए भी मूलमंत्र की अनादि एकरूपता पर अपनी सहमति प्रकट की हो।

स्मरण रहे कि उक्त सभी प्रसंग णमोकार मंत्र के 'अनादित्व' की दिशा में प्रस्तुत किया गया है। स्वतत्ररूप से जैन-आगमों में वर्णित सभी मत्रों का हम सम्मान करते है, चाहे वे (वीतराग मार्ग में) किसी रीति से— किन्हीं शब्दो और गठनों मे बद्ध क्यो न किये गये हों। ब्राह्मी लिपि अनादि नहीं है इस सम्बन्ध मे निम्न प्रसंग ही पर्याप्त है—

'लेह लिवीविहाण, जिणेण **बंभीएदाहिणकरेण**।।

—गा. नि. व. 47

'लेखन लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वाल्लिपि-विधानं तच्च जिनेन भगवता ऋषभस्वामिना **ब्राह्म्या दक्षिण करेण प्रदर्शित**मतएव तदादित आरभ्य वाच्यते।।' —अभि. राजे. दिं. पृ. 1126

लिपिः पुस्तकाऽऽदौ अक्षरविन्यास. सा अष्टादशप्रकारापि श्रीमन्नाभेयकजिनेन स्वसुताया **ब्राह्मी नामिकायादर्शिता,** ततो ब्राह्मीनाम इत्यभिधीयते।।' —अभि॰ राजे॰ पचम पृ॰ 1284

'अष्टादशलिपि **ब्राह्म्या अपसव्येन पाणिना।'**

त्रे श. पु. च. 1।2। 963

उक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ जो उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से ससार मे किया फिर ऋषभदेव युग की आदि में हुए उन्हे भी अनादि नही माना जा सकता। एतावता यह टिप्पण भी मत्र के अनादित्व की दिशा मे निर्मूल बैठता है कि ब्राह्मी का अर्थ ऋषभदेव किया जाय। क्योकि मत्र के अनादित्व में ऋषभ अर्थ का विधान भी (ऋषभ के सादित्व के कारण) वर्ज्य है। यदि मत्र अनादि है तो उसमे ऋषभ (व्यक्ति) को नमस्कार नही, और यदि ऋषभ को नमस्कार है तो मत्र अनादि नही। अत निष्कर्ष निकलता है कि—मूलमत्र-परमेष्ठी नमस्कारात्मक रूप है और वही अनादि है—जैसा कि **षट्खंडागम तथा अन्य आगमों** मे कहा गया है—

णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वासाहूण।। —षट्खडागम—मगलाचरणम्

'धवला' मे पच-परमेष्ठियों का स्वरूप इस भाति वर्णन किया गया है—

1. **अरिहंत** (अरहत)—जिन्होने नरक तिर्यच, कुमानुष और प्रेत **इन** पर्यायो मे निवास करने से होने वाले समस्त दु खो के मूल कारण मोह और तदाधीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय चार कर्मरूपी शत्रुओ—कर्मरूपी रज को नष्ट किया है वे अरिहत होते है। देव, असुर और मनुष्यो के द्वारा सातिशय पूज्य होने से इन्हे अर्हन् भी कहा जाता है। और भी—

'णिद्दद्ध-मोह-तरुणो विथ्थिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा, बहु-बाह विणिग्गया अयला।।23।।
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा, सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो।।24।।

तिरयण-तिसूलधारिय, मोहंधासुर-कवंध-बिंद-हरा।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता' ।।25।।

2. सिद्ध—जो पूर्णत अपने स्वरूप मे स्थित है, कृत्यकृत्य है, जिन्होने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके है, उन्हे सिद्ध कहते हैं। (अरहंतावस्था केवलज्ञानी की सकल—सशरीरी अवस्था है और सिद्ध अशरीरी—आत्ममात्र निराकार होते हैं और लोकाग्र—उर्ध्वभाग मे विराजमान होते है)—

'णिहय विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा बिहुव-दुक्खा।
सुह-सायर-मज्झ गया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा' ।।26।।

3. आचार्य—जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों को स्वय आचरण करते है और दूसरे साधुओ से आचरण कराते है, उन्हे आचार्य कहते हैं।

'संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ महिय-कित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो।।'31।।

4. उपाध्याय—जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र मे प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग मे स्थित हैं : तथा मोक्ष मार्ग के इच्छुक शीलधरो मुनियो को उपदेश देते है, उन मुनीश्वरो को उपाध्याय कहते है—

'चोद्दस-पुव्व-महोयहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो।।'32।।

सर्वसाधु—जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते है जो पॉच महाव्रतो को धारण करते है, तीनो गुप्तियो से सुरक्षित है, अठारह हजार शील के भेदो को धारण करते है और चौरासी लाख उत्तर गुणो का पालन करते है वे साधु परमेष्ठी होते है।—

सीह-गय-बसह-मिय-पसु-मारुदसूरुवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदी-उरगंवर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू।। 33।।

❑

स्वस्तिक रहस्य

आस्तिक भारतीयों में, चाहे वे वैदिक मतावलम्बी हों या सनातन-जैन मतावलम्बी, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी की मांगलिक क्रियाओं में (जैसे विवाह आदि षोडश संस्कार, चूल्हा-चक्की स्थापना, दुकानदारो के खाता-बही, तराजू-बाट के मुहूर्त में) तीन परिपाटियां मुख्य रूप से देखने को मिलती हैं। कुछ लोग 'ॐ' लिख कर कार्य प्रारम्भ करते है और कुछ स्वस्तिक अकित कर कार्य का श्रीगणेश करते है। इसके सिवाय कुछ लोग ऐसे भी है, जो दोमों को प्रयोग में लाते हैं। वे 'ॐ' भी लिखते है और स्वस्तिक भी अंकित करते हैं। ग्रामीण अनपढ स्त्रिया भी इन विधियो को सादर अपनाती हैं। जैनियों के आगमो मे 'ॐ' और 'स्वस्तिक' को प्रमुख स्थान दिया गया है। वेदो मे भी ॐकार को 'प्रणव' माना गया है, और प्रत्येक वेद मन्त्र का उच्चारण ॐकार से प्रारम्भ होता है। 'स्वस्ति' शब्द भी वेदो में अनेक बार आता है जैसे–'स्वस्ति न इन्द्र' इत्यादि। जब एक ओर भारत मे इनका इतना प्रचार है, तब दूसरी ओर जर्मन देश भी 'स्वस्तिक' से वंचित नही है। वहा स्वस्तिक चिह्न को राजकीय सम्मान मिला हुआ है। गहराई से खोज की जाय तो अग्रेजो के क्रास चिन्ह मे भी 'स्वस्तिक' की मूल झलक मिल सकती है। सम्भावना हो सकती है कि ईसा की फॉसी के बाद चिन्ह का नामान्तर या भावान्तर कर दिया गया हो।

'ॐ' के सम्बन्ध मे विविध मतावलम्बी विविध-विविध विचार प्रस्तुत करते हैं और विचार प्रसिद्ध भी है यथा–'ॐ' परमात्मा वाचक है, 'मगल स्वरूप है' इत्यादि। जैनियों की दृष्टि से 'ॐ' पंचपरमेष्ठी वाचक एक लघु संकेत है इसे पंचपरमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस प्रकार जिन शासन

मे णमोकार मन्त्र की अपार महिमा है। प्रत्येक जैन, चाहे वह किसी पन्थ का हो, हिमालय से कन्याकुमारी तक इस मन्त्र को एक स्वर से पढ़ता है। मन्त्र इस प्रकार है–

'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।।'

अरहन्तों को नमस्कार, सिद्धो को नमस्कार, आचार्यो को नमस्कार और लोक मे सर्व साधुओं (श्रमण जैन) मुनियों को नमस्कार।

ॐ में परमेष्ठी

यदि उक्त मन्त्र को सर्वगुण सम्पन्न रखते हुए, एकाक्षर में उच्चारण करना हो तो 'ॐ' मात्र कह देने से निर्वाह हो जाता है, क्योंकि 'ॐ' को शास्त्रों में बीजाक्षर माना गया है। जिस प्रकार छोटे से बीज में वृक्षरूप होने की सामर्थ्य है, उसी प्रकार 'ॐ' में पूरे णमोकार मन्त्र की सामर्थ्य है, क्योकि 'ॐ' में पांचो परमेष्ठी गर्भित है। तथाहि–

"अरहता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणों पढमक्खर णिप्पण्णो ॐकारो पचपरमेट्ठ ही।।"

अरहन्त, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि, इन पाचों परमेष्ठियो के प्रथम अक्षर से सम्पन्न 'ॐ' है, और यह 'ॐ' परमेष्ठी वाचक है। तथाहि–

अरहन्त, का अ, अशरीर (सिद्ध) का अ, आचार्य का आ उपाध्याय का उ, और मुनि का म्।

अ + अ = आ (अक· सवर्णे दीर्घः) +
आ + आ = आ („ „ „) +
आ + उ = ओ (आद्‌गुण)
ओ + म् = ओम् = अनुस्वारयुक्त रूप = ॐ

पच परमेष्ठियों के आद्यक्षरों से निष्पन्न 'ॐ' की महिमा इस प्रकार निर्दिष्ट है–

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः।।

बिन्दु सहित ॐकार का योगीजन नित्य ध्यान करते हैं। यह ॐकार इच्छित पदार्थ-दाता और मोक्षप्रदाता है। उस ॐकार को नमस्कार हो।

उपनिपद्कार के शव्दो मे–ॐकारे परमात्मप्रतीके दृढ़मैकाग्र्यलक्षणा मति सन्तनुयात्-छांदोग्योपनिपद् शॉकर भाप्य।' 1,1। इसे 'प्रणव' नाम से भी सम्वोधित किया जाता है, क्योकि यह कभी भी जीर्ण नही होता। इसमे प्रतिक्षण नवीनता का सचार होता है और यह प्राणों को पवित्र और सतुष्ट करता है। 'प्राणान् सर्वान् परमात्मनिप्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः।'

ऊपर कहे गये णमोकार मन्त्र की मगलरूपता मन्त्र के साथ पढे जाने वाले माहात्म्य से निर्विवाद सिद्ध होती है। आगमो मे अन्य अनेको मन्त्रो को भी मगलरूपता प्राप्त है, पर मुख्यत· दो ही प्रसग ऐसे आते है, जिनमे मगल शव्द का स्पप्टत उल्लेख है–'णमोकार मन्त्र' और 'मगलोत्तमशरणपाठ।' णमोकार मन्त्र के सम्वन्ध मे कहा गया है–

'एसो पच णमोयारो सव्वपावपणासणो।
मगलाण च सव्वेसि पढम हवइ मगल।।'

यह पच नमस्कार सर्व पापो को नाश करने वाला और सर्व मगलों मे प्रथम मगल है।

उक्त विवरण के प्रकाश मे, मगल कार्यो मे 'ॐ' का प्रयोग किया जाना स्पप्टत· परिलक्षित होता है, जो उचित ही है। पर 'स्वस्तिक' के सम्वन्ध मे अभी तक निर्णय नही हो पाया है। कोई इसे चतुर्गति भ्रमण और मुक्ति का प्रतीक मानता चला आ रहा है तो कोई ब्राह्मी लिपि के 'ऋ' वर्ण के समाकार मानकर इसे ऋपभदेव का प्रतीक सिद्ध करने के प्रयत्न मे है। मत ऐसा भी है कि यह 'सस्थापक' के भाव मे है। तात्पर्य यह कि अभी कोई निष्कर्ष नही मिल रहा है। अत उसकी वास्तविकता पर विचार करना श्रेयस्कर है।

स्वस्ति, स्वस्तिक या सांथिया

'स्वस्तिक' सस्कृत भापा का अव्ययपद है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इसे वैयाकरण कोमुदी मे 54वे क्रम पर अव्यय पदो मे गिनाया गया है। यह 'स्वस्तिक' पद 'सु' उपसर्ग तथा 'अस्ति' अव्यय (क्रम 71)

के सयोग से बना है, यथा–सु + अस्ति = स्वस्ति। इसमें 'इकोयणचि' सूत्र से उकार के स्थान में वकार हुआ है।

बहुत से लोग 'अस्ति' को क्रियापद मान कर उसका 'है' या 'हो' अर्थ करते है, जो उचित नही है, क्योकि यहा 'अस्ति' पद क्रियारूप मे नहीं है, अपितु 'तिडन्त प्रतिरूपक अव्यय' है। जैसे कि 'अस्तिक्षीरा' मे तिडन्त प्रतिरूपक अव्यय' है। वैसे 'स्वस्ति' मे भी 'अस्ति' को अव्यय माना गया है, और 'स्वस्ति' अव्यय पद का अर्थ कल्याण, मगल, शुभ आदि के रूप में किया गया है। प्रकृत मे उच्चरित 'स्वस्तिक' शब्द भी इसी 'स्वस्ति' का वाचक है। जब 'स्वस्तिक' अव्यय से स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय हो जाता है, तब यही 'स्वस्ति' प्रकृत मे 'स्वस्तिक' नाम पा जाता है। परन्तु अर्थ मे कोई भेद नही होता। 'स्वस्ति एवं स्वस्तिक' की इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो 'स्वस्ति' है वही 'स्वस्तिक' है और जो 'स्वस्तिक' है वही 'स्वस्ति' है। उक्त प्रसग से ऐसा फलित हुआ कि सभी 'स्वस्ति' स्वस्तिक है और सभी 'स्वस्तिक' 'स्वस्ति' है, अर्थात् 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' मे कोई भेद नहीं है। यत.–'स्वस्ति एव स्वस्तिक'।

प्राकृत भापा मे 'स्वस्ति' या 'स्वस्तिक' के विभिन्न रूप मिलते है। जिन रूपो का प्रयोग मगल, क्षेम, कल्याण जैसे प्रशस्त अर्थो मे किया गया है, उनमे कुछ इस प्रकार है–

1 सत्थि (स्वस्ति) 'सत्थि करेई कविलो'। –पउमचरिउ, 35 ।62,
2. सत्थि (स्वस्ति क्षेम, कल्याण, मगल, पुण्य आदि), हे० 2 ।45, स० 21।
3 सत्थिअ (स्वस्तिक) प्रश्न व्याकरण, पृ० 68, सुपासनाह चरिउ 52, श्रा० प्र० सू० 27।
4. सत्थिक, ग (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पचासक प्रकरण 4 ।23।
5 सोत्थय (स्वस्तिक) पाइय सद्द महण्णव कोष, पंचासक प्रकरण।
6. सोवत्थिअ (स्वस्तिक) उववाई सूत्र, ज्ञातृ धर्मकथा, पृष्ठ 54।

उक्त सभी शब्द-रूपो में मगलभावध्वनित है। अत· यह निश्चय ही

हो जाता है कि 'स्वस्ति' और 'स्वस्तिक' का प्रयोग भी 'ॐ' की भाँति मंगल निमित्त होना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि जैसे 'ॐ' को पंच परमेष्ठी का प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वैसे स्वस्तिक को किसका प्रतिनिधित्व प्राप्त है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि–

जब यह निश्चय हो चुका कि 'स्वस्तिक' निर्माण में मंगल कामना निहित है, तो यह भी आवश्यक है कि इसमें भी 'ॐ' की भांति कोई मंगल निहित होना चाहिए। इसकी खोज के लिए जब हम णमोकार मन्त्र से आगे चलते हैं, तब हमे उसी पाठ मे परम्परागत चतुःशरण पाठ मिलता है और इस पाठ को स्पष्ट रूप से मंगल घोषित किया गया है, यथा– 'चत्तारिमंगलं' इत्यादि। इस पाठ को आज सभी जैन आबालवृद्ध पढ़ते हैं। पूरा पाठ इस भांति है–

'चत्तारि मगलं'। अरहता मंगलं। सिद्धा मंगलं, साहू मंगल, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा। अरहंता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारिसरण पवज्जामि। अरहंते सरण पवज्जामि। सिद्धे सरण पवज्जामि। साहूसरण पवज्जामि। केवलि पण्णत्तं धम्म सरणं पवज्जामि।

उक्त पूरा पाठ 'मगलोत्तमशरण' या 'चतुःशरण' पाठ के नाम से प्रसिद्ध हैं और णमोकर मन्त्र के क्रम से उसी के बाद बोला जाता है। यह मगल अर्थात् 'स्वस्ति पाठ' णमोकार मन्त्र की भाति प्राचीनतम प्राकृत भाषा में निबद्ध और मगल शब्द के निर्देश से युक्त है। अन्य स्थलो पर हमें बहुत से अन्य मंगल भी मिलते हैं। पर वे न प्रतिदिन नियमित रूप से सर्व साधारण मे पढ़े जाते हैं और न ही मूल मन्त्र–णमोकारगत पच परमेष्ठियों का बोध कराते हैं। अत· 'मंगल' में चत्तारि-पाठ की प्रमुखता णमोकार मन्त्र की भांति सहज सिद्ध हो जाती है।

स्थानकवासी संप्रदाय में 'चत्तारिमंगल' पाठ 'मंगली' के नाम से ही प्रसिद्ध है। यतः जब कोई श्रावक मंगल कामना में साधु-साध्वियों से प्रार्थना करता है कि महाराज! 'मंगली' सुना दीजिए, तो वे सहर्ष 'चत्तारिपाठ'

द्वारा उसे आशीर्वाद देते हैं। इस मंगल पाठ का भाषान्तर (हिन्दी रूप) भी बहुत बहुलता से प्रचारित है, यथा–

'अरिहंत जय जय, सिद्ध प्रभु जय जय।
साधु जीवन जय जय, जिन धर्म जय जय।।
अरिहंत मंगलं, सिद्ध प्रभु मंगल।
साधु जीवन मंगलं, जिन धर्म मंगल।।
अरिहंत उत्तमा, सिद्ध प्रभु उत्तमा।
साधु जीवन उत्तमा, जिन धर्म उत्तमा।।
अरिहंत शरणा, सिद्ध प्रभु शरणा।
साधु जीवन शरणा, जिन धर्म शरणा।।
ये ही चार शरणा, दुख दूर हरना।
शिव सुख करना, भवि जीव तरणा।।

इस सर्व प्रसग का तात्पर्य ऐसा निकला कि उक्त मूल-पाठ जो प्राकृत में है और 'चतु· मंगल' रूप मे है, वह मगल, कल्याण, शान्ति और सुख के लिए पढ़ा जाता है तथा 'स्वस्ति का स्वस्तिक' (मगल कामना) से सम्बन्धित है।

'दिगम्बर आम्नाय' मे पूजा को श्रावक के दैनिक षट्कर्मो मे प्रथम गिनाया गया है। वहाँ प्रथम ही देवशास्त्रगुरु की पूजा की जाती है और पूजा का प्रारम्भ दोनों (णमोकारमंत्र और चतु:शरण पाठ) और उनके माहात्म्य से होता है। जैसे णमोकार मन्त्र वाचन का प्रथम क्रम है, वैसे उसके माहात्म्य वाचन का क्रम भी प्रथम है, यथा–

अपवित्रः पवित्रो व सुःस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत् पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं सः बाह्याऽभ्यंतरैः शुचि·।
अपराजितमन्त्रोऽय सर्वविघ्नविनाशनः।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः।।
एसो पंचणमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

इसी क्रम मे जब हम पूजन प्रारम्भ करते हैं, हमे 'मंगलोत्तमशरण पाठ' का माहात्म्य और 'मगलोत्तमशरण पाठ' के मूलभूत अरहत, सिद्ध, साधु और धर्म के विशेष गुण पढने को मिलते है। यथा–

'स्वस्ति' त्रिलोकगुरुवे जिनपुंगवाय,
स्वस्ति स्वभावमहिमोदयसुस्थिताय।
स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जितदृङ्मयाय,
स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय।।
स्वस्त्युच्छलद्विमलबोधसुधाप्लवाय,
स्वस्ति स्वभावपरभावविभासकाय।
स्वस्ति त्रिलोकविततैकचिदुद्गमाय,
स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय।।'–
इत्यादि।

उक्त प्रसग मे हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सभी श्लोको में गृहीत पद 'स्वस्ति' ही है, जो हमे 'स्वस्तिक' नाम मे मिलता है, क्योकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'स्वस्ति एवं स्वस्तिकम्'। ऊपर के वर्णन में हमे देव (अरहत-सिद्ध) और धर्म (बोध) की स्पष्ट झलक मिल रही है और इनको मगल कहा गया है, तथा 'स्वस्ति' और स्वस्तिक दोनो का अर्थ मगल है। आगे चल कर इसी पूजा प्रसग मे हम साधुओ की 'स्वस्तिरूपता' उनकी ऋद्धियो के वर्णन मे पढते है। अरहत रूप मे तीर्थकरो की 'स्वस्ति'-रूपता पढने को मिलती है। अरहत और साधुओ के लिए निम्न 'स्वस्ति' विधान है–अरहंत स्वस्ति–

श्री वृषभो नः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अजित।
श्री सभवः स्वस्ति, स्वस्ति श्री अभिनदनः।।
इत्यादि।

साधु स्वस्ति–

नित्याप्रकंपाद्‌भुतकेवलौघाः,
स्फुरन्मनः पर्यय शुद्धबोधाः।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधाः,
स्वस्ति क्रियासु परमर्षयोः नः।।
कोष्ठस्थ धान्योपममेकबीजं,
संभिन्नसंस्रोतृपदानुसारिः।
चतुर्विधं बुद्धिबलंदधानाः,
स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो नः।। इत्यादि।।

ऊपर के समस्त प्रसग से यह भलीभांति सिद्ध है कि अरहंत आदि चारों 'स्वस्ति' रूप है और जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है यह स्वस्ति उस 'स्वस्तिक का ही रूप है, जिसे 卐 आकार में स्थापित किया जाता है। यत.–**'स्वस्ति एव स्वस्तिकं।'**

जैन धर्म के ग्रन्थो मे मंगल का चलन छह प्रकार से माना गया हे। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के अनुसार कर्ता (यथाशक्ति) इन छहो मे किसी को भी अपनाकर कार्य प्रारम्भ कर लेता है। ॐ और स्वस्तिक ये दोनों स्थापना मगल मे आते हैं और ये दोनो ही बृहत्‌शक्ति के लघु (बीजरूप) है। मगल के छह प्रकार इस भाँति है–

णामणिट्‌ठावणा दव्वखेत्ताणि कालभावा य।
इयछब्भेयं भणियं, मंगलमाणंदसंजणणं।।'

–तिलोयपण्णत्ति।।18

नाममगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल और भावमंगल ये मगल के छह प्रकार हैं।

जैसे शान्ति प्राप्त्यर्थ मुखद्वारा, भावों द्वारा मंगलाचारण, किए जाते हैं वैसे ही काय द्वारा स्वस्तिक-रचना-रूप मंगल किया जाता है। यह तो पूर्ण निर्विवाद है कि–

'मंगलं कीरदे पारद्धकज्जविग्घयरकम्मविणासणट्ठं।'

—कसाय पाहुड 1।1

'सत्थियणंदावत्तयपमुहा.।' —ति प 1।7

प्रारम्भकार्यो मे विघ्न निवारण के लिए मगल किया जाता है। या स्वस्तिक, नद्यावर्त प्रमुख कार्य किए जाते है। भरत जैसे चक्रवर्ती ने भी दिग्विजय के बाद शिला पर अपना नाम लिखने में भी 'स्वस्ति का प्रयोग किया है। तथाहि—

'स्वस्तीक्ष्वाकुकुलव्योमतलप्रालेयदीधितिः।
चातुरन्तमहीमर्ता भरतः शातमातुरः।।' —आदिपुराण 32, 145

तीर्थंकरों के शरीर सबंधी 108 लक्षणों में भी स्वस्तिक एक शुभचिन्ह माना गया है—

इसमें संदेह नहीं कि मंगल, सुख, शान्ति व कल्याण के लिए चारों मगल, चारो उत्तम और चारो शरण (पाठ) का आसरा लिया जाता है। गृहस्थाचार सम्बन्धी कार्यो मे जो 'यत्र' पूजा-विधानादि में स्थापित किए जाते है, उन यत्रो—विनायक यंत्र, शान्तिविधान यत्र, शान्तियत्र मे **'चत्तारिमंगलोत्तमशरण'** पाठ लिखा होता है, इस सबसे यही सिद्ध होता है कि स्वस्तिक इन्हीं चारो का प्रतिनिधि होना चाहिए।

प्रश्न होता है कि स्वस्तिक का जो रूप प्रचलित है उसकी मंगलोत्तम शरण पाठ से संगति कैसे बिठाई गई है? पर यह प्रश्न स्वस्तिक की बनावट से सहज ही हल हो जाता है। स्वस्तिक बनाने वाले का भाव मंगलोत्तमशरण की स्थापना का है और वह एक-एक पद के लिए एक-एक विधि पूरी करता जाता है। यद्यपि मूल (आज) विस्मृत होने से वह ऐसा भाव नहीं बिठा पाता जो कि उसे बिठाना चाहिए। वास्तव मे स्वस्तिक रचना के समय जो भावना रहनी चाहिए उसका रचनाक्रम इस प्रकार है— (स्मरण रहे कि रचना बनाते समय प्रतिपद उच्चारण के साथ ही चिन्ह बनाना चाहिए)

चत्तारिमंगल, चत्तारिलोगुत्तमा और चत्तारिशरण की चार संख्या के प्रतिनिधि चार कोण–
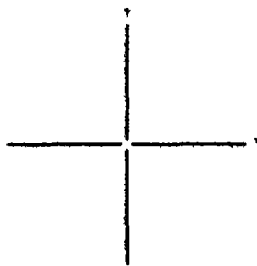
नोट–उक्त प्रतीक नीचे अलग-अलग दिखला कर, शेष मन्त्र के प्रतीक पृथक्-पृथक् लकीरों में संकेतों द्वारा स्पष्ट किए गए हैं–
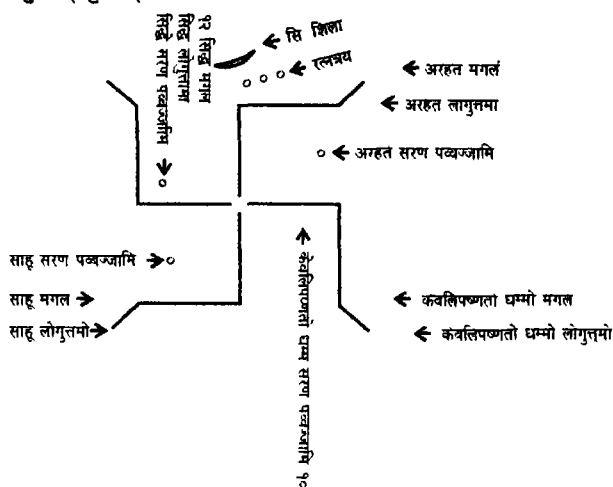
नोट–(1) पाठ उच्चारण करते हुए, क्रमाकों के क्रम से लकीरे खींचना चाहिए। स्वस्तिक के प्रचलित अन्य रूप इस भांति भी है–

• •

जैन ध्वजः स्वरूप और परम्परा

तीर्थकर महावीर के 2500 वे निर्वाण के उपलक्ष्य में उपलब्ध-उपलब्धियो में पच-वर्ण के सामाजिक ध्वज की उपलब्धि युगान्त तक स्मरणीय रहेगी और ध्वज के निर्माण व प्रचार मे सहायक—अथक-यत्न करने वाली महाशक्तियो को भुलाया नही जा सकेगा। सभी धन्यवादार्ह रहेंगे।

भगवान महावीर के निर्वाण-पश्चात्, जैसे धार्मिक मान्यताओ मे दृष्टि-भेद हुए—अनेक पंथ बने, वैसे ही उसके पथ-गत-ध्वज भी भिन्न-भिन्न रूपों मे निर्मित होने लगे। यहाँ तक कि किसी पथ के ध्वज का कोई निश्चित एक-रूप भी नही रह गया। जिसने जैसा चाहा, तब वैसा ही ध्वज, धर्म-ध्वज के नाम से फहरा दिया। और यह सब हुआ तब, जब लोगो की दृष्टि से धर्म-ध्वज का मूल-महत्व तिरोहित हो गया या लोगो ने धर्म-ध्वज को अपनी-अपनी मान्यताओ और पंथ-विशेषो का ध्वज स्वीकार करने की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी या देवी-देवताओ की उपासना का बाहुल्य हो गया।

यदि किसी एक रूप मे निश्चित मान्य हो तो पथ-विशेष का निश्चित एक ध्वज होना कोई बुरी बात नहीं। पर, यहाँ तो एक ही पंथ के लोग कभी इकरगा तो कभी दुरगा-तिरंगा या कई-कई रग का ध्वज फहराने लग गये थे। इससे जहा किसी पंथ-विशेष में ध्वज-सबधी अस्थिरता रही वहा किसी निश्चित ध्वज के अभाव मे वह पथ-संप्रदाय दूसरों की दृष्टि में अपने व्यावहारिक रूप का बोध कराने में भी असमर्थ हो गया। अर्थात् ध्वज को देखकर कोई नही पहिचान सकता था कि ये अमुक समाज-पंथ या सम्प्रदाय के लोग हैं या यह उनका ध्वज है। यदि ध्वज का

एक ही निश्चित रूप मान्य होता तो ध्वज देखकर सहज ही ज्ञान हो जाता कि यह अमुक पथ का ध्वज है। उदाहरणार्थ—जैसे चक्रयुक्त तिरगा भारत का और चर्खे वाला तिरंगा कॉंग्रेस पार्टी का सहज-बोध करा देते है—हमारे ध्वज के विषय में ऐसा कुछ नहीं रह गया था।

सामाजिक नवीन ध्वज की निश्चिति के सबध में मै स्व. साहु श्री शान्तिप्रसाद जी जैन के इस कथन से पूर्ण-सहमत हूँ कि—

"मुझे इस बात की बहुत प्रसन्नता है कि सभी के आशीर्वाद से समग्र **जैन समाज के एक ध्वज** एवं एक प्रतीक का निर्णय हो गया।"
—महावीर स्मारिका (अप्रैल 74) पृ. 25

ध्वज के पॉच रगों को अणुव्रत-महाव्रत आदि का द्योतक मानना जैसी नई दिशाओं की कल्पनाएँ भी सुखद और प्रशस्त है इनसे सदाचार प्रचार को बल ही मिलेगा। ऐसी नवीन कल्पनायें होती रहना, मानव के सद्भावो को जाग्रत करने मे पूर्ण सहायक होती है। मै इनका स्वागत करता हूँ और निश्चित किए गए पंच-वर्ण-ध्वज का साभाजिक दृष्टि से सम्मान करता हूँ। जैनो के सब पथों ने मिलकर ध्वज का एक रूप (पचवर्णवाला) स्वीकार कर प्रशस्त प्रयास ही किया है।

अब रही बात—पचरगे ध्वज को जैन धर्म की प्राचीनता से जोडने और इसे पूर्व से प्रचलित **जैन-धर्म** का ध्वज सिद्ध करने की। सो, इसके लिए शास्त्रों के प्रमाणो को एकत्रित करने मे श्रम की आवश्यकता है। यह खोजना भी यत्न-साध्य है कि—जिनधर्म के ध्वज का प्राचीन रूप क्या है? मुझे अभी तक एक-दो सज्जनों के विचार जानने को मिले। उनमें तर्कसगत और तथ्यपूर्ण दृष्टि नहीं मिली। अपितु यह तो अवश्य प्रतीत हुआ कि प्रस्तुत किए गए प्रमाणो के साथ अन्याय किया गया है और उन्हें बलात् प्राचीन जैन ध्वज के साथ जोडने का प्रयत्न किया गया है। यतः—वे प्रमाण देवी-देवताओ के ध्वज-प्रसगों से सबंन्धित हैं। ध्वज के पंचरंगा होने में पहली बात जो कही जा रही वह है "विजया पचवर्णाभा पंचवर्णमिदं—ध्वजम्।"

पर उक्त उद्धरण जैन-ध्वज से सबंधित नहीं अपितु विजयादेवी के निजी ध्वज से संबंधित है। यतः—नीचे दिए गए पूर्ण प्रसग से विविध-देवियों और उनकी ध्वजाओ के स्वरूपों का यथावत् निश्चय हो जाता है। तथाहि—

'पीतप्रभाह्वयादेवी पीतवर्णमिदंध्वजम्।'
'पद्माख्यदेवी पद्माभा पद्मवर्णमिदं ध्वजम्।'
'सा मेघमालिनीकृष्णा कृष्णवर्णमिदंध्वजम्।'
'हरिन्मनोहरादेवी हरिद्वर्णमिदं ध्वजम्।'
'श्वेताभा चन्द्रमालेयं श्वेतवर्णमिदध्वजम्।'
'नीलाभासुप्रभादेवी नीलवर्णमिदं ध्वजम्।'
'श्यामप्रभा जयादेवी श्यामवर्णमिदंध्वजम्।'
'विजया पंचवर्णाभा पंचवर्णमिदं ध्वजम्।'

—प्रतिष्ठा तिलक 5।1-10

उक्त प्रसंग से देवियों के पृथक्-पृथक् रंगों और तदनुसार उनके ध्वज-रंगों की पुष्टि हो जाती है। जैसे—

	देवी का नाम	देवी का वर्ण	देवी के ध्वज का वर्ण	ध्वज की दिशा
1	पीतप्रभा	पीत	पीत	पूर्व
2	पद्मा	पद्म	पद्म	आग्नेय
3	मेघमालिनी	कृष्ण	कृष्ण	अवाची
4	मनोहरा	हरित्	हरित्	नैऋत्य
5	चन्द्रमाला	श्वेत	श्वेत	प्रतीची
6	सुप्रभा	नील	नील	वायव्य
7	जया	श्याम	श्याम	उदीची
8	विजया	पंचवर्ण	पंचवर्ण	अधः,ऊर्ध्व,ईशान

जैन-ध्वज के प्रसंग में प्रतिष्ठातिलक में जो स्पष्ट उल्लेख है उसके अनुसार जैन-ध्वज सर्वथा श्वेत ही सिद्ध होता है और उस पर छत्र, पद्मवाहन, पूर्णकलश, स्वतिक आदि चिह्न होते हैं। तथाहि—

'सुधौतसुश्लिष्टश्वेतनूतनवासः परिकल्पितस्यास्यध्वजस्य।'–

'ध्वजमस्तकास्याधः प्रथमे पदे छत्रत्रयं, द्वितीयपदे''पद्मवाहनं, तृतीये पूर्णकलशं तत्पार्श्वयो स्वस्तिकं''यथाशोभं शिल्पिनाविलिख्य तदेत**न्महाध्वजं** तद्यागमण्डलस्याग्रतो वेदिकातले पूर्वस्यां दिशि समवस्थाप्य **दिक्पालकेतून''दिक्कन्यकाकेतून्** तदध्वजपार्श्वयोरवस्थाप्य''' **तन्महाध्वजाग्रतः'''।'**

–प्रतिष्ठातिलक, पृ. 185-186

उक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि ध्वज धुले-सुश्लिष्ट, श्वेत नूतन वस्त्र से बना होता है और छत्र, कलश, स्वस्तिक आदि चिह्नों से चिह्नित होता है। यही मुख्य-ध्वज, महाध्वज नाम से भी कहा गया है। प्रतिष्ठा आदि के अवसरो पर इस महाध्वज को प्रमुखरूप में स्थापित किया जाता है और अन्य रंग-बिरंगे (देवी-देवताओं के) ध्वज–जो क्षुद्र-ध्वज के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। उन्हें इस महाध्वज के चारों ओर (उनके लिए ऊपर निर्दिष्ट दिशाओ के क्रम में) स्थापित किया जाता है। इन क्षुद्रध्वजाओं को झंडियों के नाम से भी जाना जा सकता है। यतः इनका परिमाण मुख्य-ध्वज से पर्याप्त छोटा होता है। महाध्वज की लम्बाई 5 से 10 बालिस्त और चौड़ाई 19 सें 24 अंगुल तक की कही गई है।

'पंचदशाद्यन्तवितस्तिरूपषड्विधदैर्ध्यान्यतमदैर्घ्यस्य, एकोनविंशत्यंगुलादिचतुर्विंशत्यंगुलांतषड्विधव्यासरन्यतमव्यासस्य–(वही)।

आचार्य उमास्वामिकृत जैनियों के प्रामाणिक आगमसूत्र तत्त्वार्थसूत्र से कौन परिचित नहीं है? यह सूत्र परममान्य है और सभी विषयों मे स्पष्ट निर्णायक है। उससे ध्वज के श्वेत होने के प्रमाण–उसकी प्रामाणिक टीकाओं से उपलब्ध होते है। तथाहि– 'अवग्रहेणग्रहीतयोऽर्थस्तस्यविशेषपरिज्ञानाकांक्षणमीहा कथ्यते। यच्छुक्लंरूपं मया दृष्टं तत्किं **बलाका–बकभार्य** आहोस्वित् **पताका–ध्वजा वर्तते।'**

–तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर सूरि) 1।15

–अर्थात् जो शुक्लरूप मैंने देखा वह बगुली है या ध्वजा, ऐसी

जानने की इच्छारूप-ज्ञान ईहा है। इसी प्रसंग में पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिद्धि में निम्न प्रकाश देते है–**'यथा शुक्लं रूपं किं बलाका पताकेति वा।'**– इसी प्रसंग को श्रीमदभयदेव सूरि ज्ञान मार्गणा में मतिज्ञान के व्याख्यानावसर पर इस भांति निवद्ध करते हैं–'अवग्रहेण **इदं श्वेतमिति ज्ञातेऽर्थे**विशेषस्य **बलाका रूपस्य पताकारूपस्य वा यथावस्थितस्य आकांक्षा।'**

उक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि उन दिनों ध्वज का श्वेतरूप ही प्रचलित रहा है, जो सहज-स्वभावतः आचार्यो के कथन में आया और ध्वज की समता श्वेत–बगुली से की गई। यदि ध्वज का रूप श्वेत न होता और पंचरंगा होता तो न तो शुक्ल शब्द दिया जाता और ना ही बगुली से उसकी समता की जाती।

आचार्य जिनसेन ने ध्वज के श्वेत होने का बारम्बार उल्लेख किया है। जैसे–'यस्याः सौधावलीशृङ्गसंगिनी **केतुमालिका**। कैलाशकूटनिपत**द्धंसमालां** बिलघते।।'–महापुराण 4।110।। तथा **'सितपयोधरा** नीलै· करीन्द्रै· **सितकेतनैः। स बलाकै**र्विनीलाभ्रैः संगता इव रेजिरे।।'

—वही 13। 52

उस नगरी के बड़े-बडे पक्के मकानों के शिखरो पर फहराती हुई पताकाएँ कैलाश शिखर पर उतरती हुई हसमाला को तिरस्कृत करती है। सफेद बादल, सफेद पताकाओं सहित हाथियो से मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो बगुला पक्षी सहित काले बादलों से मिल रहे हों।

उक्त उद्धरणो से सहज ही जाना जाता है कि ध्वज श्वेत होते रहे हैं। केतुमालिका, हंसमाला, सित-पयोधर, सित-केतन और वलाका सफेद है इसे सहज ही जाना जा सकता है।

इसी महापुराण मे समवसरण के वर्णन के प्रसंग मे जो उपमाएँ ध्वज के लिए दी गई है या जो उत्प्रेक्षायें की गई है; वे सब प्रायः श्वेत रग की वस्तुओ या प्राणियो से की गई है। इससे भी ध्वज का श्वेत होना सिद्ध होता है। तथाहि–

'श्लक्ष्णांशुकध्वजा रेजुः पवनान्दोलितोत्थिताः।
व्योमांबुनिधेरिवोद्भूता तरंगास्तुंगमूर्तयः।।223।।

'बहिर्ध्वजेषुवर्हालिलीलयोत्क्षिप्तवर्हिणः।
रेजुर्ग्रसतांशुकाः सर्पबुद्धयेव ग्रस्तकृत्तयः।।224।।

'हंसध्वजे ष्वभृर्हंसाश्चंच्वा ग्रसितवाससः।
निजां प्रसारयन्तो या द्रव्यलेश्यां तदात्मना।।228।।

'मृगेन्द्रकेतनाग्रेषु मृगेन्द्राः क्रमदित्सया।
कृतयत्नाविरेजुस्ते जेतुं वा सुरसागजान्।।231।।

'स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखलम्बीनिरेजिरे।
गजेन्द्रकुंभसंभेदात् संचितानि यशांसि वा।।232।।

'उक्षा शृंगाग्रसंसक्त लंबमानध्वजांशुकाः।
रेजुविपक्षजित्येव संलब्धजयकेतनाः।।233।।

'उत्पुष्करैः करैरूढाध्वजारेजुर्गजाधिपाः।
गिरीन्द्र इव कूटाग्रनिपतत्पृथु निर्झराः।।234।।

'चक्रध्वजासहस्रारैः चक्रैरुत्सर्वदंशुभिः।
बभुर्भानुमता सार्धं स्पर्धां कर्तुमिवोद्यताः।।235।।

—महापुराण (जिनसेनाचार्य) पर्व 22

—उक्त श्लोको मे ध्वज की समता या उत्प्रेक्षा जिनमे की गई है वे सभी श्वेत वर्ण हैं। यथा—तरग, केचुली, हंसो की द्रव्यलेश्या, ऐरावत या देव-गज, यश, जय-विजय, निर्झर, और सूर्यकिरण आदि। यदि मूल—मुख्य-ध्वज अन्य किन्ही रंगों का होता तो आचार्य श्वेत वर्ण की समता न दिखाते।

महापुराण पर्व 22 श्लोक 223 के अर्थ मे श्री पंडित पन्नालाल साहित्याचार्य ने लिखा है—'ध्वजाऐं सफेद वस्त्रों की बनी हुई थी,—उसी प्रकार पर्व 19 के 38 वें श्लोक में भी श्वेत ध्वज का स्पष्ट उल्लेख है—
'श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिराततै.।।'

इस विषय में अन्य उद्धरण भी दर्शनीय हैं। यथा–

1. 'तुंग-भवण मणि-तोरणावद्ध-धवल-धय वडुद्धुव्वमाण।'

—कुवलयमाला (उद्योतनसूरि) पृ. 7

2. 'रवि-तुरयरामणसंताव-वाय मुह-फेण-पुंज धवलइए। कोडि-पडागा-णिवहे जा मरुय-चंचले वहई।।'

—वही पृ. 31

3. 'जाव सुक्किल्ल चामरज्झया अच्छा सण्हा रूप्यपट्टा वररामयदण्डा।'

—जम्बूदीवपण्णत्ति, सूत्र 74 पृ.289

4. 'ते च सर्वेऽपि कथंभूता इत्याह—आकाश स्फटिकवदति निर्मलाः, श्लक्ष्णपुद्‌गलस्कंधनिर्मापिता; रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येषां ते तथा। वज्रमयो दण्डो रूप्यपट्ट मध्यवर्ती येषांते तथा।'

—वही, (टीका-वाचकेन्द्र श्री मच्छांतिचन्द्र पृ. 292 'त्रिलोकसार' जी मे ध्वजा के लिए अन्य वर्णों का संकेत नहीं मिलताः अपितु यह अवश्य मिलता है कि—तत्कालीन नगरों में एक नगर 'श्वेत-ध्वज' नाम का था। अन्य बहुत से नगरों के नाम तो हैं—जो संभवतः उनके स्वामियों के चिन्ह से चिन्हित ध्वज का सकेत देते है। जैसे-सिहध्वज नगर, गरुणध्वज नगर आदि। पर, पीत-ध्वज, रक्त-ध्वज, नील-ध्वज आदि ध्वज जैसे नाम वाले नगर नहीं हैं। देखे गाथा 697। इसी गन्थ की गाथा 1010 से ये भी स्पष्ट होता है कि—ध्वजो की दो श्रेणियॉ हैं—मुख्यध्वज और क्षुल्लक ध्वज (इसके संबन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है) मनीषी विचार करें।

ध्वज के पंचरंगा होने में दूसरी बात कहीं जा रही है तीर्थकरों के शरीर के वर्ण के प्रतिनिधित्व की। यतः–

'पउमप्पह वसुपुज्जा रत्ता धवला हु चंदपह सुविही।
णीला सुपास पासा णेमी मुणिसुव्वया किण्हा।।
सेसा सोलह हेमा. ..' ....त्रिलोक सार 847

—पद्मप्रभ, वासु पूज्य लाल वर्ण, चन्द्रप्रभ, सुविधि धवलवर्ण, सुपार्श्व,

पार्श्व नीलवर्ण, नेमि, मुनिसुव्रत कृष्णवर्ण और शेष सोलह तीर्थंकर पीतवर्ण के हैं। इसी प्रकार इस संबन्ध में अन्य प्रमाण भी है–

'द्वौ कुन्देन्दु तुषार हार धवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ।
द्वौ बन्धु सम प्रभौ जिन वृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ।।
शेषा षोडश जन्म मृत्यु रहिता संतप्त हेमप्रभा–।
स्ते संज्ञान दिवाकरा सुरनुता सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः।।
'वे रत्ता वे साँवला वे निलुप्पल वण्ण।
मरगज वण्णा वेवि जिण सेसा कंचनवण्ण।।' आदि

यदि उक्त आधार को ठीक मान लिया जाय तब प्रचलित किए हुए पंचरंग-ध्वज में काला-नीला दोनों ही रंग मानने पड़ेंगे और प्रचलित ध्वज विसंगति मे पड़ जाएगा क्योंकि उसमें इन दोनो रंगों में से एक का ही ग्रहण है। फिर रंगो के विषय में हरा रंग भी विवाद का विषय है, जब कि एक स्थान पर हरे के उद्धरण को स्वीकार किया गया है और एक स्थान पर नहीं। इसके सिवाय ध्वज का प्राचीन प्रचलित एक रूप भी स्थिर न हो सकेगा–वह सदा अस्थिर परिवर्तनशील ही रहेगा अर्थात् तीर्थंकरों की वृद्धि के साथ ही ध्वज के रग मे वृद्धि माननी पड़ेगी और पंचरंगी ध्वज की प्राथमिक प्राचीनता सिद्ध न हो सकेगी। यथा–प्रथम पाँच तीर्थंकरों के युग तक पीत-रक्त ध्वज, छठवें के युग में पीत-रक्त ध्वज, सातवें के युग में पीत-रक्त-नील ध्वज, आठवे के युग में पीत-रक्त-नील-श्वेत ध्वज और बीसवें के युग से पीत-रक्त-नील-श्वेत-कृष्ण ध्वज। यदि हरा भी लिया जाय जैसा कि उल्लेख मिलता है) तो ध्वज पंचरंगा के स्थान में छह रगा ठहरेगा। इस प्रकार परिवर्तनशील ध्व ा की जैन धर्म जैसी स्थिर प्राचीन एकरूपता नहीं मिलेगी और यह प्राचीन-जैनधर्म जैसा प्राचीन, ध्वज नहीं ठहरेगा अपितु परिवर्तनशील सामाजिक-ध्वज ही ठहरेगा।

ध्वज के पंचरंगा होने में तीसरी बात पंच-प मेष्ठियों की प्रतिमाओं के रंगों की दृष्टि से कही जा रही है। श्वेताम्बर ग्रंथ 'मानसार' में लिखा है कि–पाचों परमेष्ठियों की पांच प्रतिमाएँ यथाक्रम से इन वर्णों की होती

है–1 स्फटिक (धवल) 2 अरुणाभ, 3 पीताभ, 4 हरिताभ, 5 नीलाभ। तथाहि–

'स्फटिक श्वेत रक्तं च पीत श्यामनिभं तथा।
एतत्पंचपरमेष्ठि पंचवर्ण यथा क्रमम्।।'

उक्त मान्यता श्वेताम्बर रीति मे है। दिगम्बर मान्यतानुसार तो सिद्ध अशरीरी है अत यदि उनकी प्रतिमाओं की कल्पना भी की जाएगी-(जैसा कि प्रचलन भी है) तो वह भी निराकार–अशरीरी रूप में ही की जाएगी और कोई भी रंग न होगा। ऐसे में उनका रग लाल मान लेना सिद्धान्त का व्याघात करना होगा। इसके सिवाय–आचार्य, उपाध्याय और साधु की प्रतिमाओ के रगो को क्रमशः पीताभ, हरिताभ और नीलाभ मानना भी दिगम्बर आम्नाय के विरुद्ध है जब कि सिद्धान्तत· और आगमो व प्राचीनतमत्व की अपेक्षा इनकी मूर्तियो का विधान ही सिद्ध नही होता। दिगम्बर परम्परा मे पूर्ण वीतरागता की पूजा के उद्देश्य से अर्हन्तो की प्रतिमाओं का विधान है और वीरागता के कारण सिद्धो का भी समावेश किया गया है। जहॉ तिल-तुष मात्र भी अन्तरग बहिरग परिग्रह है वहा जिन-रूप की कल्पना नही है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनो ही श्रेणियां साधक की श्रेणिया है–पूर्ण वीतरागत्व की श्रेणिया नही। यही कारण है कि लोक मे जितने अकृत्रिम चैत्यालय है उनमे इनके बिम्बो के होने का उल्लेख नही है। शास्त्रो और लोक मे भी जिन-मदिरो का चलन है, आचार्य, उपाध्याय या साधु के मन्दिरो का विधान नही। गौतम, सुधर्मा जैसे गणधरो और जम्बूस्वामी तक के भी चरण ही पूजे जाते रहे है। यद्यपि केवली होने के बाद इनकी प्रतिमाए बनाने मे कोई आपत्ति नही। पूर्ण वीतरागी होने से सिद्ध परमेष्ठी को मन्दिरों मे स्थान दिया गया है– उनकी निराकर स्थापना की जाती है। आगमों मे असख्यात अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन है वहॉ भी अरहन्तों की मूर्तियों का ही विधान है– आचार्य, उपाध्याय और साधुओ की मूर्तियों का नहीं। त्रिलोकसार मे भी मात्र अरहंतो व सिद्धो की प्रतिमाओ के होने का उल्लेख है–आचार्य, उपाध्याय और साधु की प्रतिमाओ का नही। तथाहि–

'जिन सिद्धाणं पडिमा अकिट्टिमा किट्टिमा दु अदिसोहा।
रयणमया हेममया रुप्यमया ताणि वदामि।।1015।।'

इतने पर भी यदि कहीं कुछ प्रतिमाएँ आचार्य, उपाध्याय या साधुओ की मिलती हों तो उन्हे नवीन के संदर्भ में ही लिया जाएगा। ऐसी अवस्था मे ध्वज में इन तीन परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के रंगों की कल्पना, कोरी कल्पना मात्र ही है—तथ्य नही।

कुछ ऐसे प्रमाण भी हैं जिनसे गुरुओं की मूर्ति के न होने की बात और इनकी (छतरी) तथा चरण-स्थापना और पूजा की परम्परा सिद्ध होती है। तथाहि—

'आचार्यादि गुणान् शस्य सतां वीक्ष्य यथायुगम्।
गुर्वादेः पादुके भक्त्या तन्न्यास विधिना न्यसेत्।।'—

—प्रति० सारोद्धार 6।36

घटयित्वा जिनगृहे तत्प्रतिष्ठा महोत्सवे।
निषेधिकां प्रतिष्ठाय रक्षकांगो जनावनौ।। 6। 37
'ध्वात्वा यथास्वं गुर्वादीन्न्यस्येत्तत्पादुका युगे।
निषेधिकायां सन्यास समाधिमरणादि च।।

—वही 1। 1

तेषां पदाब्जानि जगद्धितानां वचो मनोमूर्धसु धारयामः।1।

(प्रति० सा० स०)

'तुम्हं पयापयोरुहमिह मंगलत्थि में णिच्चं।'—आचार्यभक्ति-
न्तेषां समेषां पदपंकजानि .... ।। प्रति० तिलक।।
'ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र पवित्रतरगात्रचतुर शीतिलक्षगुणगणधरचरण आगच्छत 2 ....।,

प्रतिष्ठा तिलक।।

इसके अतिरिक्त प्रतिष्ठासारोद्धार के निम्न पाठ भी चरण पूजा में स्पष्ट प्रमाण हैं। इसका निष्कर्ष ये है कि प्राचीनतम युग में मुनि की

मूर्तियां नहीं होती थीं अपितु उनके चरणों की ही स्थापना का विधान था। तथाहि– (गुरुपूजा से–)

'तेषामिह गुणभृतां भानुचरणाः।।'–
'क्रम भुवि गुरुणां प्रणिदधे।।'–
'भवांभीधेसेतूनृषिवृषभपादान्।।'–
'आचार्यचरणानुमस्कुर्मो।।'–
'मुनिपरिवृढांघ्रीनघहतः।।'–
चरणकमलान्यार्यमहताम्।।'–
चरणधरधौरेयचरणान्।।'–
गणिचरणापीठाग्रचरणीम्।।'–
'सूरिक्रमसरसिजोत्तारुचिम्।।'–
'विधिकृताराधनाः पादपद्माः।।'–

गुरु की मूर्ति के निर्माण के संबंध में श्वेताम्बर विद्वानो के जो विचार है उनसे यह आठवीं शताब्दी से पूर्व नही जाती। और यदि उत्खनन में कोई प्राचीन मूर्ति मिलती भी हों तो भी उन्हें हम जैन-ध्वज के समान प्राचीनत्व नही दे सकते–यत·धर्म का ध्वज तो सदा से ही रहा है जबकि आचार्यादि की मूर्तियाँ की उपलब्धि किसी बँधे निश्चित काल से ही हो रही हैं।

'ग्यारहवीं शताब्दि के बाद तो आचार्य व मुनियो की स्वतंत्र मूर्तियां बनने लगी थीं। उपर्युक्त पंक्ति सूचक काल के बाद जिन जैनाश्रित मूर्तिकला विषयक ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें आचार्य मूर्ति निर्माण करके किंचित् प्रकाश डाला गया है।'–'गुरु मूर्ति का शास्त्रीयरूप निर्धारित न होने के कारण उनके निर्माण मे एकरूपता नहीं रह सकी है।'**–खंडहरों का वैभव (मुनि कान्तिसागर) पृ० 48-50।**

'आठवीं शताब्दी से गुरु मूर्तियां मिलने लग गई है। 11वीं के बाद अधिक मिलती हैं। पहिले गणधरों आदि के स्तूप बनते ही थे। स्तूप ही मूर्ति में विकसित हो गए।'

अगर चन्द जी नाहटा (17-12-77)

इसके अतिरिक्त दिनॉक 12-1-77 के जैन संदेश में श्री नानक चन्द खातौली का एक लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें कुछ अंश निम्न प्रकार हैं–

'हमें प्रतिमा का उल्लेख दो रूपो में मिलता है अकृत्रिम और कृत्रिम–नीचेभूलोक में, यहाँ मध्य लोक में, ऊपर देव लोक में। जितने भी अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सब मे अकृत्रिम प्रतिमायें ही विराजमान हैं। ति० म0 से ज्ञात होता है कि ये सब प्रतिमायें अष्ट प्रातिहार्य सहित अरहंतों की होती हैं–इस युग की आदि में सौधर्मेन्द्र ने अयोध्या मे मंदिर बनाए (आदि. 16–150) इनमें अकृत्रिम प्रतिमाएँ ही विराजमान की। भरज जी ने 24 मंदिर बनवाये (पदम.) उनमें 72 प्रतिमाएँ निर्माण करवाईं (उत्तर० 48-77) ये सब अरहंतों की थीं–प्रतिमा तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनती थीं (डा. पन्नालाल) प्रारंभ में तीर्थकरों की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं (देवगढ़ की जैन कला 71) मूर्तियां देवों की बनतीं हैं देव होते हैं अरहंत और सिद्ध। अंकित लेख में उल्लिखित नाम से ही तीर्थंकर की पहचान होती थी (जैन संदेश-शोधांक) आचार्य, उपाध्याय और मुनियों को मूर्तरूप देने का विधान जैन प्रतिमा शास्त्र में नहीं मिलता है।'–

'मुनि अवस्था की मूर्ति बनती नहीं है।'–

ऊपर दिए गए सभी प्रसगों से पंचरगे ध्वज का रूप जैन-धर्म जैसा प्राचीन नहीं ठहरता। अतः यह मानना ही श्रेयस्कर है कि यह पचरंगा ध्वज नहीं, अपितु सर्वसम्मत सामाजिक ध्वज है जो वीर निर्वाण के 2500वें वर्षोत्सव पर प्रकाश मे आया।

अहिंसा के रूप

आध्यात्मिक–स्वानुभूति रूपी स्वानुभाविकी परिणति में लीन सम्यग्दृष्टि समस्त-वैभाविकी-बन्धरूप अर्थात् आत्मानुभूति में विघ्नभूत क्रियाओं के प्रति सर्वथा मौन है। आत्माभिमुखी की रुचि पर-पदार्थों में न हो, सर्वथा स्वभाव में ही है। प्रकारान्तर से इस तथ्य को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्माभिमुखी एक ऐसा मौनी मुनि है जिसके आत्मानुभूति के सिवाय बाह्य (सावद्य) का लेश नहीं।

मुनि और मौनी दोनो शब्द आध्यात्मिक और भाव अभिन्न तो है ही, साथ ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बतलाने में भी समर्थ है, अर्थात् मुनि वह है जो मौनी (पर से निवृत्त) हो। जो मौनी नहीं वह मुनि भी नहीं। कोषकारों ने मौन शब्द का व्युत्पत्तिपुरस्सर जो विश्लेषण किया है वह मनन योग्य है। वे लिखते है–

"मुनेरयं मौन। मुनेर्भाव. वा मौनम्। मौन चाशेष सर्वदयानुष्ठानवर्जनम्। मौनमविल मुनिवृत्तं तन्नैश्चायिकं सम्यक्त्वम्"।

इसका भाव ऐसा हुआ कि अशेष (सम्पूर्ण) सावद्य[1] (पापसहित) के अनुष्ठान का त्याग करना मौन है और यह मौन पूर्णरूप से मुनि का चरित्र है और यह निश्चय सम्यक्त्व है। जैसे लौकिक व्रती जन को समस्त लौकिक सावद्य क्रियाओ के प्रति मौनी होना लाभदायक है। आत्माभिमुखी मुनि और सम्यग्दृष्टि को भी आत्मसाधक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त सभी विभावों से मौन (विमुखता) आवश्यक है। जिसने आत्मातिरिक्त समस्त

---

1 अवद्य पाप सह तेन वर्तते। पाशयति मलिनयति जीवमिति पापम्। कर्मबन्धो अवज्ज सहतेण सोसावज्जो जोगित्ति वा वावारो–अभि. राजेन्द्र कोष।

रुचियों (प्रमाद, कषाय और पापरूप) का परिहार किया, वही सम्यग्दृष्टि (लब्धिरूप में ही क्यो न हो) है।

स्मरण रहे कि आध्यात्मिक प्रकरण में मौन का भाव केवल वाचिक मौन तक ही सीमित नही रहता। वहा तो मन और काय भी गर्भित हो जाते हैं, और जब मौन की सीमा मन-वचन-काय तीनो के व्यापार रुद्ध करने तक पहुच जाती है तब "सावद्य" के अर्थ की सीमा भी विस्तृत क्षेत्र को घेर लेती है। लोक मे "सावद्य" शब्द प्राय. परपीडन, हिंसा आदि पापाचार और लोकगर्हित क्रियाओ के भाव मे लिया जाता है। परन्तु जहां आत्माभिमुखता सबधी मौन प्रकरण है 'सावद्य' का अर्थ उक्त न लें। मन-वचन-काय तीनो की उन सभी प्रवृत्तियों मे लिया जायेगा जो पर-रूप है, फिर वे लोक-विरुद्ध अथवा लोक विरोधातीत जैसी भी हो।

आचार्य कहते हैं–

> तत्व सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यत· स्वय सिद्धम्।
> तस्मादनादिनिधन स्वः सहाय निर्विकल्पम्।।
>
> ।। पचाध्यायी ।।

तत्व सत् लक्षणवाला है, सत् मात्र और स्वयसिद्ध है, इसलिए वह अनादि है, अनिधन है, स्व-सहाय और निर्विकल्प है।

उक्त प्रमाण के आधार से सभी द्रव्य स्वतन्त्र और लक्षण भिन्नत्व को लिये हुए है एतावता अपने मे ही है। कोई "पर" अन्य किसी "पर" का कर्त्ता या हानि-लाभ दाता नहीं।

यदि प्रमाद है तो वह अशुद्ध जीव का अनादि ससार रूप अपना, और हिसा है तो वह अपनी। जब जीव अपनी स्वाभाविकी मौनवृत्ति को छोडकर प्रमाद भाव जन्य दोष से आत्मानुभूति से विमुख होता है तब वह अपनी ही हानि–अपने ही हिसा रूपकर्म (पाप) सावद्यकर्म को करता है, उसका मुनित्व भग होता है। पर का अहित तो व्यवहार से कहा जाता है– निश्चय मे जीव का स्वय का ही बिगाड होता है।

इसी प्रसंग मे जब हम हिसा आदि पापों पर विचार करते हैं तब

यही फलित होता है कि वहां भी आचार्य का अभिप्राय पर घात आदि की प्रमुखता से नहीं, अर्थात् हिसा का मूलभूत अभिप्राय आत्मघात से रहा है और पर घात को गौण कर दिया गया है। पाठक इसका अभिप्राय ये न लें कि व्यावहारिकी हिसा, हिंसा नहीं। अपितु ऐसा भाव लें–कि वह भी अपना घात किये बिना नहीं हो सकती एतावता अपने परिणाम शुद्ध रखें। आचार्य कृत (प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोणम् हिंसा) सूत्र द्वारा प्रतिपादित हिंसा का लक्षण पारमार्थिक और लौकिक दोनों ही दृष्टियों से युक्तिसंगत है। जब हम प्राणों का घात करने से लौकिक दश प्राणों (5 इन्द्रिय, 3 बल, आयु और श्वासोच्छ्वास) का भाव लेते है तब इन प्राणों का छेद होने से प्राण व्यपरोपण (पर-पीडन आदि) व्यवहार में सावद्य नाम पाते हैं और जब हमारी दृष्टि तत्व (तत्वं सल्लाक्षणिक) की ओर होती है, तब प्रमाद को सावद्य संज्ञा दी जाती है, यतः जीव अपना ही घात करता है।

आत्मरसरसिक निश्चयावलम्बी अहिंसा आदि महाव्रत इसलिए तो धारण करता नहीं कि वह इनके कारण पर-घात आदि को कर पुण्य उपार्जन करेगा। वह तो अपनी दृष्टि “निज” मे केन्द्रित करने के लिए “पर”–प्रमाद का परिहारमात्र करता है, और प्रमाद का परिहार होने मे आत्म-हिंसा का अभाव होने पर, उसके लिए पर-हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर व्यावहारिकी हिसा में भी तो अपनी हिसा (प्रमाद) की ही प्रमुखता है। इसीलिए कहा है– प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवल प्राणव्यपरोपण नाऽधर्माय इति ज्ञापनार्थम् अर्थात् केवल प्राण व्यपरोपण अधर्म हेतु नहीं है, अपितु प्रमाद विशेषण ही अधर्म हेतु है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्माभिमुखी का प्रमाद ही उसकी स्वयं की हिंसा है और इसी के प्रति पूर्ण मौन होना अहिंसा–सावद्य का त्याग है।

शास्त्रों में जहा प्रमाद के भेदों को गिनाया है वहाँ भी किसी में कोई ऐसी झलक नहीं मिलती जिससे पर मे कृत-कर्म मात्र हिंसा सिद्ध हो। सभी स्थानों पर स्व-हिंसा (प्रमाद जन्य) को ही मुख्य बतलाया है। यदि हिसा मे मात्र प्राणव्यपरोपण अभीष्ट होता तो आचार्य प्रमाद विशेषण को समावेश नही ही करते। वे कहते हैं–“ननु च प्राण व्यपरोपणाऽभावेऽपि

प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते", अर्थात् प्राण घात के न होने पर भी प्रमाद योग मात्र में ही हिंसा है। वे स्पष्ट लिखते हैं– 'स्वयमेवात्मात्मानमात्मना हिनस्ति प्रमादवान्'–प्रमादी आत्मा स्वयं ही अपने से अपना घात करता है। वे कहते हैं–

"अत्रापि प्राणव्यपरोमणमस्ति भावलक्षणम्"–प्राण व्यपरोपण भावरूप है। इसलिए आत्मदर्शी मुनि–सम्यग्दृष्टि के प्रमाद के प्रति मौनी होने के कारण मन-वचन-काय की क्रिया रोककर आत्मलीन होने की स्थिति में हिसा आदि (सावध) का स्वयं ही त्याग है। सच्चे मुनि कहो, सम्यक्त्वी कहो, वे ही हैं।

जिनवाणी में जहा हिंसादि पंच पापों संबंधी रौद्रध्यानों का वर्णन है वहा इन अशुभ ध्यानों के सद्भाव का विधान पंचम गुणस्थान तक ही है। मुनि (षष्ठमगुणस्थान) मे सर्वथा ही नही। कहा भी है–"तद्रौद्रध्यानमविरत देशविरतयोर्वेदितव्यं" अर्थात् रौद्र ध्यान अविरत और देश विरत गुण स्थानो मे ही होता है। इससे यह भी समझना चाहिए कि मुनि में जो महाव्रत रूप मे व्रत का विधान है वह मुख्यतः अभ्यन्तर संभाल की दृष्टि से ही है और वास्तव मे मुनि प्रमत्त विरत होने के कारण हिंसा आदि से रहित ही है, अर्थात् जब प्रमाद नहीं तब हिंसा कैसी? यदि कदाचित् कहा जाय कि अपने व्रतो में दोष आने पर मुनिगण को भी प्रायश्चित् का विधान किया गया है तो वहां भी दोष (हिंसा) की उत्पत्ति प्रमाद जन्य ही है और इसलिए (प्रमाद टालने के हेतु) आचार्यों ने अहिसा महाव्रत की भावनाओं मे सर्वप्रथम वाड्मनो गुप्तियो का विधान कर बाद मे कायगुप्ति को अंगभूत ईर्यादि समितियों का उल्लेख किया है–"वाड्मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपण–समित्यालोकित पानभोजनानि पंच"।

उक्त सभी प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि निश्चय दृष्टि से मुनि–मौनी व सम्यग्दृष्टि पर के प्रति अशुभ व शुभ दोनों में पूर्ण मौन है–वह अपने में ही जागरूक है। इसीलिए "मौनमविकलमुनिवृत्त तन्नैश्चयिकं सम्यक्त्वम्" ऐसा विधान किया गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सच्चा मुनि सम्यक्त्वी ही होता है और सम्यक्त्वी ही मुनि हो सकता है। शास्त्रों में मुनियों

के भेदो मे द्रव्यलिगी का जो पाठ आया है वह केवल जनसाधारण के बोध को बाह्यलिग मात्र की अपेक्षा से दिया गया मालूम होता है, वास्तव मे "द्रव्यलिगी मुनि" शब्द नही केवल "द्रव्यलिगी" समझा जाना चाहिए।

जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है :
जिसको तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है–

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी आत्म-हिसा को ही प्रमुखता दी है। वे कहते है–

आत्मपरिणामहिंसन् हेतुत्वात् सर्वमेवहिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।।42।।

अर्थात् आत्म परिणामो (स्वभाव) की हिंसा होने के कारण ही अन्य प्रवृत्तिया हिसा नाम पाती है। अनृत आदि का विधान भी केवल शिष्यो के बोध के लिए है–सभी हिसा मे गर्भित हो जाते हैं। और भी अन्य अनेको दिगम्बर-श्वेताम्वर शास्त्रो मे इसी भाव के उल्लेख मिलते है, जिनमें हिंसा को ही प्रमुखता दी गई है। यथा–

आयाचेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छयों एसो।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसाओं इयरो।।

ओ॰ नि॰ 754

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिसा है और आत्मा ही अहिसा है। जो प्रमत्त है वह हिसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।

"नय हिंसा मेत्तेण सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती अफलाभणिया जिणवरेहि।।"

ओ॰नि॰ 758

केवल बाहर मे दृश्यमान पाप रूप हिंसा से कोई हिसक नहीं हो जाता। यदि साधक अन्टर मे राग-द्वेष रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवो ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।

"जा जयमाणस्सभवे, विराहणा सुत्त विहिसगग्गस्म।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थ विसोहि जुत्त स्स।।"759।।

जो साधनावान् साधक अन्तर विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (हिसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है।

"मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वन्धो, हिंसा मेत्तेण समिदस्स।।"

प्रवचन॰ 3/17

बाहर से प्राणी मरे या जिये, अयताचारी–प्रमत्त को अन्दर में हिसा निश्चित है। परन्तु जो अहिसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समिति वाला है, उसको बाहर से प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबध नहीं है, अर्थात् वह हिसा नही है।

"वीरतो पुण जो जाणं कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थ वि अज्झत्थसमा संजायति णिज्जरा ण चओ।।"

वृ ह॰ भा॰ 3939

अप्रमत्त सयमी (जागृत साधक) चाहे जान मे (अपवाद स्थिति मे) हिसा करे या अनजान मे, उसे अतरग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नही।

"अज्झत्थ विसोहिए, जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंमं गत्तं, जिणेहिं तेलोक्क दरसीहिं।। "

ओ० नि० 747

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवो का कथन है कि अनेकानेक जीव समूहो से परिव्याप्त विश्व मे साधक का अहिसकत्व अन्तर मे अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, वाह्य हिसा या अहिसा की दृष्टि से नही।"

"उच्चालियम्मि पा, इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्जतं जोगमासज्ज।।"

ओ॰ नि॰ 748

यदा कदा ईर्यासमिति लीन साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतग आदि क्षुद्रप्राणी आ जाते है और मर जाते हैं। परन्तु–

"न य तस्स तन्निमित्तो, बन्धो सुहुमीवि देसिओ समए।
अणवज्जो उपओगेण सत्वभावेण सो जम्हा।।"

ओ. नि. 749

उक्त हिंसा के निमित्त से उस साधु को सिद्धांत में सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नहीं बताया है, क्योंकि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन उस हिंसा व्यापार में निर्लिप्त होने के कारण अनवद्य-निष्पाप है।

"जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स या जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होई।।"

ओ. नि. 752

जे बिन वावज्जति, नियमा तेसि पि हिंसओ सोउ।
सावज्जो उपओगेण, सत्वभावेण सो जम्हा।।

ओ. नि. 753

जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते है, वह निश्चित रूप से उन सबका हिसक होता है। परन्तु जो प्राणी नही मारे गये है वह प्रमत्त उनका भी हिसक है क्योकि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन हिसावृत्ति (प्रमाद) के कारण सावद्य है।

**"तुमसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
तुमसि नाम तं चेव जं परियावेमव्वं ति मन्नासि।।"**

अ. चा. 1/5/5।।

जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसको तू परिताप देना चाहता है वह तू ही है।

"जे ते अप्पमत्त सजया ते ण नो आयारंभा,
नो परारभा, जाव अणारंभा।।"

(भग. 111)

आत्मसाधना मे अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरो की हिसा करते हैं। वे सर्वदा अनारंभ—अहिंसक रहते हैं।

"अज्झत्थ विसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्त जिणेहिं तिलोक्क दरसीहि।।"

ओ. नि. 747।।

त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनकानेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर से अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं।

उक्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अध्यात्म में हिंसा-अहिंसा के कथन का साक्षात् सम्बन्ध आत्म-लक्ष्य ही रहा है, बाह्य पर-लक्ष्य से नहीं। साथ ही, यह भी तो विचारणीय है कि क्या अध्यात्मरसिक—मौनी या मुनि के लिये जिस चारित्र का विधान किया गया है वह आत्मकल्याण—मोक्ष की दृष्टि से किया गया है या सांसारिक पुण्य-शुभप्राप्ति की दृष्टि से किया गया है? जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न है, मुनिव्रत—वीतरागरूपचरित्र धारण का उद्देश्य, परनिवृत्ति—स्व-प्रवृत्ति रूप है और स्व-प्रवृत्ति में पर-हेतुक प्रयत्न कैसा? यदि कोई जीव 'पर-रक्षारूप' अपनी प्रवृत्ति करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि अपने मार्ग मे पूर्ण स्वस्थ नही। कहा भी है— भूतवृत्तनुकंपा च सद्वेद्यास्त्रव हेतव:—(तत्वार्थसार आश्रवप्रकरण) अर्थात् पर मे अनुकम्पा—दया (अहिंसा) साता वेदनीय कर्म के आश्रव का कारण है, यानि उस दया से निर्जरा नहीं, अपितु पुण्यबन्ध होता है; और जब बन्ध ा होता है तब विचार उठता है कि क्या मुनिव्रत का उदेश्य बन्ध करना था, या सवर-निर्जरा? और भी 'जीवेसुसाणकम्पो उवओगो सो सुहोतस्स' अर्थात् जीवों मे अनुकम्पा करना शुभोपयोग है।

यह तो माना जा सकता है कि जब तक साधु निवृत्ति में नहीं तब तक अशुभ-प्रवृत्ति न कर के शुभ-प्रवृत्ति करता है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह उसका कार्य कर्त्तव्य रूप नही अपितु शिथिलता-जन्य है, क्योंकि मुनि को चारित्र-धाम कहा है और वह चारित्र 'स्वरूपेचरणं चारित्रं' रूप है। जब तक स्वरूप में रमण नहीं तब तक उसका मुनिपद किसी भी दृष्टि से कहो, सदोष ही है, क्योंक सम्यक् चारित्र का उत्कृष्ट स्वरूप ही इस श्रेणी का है कि वह पर-आश्रित बाह्य-अभ्यन्तर दोनो प्रकार की

क्रियाओं से विराम लेना सम्यक् चारित्र है। व्रत संज्ञा भी विरति को दी गई है प्रवृत्ति को नहीं। कहा भी है--'विरतिर्व्रतम्।'

यदि कोई जीव व्यवहार में हिसा से 'विरत' होता है तो उसे कहा जाता है कि अहिसा मे प्रवृत्त हुआ, अर्थात् जो पहिले हनन् रूप क्रिया कर रहा था वह उससे विरत होकर अहनन् रूप क्रिया में प्रवृत्त हो रहा है। पर यह व्यवहार ही है। वास्तव मे तो वह क्रिया कर ही नही रहा। जो हिंसा रूप क्रिया मे उसका उपयोग था वह हिसा से हटा अर्थात् तत्क्रिया से विरमित हो गया। उसे उसका विकल्प ही नही रहा, और जब विकल्प नहीं रहा तब हिंसा रूप क्रिया की विरोधी 'अहिंसा' रूप क्रिया से भी उसे क्या सरोकार रहा। वह तो अपने भाव में आ गया। जहां तक प्रवृत्ति और निर्वृत्ति का सम्बन्ध है दोनो ही परस्परापेक्षी-विरुद्ध होने से एक के विकल्प मे दूसरे के प्रादुर्भाव की सिद्धि करते है। जहा एक है वहाँ दोनो (अपेक्षा दृष्टि से) ही है। एक स्थल पर चारित्र के 'वर्णन मे' 'पचिदिय सवरण' पद आया है। पाठक विचारेगे कि वहा भी 'सवरण' पद को चारित्र रूप महत्त्व दिया गया है, न कि पचेन्द्रियो की प्रवृत्ति को चारित्र रूप दिया गया, फिर चाहे वह प्रवृत्ति शुभ रूप ही क्यो न हो? बध में कारण-भूत होने से त्याज्य ही है। यदि आचार्य को प्रसग (चरित्र पाहुड 27) मे प्रवृत्ति इष्ट होती तो वे स्पष्ट लिखते कि पच-इन्द्रियों को शुभ से सम्बद्ध करना चारित्र है। पर ऐसा उन्होने लिखा नहीं। उन्होने तो शुभअशुभ दोनो प्रवृत्तियो से विमुख 'सवरण' पद दिया। अन्यत्र एक स्थान पर भी 'रायादीपरिहरण चरण – समय-155, द्वारा परिहार को ही चारित्र बतलाया न कि उनमे बिहार को। यदि राग है, चाहे वह शुभ ही है तो भी वह परिहार नही, बिहार ही है। अतः अध्यात्म मे उस शुभ को भी स्थान नही दिया गया क्योंकि वह पर से ही संबन्धित होगा।

कहने में आता है कि यदि व्रत में प्रवृत्ति निषिद्ध है तो अणुव्रती की अपेक्षा महाव्रती के असख्यात गुनी निर्जरा सिद्धान्त मे क्यों कही गई है? यह तो व्रत का ही प्रभाव है कि उसके असख्यात गुनी निर्जरा होती है।

पर इस स्थल में भी हमें विचार रखना चाहिये कि उक्त असंख्यातगुनी निर्जरा में भी 'विरति' रूप व्रत ही कारण है 'प्रवृत्ति रूप' नहीं। जैसी-जैसी प्रवृत्ति का अभाव है वैसी-वैसी और उस रूप मे निर्जरा है वास्तव मे तो जैन दर्शन में प्रवृत्ति सर्वथा ही निषिद्ध है। साधु व्रत ग्रहण करता है यह तो व्यवहार में कहा जाता है अन्यथा करता तो वह निवृत्ति ही है। किसी साधु ने 'अहिसा महाव्रत' धारण किया इस कथन मे भी विचारा जाय तो अहिसा नामक कोई पदार्थ नही—स्वभाव नही वह तो हिसा क्रिया और हिसा भाव के अभाव का ही नाम है और अभाव को क्या, कैसे ग्रहण किया जायेगा? ये सब प्रश्न है, जो हमे अन्ततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुचाते है कि निर्वृत्ति ही चारित्र है, प्रवृत्ति चारित्र नहीं।

उक्त सभी बातो से स्पष्ट है कि अध्यात्म मे महाव्रतीमुनि, मौनी व सम्यग्दृष्टि मे भेद-बुद्धि का सर्वथा अभाव है, पर निर्वृत्ति ही है प्रवृत्ति नही। इतना ही क्या एक स्थान पर तो आचार्य महाव्रत और तप आदि को (पर-सापेक्ष होने के कारण) भार तक घोषित कर देते है। वे कहते है—'क्लिश्यन्ता च परं महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्'—अमृत ।।142।। अर्थात् महाव्रत और तप के भार से बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश करे तो करो। भाव ऐसा है कि जब तक पर-निवृत्ति और स्वप्रवृत्ति रूप महाव्रत व तप नही तब तक दुख से छुटकारा नही, क्योंकि जब सर्वपरिग्रह-बाह्याभ्यन्तर विकल्प मात्र के त्याग मे दिक्षा का विधान है तब दीक्षा से संभावित मुनि और मौनि अथवा सम्यग्दृष्टि के विकल्प कैसा? वहा तो सर्व परिग्रह का त्याग होना ही चाहिये। कहा भी है—'पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता' अर्थात् सर्व संग (परिग्रह-पर-ग्रह, विकल्प भी) का त्याग ही 'प्रव्रज्या' है। एतावता जहा मौन का सम्बन्ध है, मौनी, मुनी, सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मे अहिसा आदिक महाव्रतो का भाव आत्मभाव से ही है पर-शुभाशुभ विकल्पो से नही।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति तो चारित्र के लक्षणों में स्पष्ट उल्लेख कर रहे है। उनका भाव है कि अध्यात्म में चारित्र का जो स्थान है वह व्यवहार में नहीं है और व्यवहार मे चारित्र का जो स्थान है वह अध्यात्म

मे नही है। जब एक ओर समस्त क्रियाओ की निर्वृत्ति चारित्र है तो दूसरी ओर प्रवृत्ति को चारित्र समझा जाता है। वे लिखते है व्यवहार में–

'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्तीय जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणिय।।

–द्रव्य. 45

अशुभ से निर्वृत्ति शुभ में और में प्रवृत्ति–व्रतसमितिगुप्तिआदिरूप व्यवहार चारित्र है। फलितार्थ यह हुआ कि उक्त प्रवृत्ति रूप चारित्र उन जीवों की अपेक्षा से है जो अध्यात्म स्वरूप में नहीं पहुच पाये हैं और परवश है, जिन्हें प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं मिल सका है। जिन जीवो ने पर को पर समझा और अनुभवा है, ऐसे सम्यग्दृष्टि की दृष्टि (आध्यात्मिक दृष्टि) में तो प्रवृत्ति, प्रवृत्ति ही है–पर-रूप और विकल्पात्मक है, वहां मौन अथवा मुनित्व नहीं है। उनके लिए तो आचार्य कहते हैं–

'वहिरब्भन्तरकिरिया रोहो भव कारणप्पणासट्ठ।
णाणिस्स ज जिणुत्त त परमं सम्मचारित्तम्।।

द्रव्य. 46

बहिरंग और आभ्यतर दोनों प्रकार की क्रियाओं का रोघ संसार के कारणो–आश्रव-बंध को नष्ट करने वाला है और वह जिनेन्द्र देव ने ज्ञानी को बतलाया है। वही पूर्ण और सच्चा चारित्र है। एतावता ऐसे चारित्र को धारण करना अपना कर्तव्य मान आध्यात्मिक दृष्टि, प्रवृत्ति मार्ग में सर्वथा दूर–मौनी रहता है और इसीलिए वह सम्यग्दृष्टि और मुनि भी है और इसीलिए मुनित्व में मुक्ति भी हैं। वह निर्ग्रन्थ है, परिग्रह और सांसारिक वासनाओं से विरक्त है। उसमे जो कुछ भी आश्रव-बध की छटा होती है वह सब प्रवृत्ति रूप की ही है–मुनि अथवा मौन रूप की नहीं। इससे स्पष्ट है कि अध्यात्म मे अहिसा आदि, स्व की अपेक्षा से ही है पर की अपेक्षा से नहीं। कहा भी है–

'परमट्ठो खलु समओ'–समय सार 151।– निश्चय से आत्मा ही परमार्थ है। अतः आत्मा के ही सन्मुख होना चाहिए। यदि कोई जीव आत्मा का लक्ष्य तो करे नहीं और पाप निर्वृत्ति कर पुण्य रूप शुभ कर्म

में प्रवृत्त हो, उसे ही कल्याण–परमपद मोक्ष– का हेतु मानने लग जाय– जिन वचनों का लोपकर स्वच्छन्द हो जाय–तो उसके व्रत-तप आदि बाह्याचार बालतप ही कहलायेगे, क्योंकि–

'परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
सव्वं बाल-तवं बाल-वदं विति सव्वण्हू।।

–समयसार, 152

'जो जीव परमार्थ–आत्मा में स्थिर नहीं रहते और बाह्य मे व्रत-तप को धारण करते है, उनकी समस्त व्रत-तप रूप क्रियाओं को सर्वज्ञ देव ने बाल-तप और बाल-व्रत कहा है। अर्थात् ऐसा तप शुभ में प्रवृत्तिरूप होने से ससार का ही कारण है। यदि कोई जीव ऐसा माने कि पुण्य की प्राप्ति मे भी मोक्ष हो तो उसका मानना भ्रम ही है। आचार्य कहते हैं कि–

'परमट्ठि वाहिराजे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति।
संसार गमण हेदु विमोक्ख हेदुं अजाणन्ता।।

–समयसार, 154

जो जीव परमार्थ से विमुख है वे अज्ञानी होने के कारण पुण्य की इच्छा करते है। वास्तव मे पुण्य तो संसार गमन–परिभ्रमण का ही हेतु है। ऐसे जीवों को मोक्षमार्ग से अज्ञ ही समझना चाहिये। जिन व्रतों का अशुभ निर्वृत्ति और शुभ-प्रवृत्ति रूप में लिया जाने का चलन सा चल चुका है। वास्तव मे उनकी स्थिति ससारलाभ प्रदान करने तक ही सीमित है और इसीलिये आचार्यों ने उन व्रतादिकों को आश्रव-अधिकार-रूप सप्तम अध्याय में ही प्रदर्शित किया है, सवर और निर्जरा रूप नवम अधिकार में नही। पचाध्यायीकार भी व्रतादि को सर्वथा बन्ध का कारण ही घोषित करते हैं। वे लिखते है–

'सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणा त्यागः सैषात्मनि कृपा।।'

पंचा-752

प्राणियों में दया–अहिंसा भाव करना बाह्य (लौकिक-व्यवहार) व्रत है। वास्तविक व्रत तो अतरंग की कषायों (रागद्वेषादि विकल्पों) का त्याग ही है।

अर्थाद्रागादयो हिसा चास्त्यधर्मोव्रतच्युतिः।
अहिसा तत्परित्यागो व्रत धर्मोऽथवा किल।।

पचा-754

अर्थात् रागादिभाव ही हिसा है, रागादिभाव ही अधर्म है, और रागादिभाव ही व्रत-च्युति है और रागादिभावो का त्याग ही अहिसा हे, रागादिभावों का त्याग ही धर्म है, रागादि भावो का तयाग ही व्रत है।

'रूढे शुभोपयोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसज्ञया।
स्वार्थ क्रियामकुर्वाण सार्थनामास्ति दीपवत्।।'

पचा-759

यद्यपि रूढि से शुभोपयोग भी चारित्रनाम से प्रसिद्ध है परन्तु ऐसा चारित्र निर्वृत्ति रूप न होने के कारण निश्चय से चारित्र नही है।

'किन्तु बन्धस्य हेतु स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वर, वर य स नापकारोपकारकृत्।।'

पचा-760

रूढि के वश से चारित्र सज्ञा को धारण करने वाला चारित्र, बन्ध का हेतु होने के कारण श्रेष्ठ नही है। श्रेष्ठ तो वह है जो अपकार अथवा उपकार कुछ भी न करे अर्थात् श्रेष्ठता परापक्षीपन मे न होकर स्वाश्रय मे ही है और शुभ-अशुभ दोनो पर होने से सर्वथा हेय हे।

'नोह्य प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतु रजसा।
अस्ति नावन्धहेतुर्वा शुभोनाप्यशुभा वह ।।'

पचा-762

बुद्धि विभ्रम से ऐसा भी विचार नही करना चाहिए कि ऐसा शुभोपयोग रूप चारित्र एकदेश निर्जरा का कारण है, क्योक न तो शुभोपयोग ही अवन्ध का हेतु है और न अशुभोपयोग ही अवन्ध हेतु हे।

आवार्यकुन्द कुन्द प्रवचनसार मे लिखते है–

'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध सपओगजुदो।
पावदि णिव्वाण सुह सुहोवजुत्तो व सग्गसुह।।

–प्रवचनसार

'धर्म (निश्चय और व्यवहार) से परिणत आत्मा जब शुद्धोपयोगी होता है तब निर्वाण पद को प्राप्त करता है और जब शुभोपयोग युक्त होता है तब स्वर्ग (आदि) के सुखों को प्राप्त करता है। इसमे भी निश्चय (अध्यात्म) मार्ग मे निर्वृत्ति (शुभ से भी) को ही प्रमुखता दी है। आचार्य अमृतचन्द्र जी लिखते है–

'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या सगच्छते तदा स प्रत्यनीक शक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थ· कथचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्रघृतोपसिक्तपुरुषोदाहदुखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति। अतः शुद्धोपयोग· उपादेयः शुभापयोगो हेयः।

अर्थात् धर्मपरिणत स्वभाव वाला यह आत्मा जब शुभोपयोग परिणति से परिणत होता है तब विरुद्ध (बाधक) शक्ति के उदय में कथंचित् विरुद्ध कार्यकारी चारित्र के कारण स्वर्ग सुख के बधन को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे अग्नि से तप्त घृत से स्नान करने पर पुरुष उसके दाह से दुखी होता है, अर्थात् इसके सवरनिर्जरा के विरोधी आश्रव और बन्ध होते है। अत· ज्ञानी जीवो को मात्र शुद्धोपयोग (आत्मरूप) उपादेय और शुभ उपयोग हेय है।'

इसी प्रसग मे श्री जयसेनाचार्य का अभिमत भी देखिए–

' ··यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलोत्पादक स्वर्गसुख लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्री सद्भावे मोक्ष च लभते इति सूत्रार्थः हेयः।

अर्थात् जब शुभ योग रूप सराग चारित्र मे परिणमन करता है तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख के स्थान पर उससे विपरीत अर्थात् आकुलता को उत्पन्न करने वाले स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है। बाद में परम समाधि सामग्री के सद्भाव मे मोक्ष भी प्राप्त करता है। भाव ऐसा है कि इसे शुभ से आत्म-लाभ त्रिकाल मे भी नही होता। क्योकि इस प्रकार के शुभ तो ये अनादि काल से अनन्तो बार करता रहा। अत. निष्कर्ष ऐसा लेना चाहिए कि इस जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिये परम समाधि लेने मे सम्यग्दृष्टि का विश्वास होता है। अत सम्यग्दृष्टि वस्तुतः

शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, परापेक्षीव्रत-अव्रत आदि परकृत भावों में समता भाव रखकर उनके प्रति मौनी है।

प्रकृति के विभिन्न रूपों की समष्टि संसार है और इस समष्टि के आधार पर ही यह चर-अचर जगत् अपने विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है। थोड़ी देर के लिये हम ऐसी कल्पना करें कि संसार का प्रत्येक पदार्थ हमें अपने-अपने शुद्ध—एकाकी रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है और किसी से किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी हमारी कल्पना हमे अन्ततोगत्वा संसार से दूर पहुंचाने की साधन ही बनेगी। इसका भाव ऐसा है कि जब प्रत्येक पदार्थ के शुद्ध रूप की झलक ससार, शरीर और भोगों से विरक्त करा मुक्त पद प्राप्त कराती है तो इससे विपरीत अर्थात् अशुद्ध रूप अवस्था की कल्पना हमें संसार करायेगी तात्पर्य ऐसा है कि मिलाप का नाम संसार और पृथक्त्व का नाम मोक्ष है।

जब हम संसार में हैं और संसार व्यवहार में आये बिना हम इस संसार में सुखी नहीं रह सकते, तब यह आवश्यक है कि हम अपने संसार-व्यवहार को सही बनाने का प्रयत्न करें। जब हम पर के सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का ध्यान नहीं रखते तब हमें भी अधिकार नहीं कि अपने सुखदुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण का ध्यान रखने की दूसरों से अपेक्षा करें।

स्वभावतः ही प्राणी में चार संज्ञायें पाई जाती हैं। इन्हें पूर्व जन्म के संस्कार कहो, या जीव का अपना मोहअज्ञान कहो, इनसे सभी संसारी प्राणी वद्ध हैं, चाहे वे मनुष्य हों या तिर्यंच। छोटे से छोटा और बडे से बडा जीव आहार करता है—यहां तक कि दृष्टव्य भौतिक शरीर छोड़ने (मरने) पर, जब यह जीव जन्मांतर में नवीन शरीर को धारण करने जाता है, तब भी इसे अधिक से अधिक तीन समय तक निराहारी रहने का अधिकार है, अन्यथा सर्वकाल और सब-स्थितियों में इसका आहार से छुटकारा नहीं। शेष तीन संज्ञायें इसी आहार पर अवलम्बित हैं।

❑

भगवान पार्श्व के पंचमहाव्रत

दिगम्बर मान्यतानुसार, जैन आगमों की वर्तमान शृंखला, युग के आदिनेता तीर्थंकर ऋषभदेव से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मार्ग को सभी तीर्थंकरों ने समान रूप में प्रवर्तित किया है। इसके मुख्य कारण ये भी हैं कि–

1. सभी तीर्थंकर सम-सर्वज्ञ थे अर्थात् सबका ज्ञान पूर्ण सदृशता को लिए था।
2. सभी की देशना निरक्षरी थी।[1]
3. सभी की सर्वज्ञावस्था की प्रवृत्ति मन के विकल्पों से रहित थी। उसमें हीनाधिक वाचन को स्थान (विकल्पों के अभाव में) नहीं था।

तीर्थंकरों ने साधुओं के मूलगुण 28, आचार्यों के 36 और श्रावकों के व्रत 12 ही बतलाए। इन सबकी संख्या में और सभी के लक्षणों में कोई भेद नहीं किया। इसी प्रकार धर्म 10, पाप 5 और संज्ञा 4 की संख्या और लक्षणों में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया', 'बीच के बाईस तीर्थंकरों के समयों में भी चार ही महाव्रत थे'–आदि, उपयुक्त नहीं जँचता और ऐसी घोषणाओं में कि 'तत्कालीन लोगों की बुद्धि तीव्र या मंद थी या वे सरल और कुटिलता के भेद को लिए हुए थे' आदि कारण बताना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

---

1 'महावीर. देह में भी विदेह थे उन्हीं की 'निरक्षरी. वाणी की अनुगूंज वातावरण में है

—समणसुत्त, भूमिका पृ० 16

'गणधर—जो अर्हन्तोपदिष्ट ज्ञान को 'शब्दबद्ध करते हैं। —वही, पर० शब्दकोष पृ०264।

समणसुत्त—'यह एक सर्व सम्मत प्रातिनिधिक ग्रन्थ है।'—वही, भूमिका

जहाँ तक मै समझता हूँ 'चातुर्याम' की मान्यता की स्पष्ट घोषणा श्वेताम्वर आगमो की है[1]। इसी के अनुरूप सयम के प्रसग में दिगम्बरों मे भी एक उल्लेख पाया जाता है।[2] दिगम्बरों की ओर से चातुर्याम की कई बार कई विद्वानो ने पुष्टि की है। जैसे—

1. 'पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया था।'
2 'चातुर्याम रूप धर्म के सस्थापक पार्श्वनाथ थे यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।'
3. 'भगवान पार्श्वनाथ के द्वारा संस्थापित चातुर्याम धर्म के आधार पर ही भगवान महावीर ने पंच महाव्रतरूप निर्ग्रंथ मार्ग की स्थापना की।'

जहां तक मुझे स्मरण है—इन्दौर से प्रकाशित 'तीर्थकर-मासिक' के 'राजेन्द्रसूरि-विशेषाक मे भी दो विद्वानों के लेखो में ऐसी ही बाते दुहराई गई थी। इस समय मेरे समक्ष अंक न होने से उद्धरण नही लिख पा रहा हू। यदि दि॰ विद्वानो की चातुर्याम संबधी बात को माना जाय—जैसा कि होना भी चाहिए तो निम्न प्रश्नो पर विचार कर लेना आवश्यक है—

1 दि॰मान्यता मे चातुर्याम स्वीकार करने पर साधुओ के 28 मूलगुणो की संख्या कैसे पूरी होगी? क्योंकि ब्रह्मचर्य अपरिग्रह मे गर्भित होने से महाव्रतो में एक कम करना पड़ेगा।
2. क्या कही साधुओं के मूलगुण 27 होने का उल्लेख है?
3 आचार्यों के मूलगुणो मे 36 के स्थान पर 35 की ही सख्या रह जायगी (एक महाव्रत तो कम हो ही जायगा) आकिचन्य मे करना अनिवार्य हो जायगा। इस आपत्ति का निराकरण कैसे होगा?
4. क्या कही आचार्य के मूलगुण 25 होने का उल्लेख है?

---

1 'चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पचसिक्खिए।
दसिओ वड्ढमाणेण पासेण य महामुणी।। —(उत्तरा० 23/12)
पुरिमा उज्जुजड्डुनाउ वक्कजड्डाय पच्छिमा।
उज्जुपन्नाउ तेण धम्मे दुहमज्झिमाए कए।।' —(उत्तराध्ययन, 23/26)

2 'वावीस तित्थयरा सामायिय सजम उवदिसंति।
छेद्दुपठावणिय पुण भयव उसहो य वीरो य।।' —(मूला 7/533)
पुरिमा य पच्छिमा विहु कम्पाकप्प ण जाणंति।।' —(मूला 7/535)

3 'युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह ।'

5. क्या चातुर्याम और पंचमहाव्रत की विभिन्न मान्यताओं में तीर्थंकरों की देशना की विशेष ध्वनि रूप या अनक्षरी मानने में बाधा उपस्थित न होगी?
6. क्या विभिन्न स्वभाव और विभिन्न बुद्धि के लोगों की अपेक्षा से हुई ध्वनि में मन का उपयोग न होगा?
7. क्या कहीं उन पापों की संख्या चार मानी गई है जिनके परिहार रूप चातुर्याम होते हैं? यदि बाईस तीर्थंकरो ने चार पाप बतलाए हों तो उल्लेख ढूंढना चाहिए। शायद कहीं कुशील को परिग्रह में सम्मिलित कर दिया हो?
8. संज्ञायें चार के स्थान में कहीं तीन बतलाई हैं क्या? यतः मैथुन परिग्रह में अन्तर्भूत हो जाएगा।
9. महावीर ने दीक्षा के समय चातुर्याम धारण किए या पंचमहाव्रत? यदि पंचमहाव्रत धारण किए तो वे 22 तीर्थंकरों की परम्परा में कैसे माने जाएंगे? यदि चातुर्याम में दीक्षित हुए तो आदि के तीर्थंकर की धर्म परम्परा में कैसे माने जायेंगे?
10. क्या कहीं 10 धर्मों के स्थान पर, ब्रह्मचर्य को आकिंचन्य में गर्भित किया गया है और धर्मों की संख्या 9 बतलाई गई है?
11. [1]स्त्री को परिग्रह मे गिनाया गया है या नहीं? यदि गिनाया गया है तो संख्या के परिमाण की दृष्टि से अथवा भोग की दृष्टि से?

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जायेंगे। ऐसे प्रश्नों के निराकरण के अभाव में समस्त आगम ही सावरण (सदोष) हो जायेंगे। अतः दि. विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वे पुनर्विचार करें। मेरी बुद्धि में तो ऐसा है कि सभी तीर्थंकरों के उपदेश समान रहे हैं। कहीं किंचित् भी अन्तर नहीं आया है। जो भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह सब आचार्यों की देन है : जो उन्होंने समय-समय पर लोगों की दृष्टि से किया है।

---

1 'क्षेत्र वस्तु धन धन्य, द्विपद च चतुष्पादम्।
बाह्यानां गोमहिष मणिमुक्तादीना चेतनाचेतनानाम्।।'–

यदि हम श्वेताम्बर परंपराओं के उल्लेखों पर विचार करें तो हमें वहां ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि पार्श्व से पूर्व भी पंचमहाव्रतों का चलन रहता रहा है। आचार्य हेमचन्द जी पार्श्वनाथ द्वारा दिए उपदेश को जिस भांति बतलाते है उससे ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह मे गर्भित नहीं माना जा सकता अर्थात् पार्श्वनाथ द्वारा ब्रह्मचयं और अपरिग्रह को एक किया गया हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। यथा–

'सद्विधा सर्वविरति देशविरति भेदतः।
संयमादि दशविधो, अनगाराणां स आदिम.।।'

(त्रि. श. पु. च. पर्व 9, सर्ग 3)

यह पार्श्वनाथ का उपदेश है। इसमें **मुनिधर्म, संयम** आदि के रूप में दश प्रकार का बतलाया है। ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव अपरिग्रह में नहीं किया गया। यदि तीर्थंकर को दोनों में से एक ही रखना इष्ट होता है तो वे धर्मों में दश के स्थान पर नौ का ही विधान करते। आगमो में जो संयम कहे हैं वे हैं–

'खंती य मद्दब अज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जइ धम्मो।।'

2. पार्श्व से पूर्व तीर्थंकर नेमिनाथ ने वरदत्त को जो उपदेश दिया है उससे भी पंच महाव्रतो की पुष्टि होती है। उन्होंने 'सावद्य योगविरति' को चारित्र कहा। और अवद्यो (पापों) की संख्या सदा पांच रही है अतः पाच पापों की पृथक्-विरति पंचमहाव्रतों को ही सिद्ध कर सकती है। श्लोक इस प्रकार है–

सावद्य योगविरतिश्चारित्रं मुक्तिकारणम्।
सर्वात्मना यतीन्द्राणां, देशतः स्यादगारिणाम्।।

–(त्रि. श. पु. च. पर्व 8 सर्ग 9)

3. दीक्षा ग्रहण करते समय तीर्थंकर पांचों पापों के सर्वथा त्याम की घोषणा करते हैं। परिग्रह गर्भित अब्रह्म जैसे चार के त्याग की घोषणा

नहीं करते और न कहीं पापों की चार संख्या का विधान ही किया गया है। तीर्थंकरों की घोषणा है–

'सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं।'

4. सुमतिनाथ के जीव ने पुरुषसिंह राजा रूप पूर्वपर्याय में विनयनंदन आचार्य से पांच महाव्रतों का उपदेश सुना–'सीलमइयो उण धम्मो पंचमहव्वय परिपालणं खंति मद्दव-अज्जव संतोसचित्तथिरीकरणं...।'

...चउप्पण्ण महापुरुष चरियं पृ. 73

5. नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के उपदेश में त्रेसठ शलाका पुरुष चरित्र में पापों की सख्या 5 है अतः फलित होता है कि पापपरिहार रूप महाव्रत भी 5 ही रहे हैं–

'हिंसानृतस्तेयाऽब्रह्ममहारम्भपरिग्रहाः। –120,

–(त्रि. श. पु. च. पर्व 3 सर्ग 7 पृ. 96)

6. तीर्थकर अरिष्टनेमि के समय में ब्रह्मचर्य की गणना स्वतंत्र रूप से होती रही है–अपरिग्रह में नहीं, ऐसे भी प्रमाण मौजूद हैं। उस समय भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात (मुनि अवस्था में) पृथक् रूप से निर्दिष्ट होती रही है। विवाह के प्रसंग में (जब नेमिनाथ राजुल से विवाह नहीं करना चाहते तब राजघराने की) अन्य रानियां नेमिनाथ से कहती हैं–

'समये प्रतिपद्येथा ब्रह्मापि यथारुचिः।
गार्हस्थ्ये नोचितं ब्रह्म, मंत्रोद्गार इवाशुचौ।।'

–(त्रि. श. पु. च. पर्व 8।105 हैमचन्द्राचार्य)

7. तीर्थकर नेमिनाथ की एक भविष्यवाणी में भी ब्रह्मचर्य की बात स्पष्ट है और अपरिग्रह से उसे नहीं जोड़ा गया है। इससे भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य पृथक् रूप से स्वतन्त्र रूप में माना जाता रहा है:–

'पुरा नमिजिनेनोक्तं नेमिरर्हन् भविष्यति।
कुमार एव सन्नेव, नार्थो राज्यश्रियाय तत्।।35।।
प्रतीक्षमाणः समयं जन्मतो ब्रह्मचर्यंयम्
अदास्यते परिव्रज्यां मान्यथा कृष्ण, चिन्तय।।36।।

उक्त आकाशवाणी है, जो अरिष्टनेमि के संबंध में 21वें तीर्थंकर

नमिनाथ द्वारा कभी (पहिले) की गई भविष्यवाणी को इंगित करती है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य की महिमा 21वें तीर्थंकर के समय में भी पृथक् रूप से गाई जाती रही है, अपरिग्रह गर्भित रूप में नहीं।

8. भगवान पार्श्वनाथ से पहिले के तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने थावर्चापुत्र को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और उन्हें 1000 शिष्यपरिवार वाला करके बिहार की आज्ञा दी। थावर्चापुत्र अपने शिष्यों के साथ बिहार करते-करते सौगन्धिका नगरी में पहुँचे। उस नगरी में सुदर्शन नामक सेठ रहता था। उस सेठ ने पहिले कभी किसी 'शुक' नामक सन्यासी से सांख्यमत का उपदेश सुना था और वह सॉख्यमत का श्रद्धानी हो गया था। जब वह उनके पास गया। थावर्चापुत्र को देखकर सुदर्शन सेठ ने पूछा कि आपका धर्म कैसा है? तब थावर्चापुत्र ने धर्मोपदेश मे "पंचमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश किया। यदि बीच के तीर्थंकरों के समय में चातुर्याम ही थे तो बाईसवे तीर्थकर के साक्षात् शिष्य ने पंचमहाव्रतों को धर्म क्यो कहा? वे चातुर्याम रूप में ही उनका व्याख्यान करते। इसका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि पंचमहाव्रतो का पूर्व सभी तीर्थंकरों के समय में एक जैसा चलन ही रहा है। प्रसंग का मूल इस भांति है–

'तत्तेण थावच्चापुत्ते अणगारे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराण अंतिए सामाइयमाइयार चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जति बहूहि जाव चउत्थ बिहरति।।29।।

'तत्तेण अरहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगार सहस्सं सीसत्ताए दलयति।।30।। –(ज्ञाताधर्मकथा, सेलगराजर्षिअध्ययन 5, पृ.444 श्री अमोलक ऋषि, सिकंद्राबादप्रकाशन)

सुदर्शन का थावच्चापुत्त से प्रश्नोत्तर–

'तुम्हाणं किं मूलये धम्मे पण्णत्ते? तत्तेणं थावच्चापुत्ते सुदसणेणं एवं बुत्ते समाणे सुदंसणं वयासी–सुदंसणा विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। सेविय विणए दुविहे पण्णते तं जहा–आगार विणएय अणगार विणएय तत्थणं जे से आगार विणए सेवयं पंच अणुव्वयाइं सत्त सिक्खायाइ, एक्कारस उवासग

पडिमाआत्तो। तत्थणं जे से अणगार विणए सेणं पंच महव्वयाई तं जहा– सव्वओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वा ओ मुसावायओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं················।।41।।–(वही पृ. 250)

9. यद्यपि अभिधान राजेन्द्रकोष में जहाँ परिग्रहों (बाह्य परिग्रहों–का संकेत है वहाँ उनमें 'द्विपद' का उल्लेख है–स्पष्ट रूप में स्त्री का उल्लेख नहीं है। यथा–'धनं धान्यं क्षेत्र वास्तु रूप्यं सुवर्ण कुप्यं द्विपदः चतुष्पदाश्च।' तथापि यदि यथाकथंचित् स्त्री को द्विपद रूप परिग्रह माना जाता है तो वह मात्र संख्या-परिमाण की दृष्टि से ही माना जा सकता है। मिथुन संबंधी भाव या कर्म से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता। यह परिमाण की बात परिग्रहण परिमाण नामक श्रावक व्रत के अतीचारों का वर्णन करने वाले सूत्र से भी पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। उस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमाणातिक्रमः' पद देकर "संग्रह मर्यादा" को ही इंगित किया है अभिधान राजेन्द्र कोष में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है–'णाणामणिकणगरयण महरिहपरिमल "सपुत्तदार" परिजन दासीदास..........।'

उक्त पद में आए 'सपुत्तदार' शब्द का विश्लेषण करते हुए कोषकार लिखते हैं–'सपुत्रदारा· सुतयुक्तकलत्राणि।' इससे भी "परिमाण" को ही बल मिलता है। जैसे किसी ने एक दासी या दास का परिमाण रक्खा तो वह उसके परिमाण में रहने के लिए 'सुतयुक्त दासी' को नहीं रख सकता। क्योंकि यदि वह रखेगा तो उसकी एक संख्यारूपपरिमाण में दोष आ जायगा। यतः दासी के साथ रहने के कारण उसका पुत्र भी दास कार्य में सहायक सिद्ध होगा और व्रती के व्रत-भंग का कारण होगा।

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि जिस भाव में ब्रह्मचर्य है वह भाव अपरिग्रह से अछूता है अतः एक में दूसरे का समावेश नहीं हो सकता। हाँ, यदि खींचतान करके समावेश माना ही जाय तो चोरी आदि पाप भी परिग्रह में गर्भित किए जा सकते हैं अथवा एक अहिंसा महाव्रत में भी सभी व्रत सम्मिलित हो सकते हैं। पर, ऐसा किया नहीं गया। सभी

महाव्रत आदिनाथ युग से महावीर युग तक चलते रहे हैं। अतः चातुर्याम धर्म पार्श्व का है ऐसा कथन निर्मूल बैठता है।

चउप्पण्ण महापुरिस चरिउ में पांचवे तीर्थंकर सुमतिनाथ के पूर्वभव का वर्णन करते हुए लिखा है–पुरिस सिंह राजा ने विनयनंदन आचार्य से धर्मश्रवण किया–

'सीलमइओ उणधम्मो पंचमहव्वय परिपालणं·······'–पृ. 78

त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व 3 सर्ग 3 पृष्ठ 64 का एक उद्धरण है–

'महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरुवो मताः।।896।।
सर्वाभिलाषिण· सर्वभोजिनः सपरिग्रहः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरुवो न तु।।897।।

इसमें गुरु (मुनि) के लक्षण का निर्देश है और यह निर्देश तीर्थकर अजितनाथ के समय का है। इसमें विपुला नामा गणिनी शुद्धभद्र की पत्नी सुलक्षणा को गुरु की पहिचान बतलाते हुए कहती है कि–गुरु को सामायिक चारित्री, महाव्रती, भिक्षोपजीवी और धर्मोपदेशक होना चाहिए। जो इसके विपरीत सर्वाभिलाषी, सर्वभोजी, सपरिग्रही, अब्रह्मचारी व मिथ्योपदेशदाता हैं वे गुरु नहीं हैं।

इससे ध्वनित होता है कि यदि बीच के 22 तीर्थंकरों के समय मे 'चातुर्याम' ही होते तो उक्त श्लोक में परिग्रह ओ अब्रह्म दोनो का पृथक्-पृथक् निर्देश न होता अपितु मात्र 'सपरिग्रहाः' का ही समावेश होता।

'अभिधान राजेन्द्र' में एक उद्धरण है' तं जहा–सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ, आदिन्नादाणाओ, सव्वाओ, बहिद्धादाणाओ वेरमणं ·······। –अभि. रा. भाग 3 पृ. 1168 ठाणा. 4 सूत्र 136)

टीका–'(वहिद्धादाणाओत्ति) बहिद्धा मैथुनं, परिग्रह विशेषः आदानं च परिग्रहः–तयोद्वन्द्वैकत्वम्····इहच मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यत इति।' –वही··· टीकाश; स्थानांग पृ. 202, भगवती सूत्र शतक 1 उद्दे. 9 पृ. 209

उक्त उद्धरण में चातुर्याम में से अन्तिम याम को 'बहिद्धादाणविरमण' नाम से कहा गया है और टीका में बहिद्धा का अर्थ मैथुन और आदान का अर्थ

परिग्रह किया गया है। दोनों में द्वन्द्व समास करके उन्हें एक बना दिया गया है।

विचारणीय यह है कि द्वन्द्वसमास में जब 'समस्त' दोनों पद उपस्थित हों तब कोई पद अपने मुख्यार्थ की सत्ता को अपने से पृथक् छोड़ देता है क्या? जबकि एक शेष-द्वन्द्व समास में (जहाँ एक पद का अस्तित्व सर्वथा लुप्त हो जाता है) भी लुप्त पद का अर्थ पृथक् रूप से कदापि लुप्त नहीं माना गया—वह पृथक् ध्वनित होता है। फिर 'वहिद्धादाणं' में तो समास होने पर दोनों ही पद मौजूद हैं। एतावता दोनों का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि—यदि 'आदान' का अर्थ परिग्रह है तो उसकी पूर्ति तो 'आदिन्नादाणाओ' में गृहीत 'आदान' शब्द से हो जाती है। ऐसे में 'समिद्धा विरमणं' ही पर्याप्त था या आदिन्नादाणाओं के स्थान में 'आदिन्नाविरमणं ही पर्याप्त था। उक्त स्थिति से तो यही फलित होता है कि व्याकरण के नियमानुसार आदान शब्द के दोनों प्रयोगों मे, एक प्रयोग व्यर्थ है और व्यर्थ रह कर वह ज्ञापन करा रहा है कि (व्याकरण में शब्द व्यर्थ में प्रयुक्त नहीं होते) पाचों यामों का ही अस्तित्व रहा है—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह दोनों ही स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए हैं।

इसी टीका में एक स्पष्टीकरण यह भी दिया गया है कि अपरिगृहीता योषित् भोगी नहीं जाती—मैथुन परिगृहीता में ही शक्य है इसलिए बहिद्धा के साथ आदान—(परिगृहीत) का समावेश है। लेकिन यह विषय भी आगम बाह्य है यतः—उमास्वाति स्वामी ने जहाँ ब्रह्मचर्य के दोषों को गिनाया है वहाँ स्पष्ट लिखा है—'परिगृहीताऽपरिगृहीतागमन' अर्थात् दोनों (परिगृहीता और अपरिगृहीता के ही सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट घोषणा है कि दोनों ही दोष के भागी होंगे—यदि अपरिगृहीता में दोष की संभावना ही न होती तो वे उसका ग्रहण न करते।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपरिगृहीता में मैथुन शक्य नहीं' यह भ्रम ही 'ब्रह्मचर्य-याम' को गौण या लुप्त करने में कारण रहा है। यतः—चूंकि मुनि सर्वथा स्त्री रहित होता है, उसके परिगृहीता मानी ही नहीं गई तो वह स्वभाव से (परिगृहीता रहित होने से) ब्रह्मचारी ही सिद्ध हुआ—अतः उसके

लिए इस याम की आवश्यकता प्रसिद्ध नहीं की जाती रही और चार-याम प्रसिद्ध कर दिए गए। और श्रावक के लिए (उसके गृहस्थ—परिगृहीता सहित होने के कारण) इस नियम का विधान जारी रक्खा गया ताकि वह इसमें सावधान रहता हुआ संयम का (यथाशक्ति) पालन कर सके। इसीलिए दो प्रकार के भेद माने गए—याम चार और अणुव्रत पाँच। अन्यथा दोनों ही 4-4 या 5-5 होने चाहिए थे।

एक प्रश्न यह भी महत्व का है कि—

'पुरिमा उज्जुजड्डाओ, वक्कजड्डाउ पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जपण्णाउ तेण धम्मे दुहा कए।।'

आदि की स्थिति यामों पर ही क्यों मानी जाय? क्यों न अणुव्रतों को भी चार ही माना जाय। क्या उक्त स्थिति का प्रभाव मुनियों पर ही पड़ा? या उन दिनों सभी श्रावक ऋजु-जड थे और सभी मुनि ऋजु-प्रज्ञ? ऐसा तो सर्वथा असम्भव है कि ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम सब मुनियों का एक-सा हो और सब श्रावको का एक-सा। इससे तो कर्म के उदय, उपशम और क्षयोपशम आदि का सिद्धान्त ही खटाई में पड़ जायगा। फिर एक तथ्य यह भी है—

एक धारा में यामों की संख्या तीन भी मिलती है। यथा—
'जामा, तिण्णि उदाहया, जेसु इमे आरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया।'

—आचारांग 8।1।6

भाषा—'भगवन्त ने महाव्रत के मुख्य तीन भेद कहे हैं—अहिंसा, सत्य और निर्ममत्व। क्योंकि ये तीनों ममत्व-भाव से होते हैं। इसमें आर्यपुरुष समझ के सावधान होते हैं'। 'टिप्पण—चोरी, मैथुन व परिग्रह ये तीनों निर्ममत्व में आ जाते हैं'। —वही, अमोलक ऋषिजी

बहुत से व्याख्याता जो याम का अर्थ अवस्था करते हैं उन्हें उक्त प्रसंग पर श्री शीलांकाचार्य की टीका देखनी चाहिए। तथाहि—

'यामा' व्रत विशेषाः त्रय उदाहृता, तद्यथा—
प्राणातिपातो मृषावादः परिग्रहश्चेति; अदत्तादान—
मैथुनयोःपरिग्रह एवान्तर्भावात् त्रय ग्रहणम्।'—

इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि ये तीन याम किन तीर्थंकरों ने बतलाए और किनके समय में प्रचलित थे। इस ऊपर के प्रसंग से स्पष्ट है कि याम सदा पाँच ही रहे—पर लोगों के कथन में (न्यूनाधिक की अपेक्षा में) संख्या भेद रहा। सामान्यतः याम एक भी हो सकता है और विशेषतः 2 से 5 तक हो सकते हैं।

आवश्यक सूत्र में कथन आता है कि बाईस तीर्थंकर संयम का उपदेश देते हैं—

'वावीसं तित्थयरा सामाइय संजमं उवइसंति।'—यही कथन आचार्य हरिभद्रनिर्युक्ति में (गाथा 1246) मिलता है। दीक्षा के प्रसंग में सभी जीव इस सामायिक चारित्र को धारण करते रहे हैं और सामायिक सावद्य योग के परित्याग में होता है—'सामाइयं नाम, सावज्जजोगपरिवज्जणं।'—इस प्रकार सभी जीव पाँचों पापों का त्याग करते हैं या अब्रह्ममिश्रितपरिग्रह रूप चार पापों का? यह भी एक प्रश्न खड़ा रहता है—

अभिधान राजेन्द्र कोष में उद्धरण है कि—

'सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यानरहितस्य च।
समभावो मुहूर्त तत् व्रतं सामायिकाह्वयम्।।

—पृ० 703 (भाग सातवां)

इसी में दुर्ध्यान का स्पष्टीकरण करते हुए कोषकार ने लिखा है कि—'दुर्ध्यानं—आर्तरौद्ररूपं तेन रहितस्य प्राणिनः।' इसमें प्रश्न होता है कि रौद्रध्यान तो 5 हैं—हिंसानंदी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, अब्रह्मानंदी और परिग्रहानंदी। क्या साधु (दीक्षा के समय) चार दुर्ध्यानों को छोड़ता है या उसकी दृष्टि मे पांचों ही दुर्ध्यान होते हैं? 'चातुर्याम' के हिसाब में तो दुर्ध्यान भी चार ही होंगे—जैसा कि हीं कथन नहीं हैं।

श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक में प्रथम अध्याय के सातवें सूत्र की व्याख्या में आया "चातुर्याम भेदात्" पद भी विचारणीय है कि इसका समावेश कब और कैसे हुआ। हो सकता है बाद के विद्वानों ने (चातुर्याम धर्म पार्श्वनाथ का है ऐसी धारणा में) मूल पद संशोधन की चेष्टा की हो अन्यथा, प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिलिपियों से तो ऐसा सिद्ध नहीं होता। व्यावर, श्रवणवेलगोला

और मूडबिद्री की ताडपत्रीय प्रतियों में 'चातुर्यामभेदात्' के स्थान में 'चतुर्यति भेदात् पाठ है।

अब आती है केशी-गौतम संवाद की बात। सो, यह विचारणीय है कि वे केशी पार्श्व परंपरा के वे ही केशी हैं जिन्होंने प्रदेशी राजा को संबोध दिया था या अन्य कोई केशी हैं? वे केशी चार ज्ञान के धारक थे और पार्श्व की शिष्य परम्परा के पट्टधर आचार्य थे। उन्होंने गौतम से प्रश्न किया हो यह बात जँची नहीं। यतः संवाद के (कथित) समय तक गौतम और केशी दोनों समान ज्ञान धारक ही सिद्ध हो सकते हैं।

केशी के ज्ञान के सम्बन्ध में रायपसेणी में लिखा है–'इच्चेए णं पदेशी अहं तव "चउव्विहेणं नाणेणं" इमेयारूवं अब्भत्थियं जाव समुप्पलं जाणामि।" भगवती सूत्र से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

इस सम्बन्ध में पाठकों के विचारार्थ अधिक कुछ न लिखकर यहा एक उद्धरण मात्र दिया जाना ही उपयुक्त है–

'भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्धर आचार्य केशी श्रमण हुए जो बडे ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति श्रुत एवं अवधिज्ञान के धारक थे।········ पार्श्व संवत् 166 से 250 तक आपका कार्यकाल बताया गया है। आपने ही अपने उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया।······आचार्य कुशिकुमार पार्श्वनिर्वाण संवत् 166 से 250 तक अर्थात् 84 वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और अन्त में···मुक्त हुए।' इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के 250 वर्षों मे मुक्त हुए।·· इस सम्बन्ध मे वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशी और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाले केशीकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में दो केशी श्रमण हुए हैं।'

'आचार्य केशी जो कि भगवान पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गए हैं उनका काल 'उपकेशगच्छ पट्टावली' के

अनुसार पार्श्वनिर्वाण संवत् 166 से 250 तक का है। यह काल भगवान महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है। इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूसरे केशीकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान महावीर के केवलीचर्या के 15 वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है। इस प्रकार प्रथम केशी श्रमण का काल महावीर के छद्मस्थकाल तक का "ठहरता है।'

'इसके अतिरिक्त रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी प्रतिबोधक केशिश्रमण को "चार ज्ञान का धारक" बताया गया है। केशि ने स्वयं कहा है—'मैं मति श्रुत अवधि, और मनःपर्ययज्ञान से सम्पन्न हूँ"।'—राज प्र० 160-165; जैन साहि० इति० भा० 2 पृ० 57-58। तथा जिन केशि श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उनको उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है (केशीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ओहिनाणसुए उत्तरा, अ० 23)।

ऐसी दशा में प्रदेशी प्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशी श्रमण जो महावीर के छद्मस्थ काल में ही हो सकते हैं, इनका महावीर के केवलीचर्या के 15 वर्ष बाद तीन ज्ञान के धारक रूप में गौतम के साथ मिलना किसी तरह युक्तिसंगत और संभव प्रतीत नहीं होता।'

—जैनधर्म का मौलिक इतिहास आ० हस्तीमल जी महाराज, पृ० 328-31।

अजात शत्रु ने बुद्ध को बतलाया कि वह स्वयं निगंठनाथपुत्त (महावीर) से मिले और महावीर ने उनसे कहा कि—निर्गंथ 'चातुर्याम संवर संवृत' होता है। अर्थात् वह (1) जल के व्यवहार का वारण करता है, (2) सभी पापों का वारण करता है, (3) सभी पापों का वारण करने से धुतपाप होता है, (4) सभी पापों का वारण करने में लगा रहता है। अतः वस्तुस्थिति यह भी हो सकती है कि चातुर्यामसंवर के स्थान में लोगों ने 'संवर' शब्द छोड़ दिया हो और कालान्तर में 'चातुर्याम' से अहिंसा आदि को जोड़ दिया हो। अन्यथा 'चातुर्यामसंवर' के स्थान पर 'चतुः संवर' ही पर्याप्त था। 'याम' का कोई प्रयोजन ही नहीं दिखाई देता। अतः फलित

होता है कि ऊपर कहे गए 'चातुर्यामसंवर' के अतिरिक्त अन्य कोई चातुर्याम नहीं थे।

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रसंगों में चार की संख्या उपलब्ध होती है। कई में तो (कथित-प्रसिद्ध किए गए) चार यामों से पूरी-पूरी समता भी दृष्टिगोचर होती है। जैसे 'चार कर्मक्लेश' 'चार पाराजिक' और चार आराम पसन्दी इत्यादि।

1. **चार कर्मक्लेश**—इनका वर्णन 'दीर्घनिकाय' के सिलोगवाद सुत 3।8 में किया गया है। वहाँ चारों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं—1. प्राणिमारना, 2. अदत्तादान, 3. झूठ बोलना, 4. काम।

4. **चार पाराजिक**—इनका वर्णन 'विनयपिटक' में इस प्रकार है—1. हत्या, 2. चोरी, 3. दिव्यशक्ति (अविद्यमान) का दावा, 4. मैथुन।

3. **चार आराम पसन्दी**—इनका वर्णन 'दीर्घनिकाय' पासादि सुत्त में है—1. कोई मूर्ख, जीवों का वध करके आनन्दित होता है, 2. कोई झूठ बोलकर आनन्दित होता है, 3. कोई चोरी करके आनन्दित होता है, 4. कोई पांच भोगों से सेवित होकर आनन्दित होता है। ये चार आराम पसन्दी निकृष्ट हैं।

उक्त सभी प्रसंग चातुर्याम से पूर्ण मेल खाते हैं और यह मानने को वाध्य करते हैं कि पार्श्वनाथ के पांच महाव्रतों में से बुद्ध ने चार ग्रहण किए हों—या उनमें संकोच कर उन्हें चातुर्यामसंवर का रूप दिया हो या जैन ग्रन्थों में जहां चार की संख्या आई हो—वह लोक-प्रचार से प्रभावित हो—ऐसा भी हो सकता है। पाठक विचारें!

❑

सिद्धा ण जीवा – धवला

विमर्श:

ज्ञात होता है कि धवलाकार की दृष्टि में 'जीव' और 'चेतन' दोनों में भेद है। वे जीवत्व भाव को औदयिक होने से संसारावस्था तक सीमित मानते हैं और औदयिक होने से ही कर्म-रहित अवस्था मोक्ष में उसका प्रवेश नहीं मानते इसीलिए उन्होंने जीवत्व का परिहार कर 'सिद्धा ण जीवा' कहा है और तत्वार्थ सूत्र की प्ररूपणा को चेतन के गुण के अवलम्बन से स्वीकार किया गया माना है—**'चेदण-गुणमवलम्बियपरुविदं।'** इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जीव व सिद्ध दोनों चेतन की दो पर्यायें हैं—अशुद्ध-पर्याय 'जीव' है और शुद्ध पर्याय 'सिद्ध' है। हमने इसी बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पाठकों के अवलोकनार्थ 'धवला' का अंश भी दे रहे हैं।

हमने अपने लेख में 'धवला के कथन की पुष्टि का दृष्टिकोण रखा है और अन्य मान्यताओं का विरोध न करने का भी ध्यान रखा है। हम विषय समझने और अन्य मान्यताओं से सामंजस्य बिठाने के लिए अन्य मान्यताओं के विषय में लिखने का विचार रखते हैं ताकि विषय स्पष्ट हो। हम आशा करें कि हमारे लेख को किसी मान्यता-विरोध में न लिया जाएगा।

उद्धरण :

'आउ आदिपाणाणं धारणं जीवणं। तं च अजोगिचरिमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्माभावादो। तम्हा सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जते? ण उवायरस्स सच्चत्ताभावादो।

सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं, किंतु कम्मविवागजं, यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्। तत्तो जीवभावो औदइओत्ति सिद्धं। तच्चत्थे जं जीवभावस्स परिणामियत्तं परूविदं तं पाणधारणत्तं पडुच्च ण परूविदं, कितु चेदणगुणमबलंविय तत्थ परूवणा कदा। तेण त पि ण विरूज्झइ।'–धव. पु. 14।5।6।16।13

'आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह आयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि सिद्धो के प्राणों के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं है, अधिक से अधिक वे जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं।

शंका–सिद्धों के भी जीवत्व क्यों नही स्वीकार किया जाता है?

समाधान–नहीं, उपचार में सत्यता का अभाव होने से।

सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम होता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है। किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि, 'जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है, ऐसा कार्य-कारण भाव के ज्ञाता कहते हैं' ऐसा न्याय है। इसलिए जीवत्वभाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में जीवत्व को जो पारिणामिक कहा है वह प्राणों को धारण करने की अपेक्षा से नहीं कहा है, किन्तु चेतन के गुण की अपेक्षा से वहां वैसा कथन किया है, इसलिए वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता।'*

अनेकान्त में हमने धवला जी के उक्त कथन 'सिद्धा ण जीवा की पुष्टि मे जो कुछ लिखा है, वह मान्य प्रतिष्ठित, प्रामाणिक आचार्य के

*नोट–उक्त सबध मे 'षट्खडागम' के भाषाकार विद्वान्-त्रय (डा हीरालाल जी, पं फूलचंद जी शास्त्री तथा प बालचद जी शास्त्री) द्वारा सपादित प्रति मे लिखा है–'यद्यपि अन्यत्र जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक मानकर इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध कहा है पर ये तीन भाव भी कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिए यहाँ इन्हें अविपाकज जीवभावबन्ध में नहीं गिना है'' षट्ख पुस्तक 14, विषयपरिचय। यदि वे इसका खुलासा कर देते तो समस्या हल हो जाती कि ऐसा भेद क्यों? पर, यह समस्या हल हो–विद्वानों का ध्यान इधर जाय इसलिए प्रयास प्रारम्भ किया है।–लेखक

कथन की अपेक्षा को हृदय में श्रद्धा करके ही लिखा है और आज भी उसी विषय को उठा रहे हैं—'सिद्धा ण जीवा।'

उक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं कि सिद्ध भगवान अजीव, जड़ या अचेतन हैं। सिद्ध तो सिद्ध है, विकसित चेतन संबंधी अनंतगुणों के त्रैकालिक धनी है, शुद्ध चेतनस्वभावी हैं, अविनाशी-अविकार परमरसधाम हैं, अतः आचार्य-मत में हमने उन्हें (कल्पित, पराश्रित और विनाशीक प्राणाधार पर आश्रित, लौकिक और व्यावहारिक) वैभाविक 'जीव' संज्ञा से अछूता समझा है। हमारा प्रयोजन चेतन के नास्तित्व करने से नहीं है। यतः—हम यह भी जानते है कि यदि हम जीव का मूलतः नाश मानेंगे तो हम ही कैसे जीवित रहेंगे? यदि रहना भी चाहें तो हमें यहां के लोग रहने क्यों देंगे? जबकि 'सिद्धा ण जीवा' जैसी आचार्य की एक बात मात्र कहते ही उन्होंने, वस्तुस्थिति को समझे बिना ही, हमें चूंटना शुरू कर दिया हो। अस्तु; संस्कार जो है।

सभी जानते है कि लक्षण एक ऐसा निर्णायक माप है जो दूध और पानी के भेद को दिखाने में समर्थ है। आचार्यों ने लक्षण करते हुए लिखा है—**'परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्'** अर्थात् जिस हेतु के द्वारा बहुत से मिले हुए पदार्थों मे से किसी भिन्न जातीय पदार्थ के पृथक् रूप मे पहिचाना जाता है, वह हेतु उस पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णत्व और जल का लक्षण शीतत्व। दोनो के लक्षण ऐसे हैं, जो अग्नि और जल की भिन्नता की पहिचान कराते है। इसी भांति जब हमें जीवत्व और सिद्धत्व दोनों के लक्षण अलग-अलग मालूम पड़ जाएँगे तब हम सहज में जान जाएँगे कि सिद्ध क्यों और किस अपेक्षा से जीव नहीं हैं? फलतः—पहिले हम जीव के लक्षण को लेते है और इस लक्षण में किन्हीं आचार्यों को मत-भेद भी नहीं है—सभी ने तत्त्वार्थसूत्र के **'उपयोगो लक्षणम्'** को स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि—जीव का लक्षण उपयोग है। जिसमें उपयोग हो वह जीव है और अन्य सब जीव से वाह्य हैं। अब हमें यह देखना है कि वह उपयोग क्या है? जो जीव में होता

है या होना चाहिए? हम विषय को भी हम आचार्य के वाक्यों से ही निर्णय में लाएँ कि उन्होने उपयोग का क्या लक्षण किया है?

उपयोग (जीव का लक्षण) :

1. **'स्व-पर ग्रहण परिणामः उपयोग'**

—धवला 2/1/1, जी. का. 672

—स्व और पर को ग्रहण करने वाला परिणाम उपयोग है।

2. **'मार्गणोपाय ज्ञान-दर्शन सामान्योपयोगः'**

—गो. जी. जी. प्र. 2/11/11

—मार्गण (खोज) का उपाय ज्ञान-दर्शन सामान्य उपयोग है।

3. **'उभयनिमित्त वशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायिपरिणामः उपयोग'**

—सर्वार्थ 2/8

—अंतरंग वहिरंग निमित्तों के वश से उत्पन्न होने वाला चैतन्यानुकूल परिणाम उपयोग है।

4. **वत्थुणिमित्तो जादो भावो जीवस्स होदि उवओगो**

—गो. जी. 672 पं स प्रा 1/178

—वस्तु निमित्त उत्पन्न जीव का भाव उपयोग होता है।

5. **'लब्धि निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मनः परिणामः उपयोग इत्युपदिश्यते'**

—त रा. वा. 2/18/1-2

(आवरण कर्म के क्षयोपशम रूप) लब्धि के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उक्त सर्व कथन उपयोग संबंधी हैं और उक्त सभी लक्षण जिसमें हों वह जीव है ऐसा मानना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि क्या उक्त लक्षण सिद्धों मे भी पाए जाते हैं, जिनके आधार पर उन्हे जीव कहा जा सके? जब हम विचारते हैं तो सिद्धों में (नं. 1)—स्व और पर का विकल्प ही नहीं दिखता और जब विकल्प नहीं तब उनके स्व-पर के ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता, जो उनके उपयोग माना जा सके।

(नं. 2)—जब सिद्धों में मार्गणा से प्रयोजन नहीं—उनमें मार्गणाएँ भी नहीं तब उनमें मार्गण (खोज) के उपाय की बात कहां?

(नं. 3)—स्वभाव और स्वाभाविक दशा में निमित्त का प्रश्न ही नहीं, तब उपयोग कैसे संभव होगा? फिर निमित्त तो सदा वैभाविक में पाया जाता है।

(नं. 4)—सिद्ध कृत-कृत्य है उनमें वस्तु के ग्रहण का भाव ही संभव नहीं, तब उपयोग कहाँ?

(नं. 5)—सिद्धों में कर्म ही नहीं तब क्षयोपशम जन्य लब्धि को निमित्त बनाकर परिणाम होने की बात ही पैदा नहीं होती। ऐसे में उपयोग होने का प्रश्न ही नहीं। अपितु इससे तो यही सिद्ध होता है कि क्षयोपशम को निमित्त बनाकर उत्पन्न परिणाम (उपयोग) संसारीआत्माओं (जीवों) में ही होता है। कहा भी है—

'क्षयोपशम निमित्तस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति'। —धवला 1/2/33 पृ. 248

—क्षयोपशमजनित उपयोग इन्द्रियों पूर्वक होने से। वह उपयोग क्षीण सम्पूर्ण कर्मो वाले सिद्धो में नहीं है।

इस प्रकार जो लक्षण जीव के बताए और जीव में पाए जाते है, उनमे से सिद्धों में एक भी घटित नहीं होता। फलतः—जीव और सिद्ध को एक श्रेणी का मानना युक्ति संगत नहीं ठहरता।

आगमों में उपयोग के लक्षण इस भांति और भी मिलते हैं—

1. यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिवृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामः (प्र. मी. परिणाम विशेषः) उपयोगः (सर्वा सि 2/18, प्रमाणमी 1/1/24)
2. बाह्यभ्यन्तरहेतुद्वयसंनिधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः (त. वा. 2/8/21)
3. उपयोग ज्ञानादि व्यापारः स्पर्शादिविषयः (ता. भा. हरि.. वृ. 2-10)

4. उपयोजनमुपयोगो विवक्षिते कर्मणिमनसोऽभिनिवेशः (नन्दी. हरि पृ. 62)
5. अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः (प्रमाणा वृ. 61, लघीय. अभयवृ. 1/5)
6. तन्निमित्तः आत्मनः परिणाम उपयोगः, कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् (मूला. वृ. 1/16)
7. उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहण व्यापारः (प्र क मा 2/5)
8. जन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थ उपयोगः (भा स. वाम 40)
9. उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेन इत्युपयोग षडशीति -मलय. वृ. (12)

उपयोग के उक्त लक्षणों में एक भी ऐसा नहीं दिखते जो चेतन की अशुद्ध अवस्था (जीव) के सिवाय, चेतन की शुद्ध अवस्था 'सिद्ध' पर्याय में पाया जाता हो। क्योंकि ये सभी लक्षण चेतन के पराश्रितपने को इंगित करने वाले हैं। ऐसे लक्षणों के सिवाय यदि कहीं किन्हीं आचार्यों ने उपयोग के लक्षण का ज्ञान-दर्शन के रूप में उल्लेख कर भी दिया हो तो उसे कारण में कार्य का उपचार ही मानना चाहिए। और व्याख्याओं से उसे समझ लेना चाहिए। जैसे–

'उवओगो णाणदंसणं भणिदो' –प्रव. सा. 2 ।63-64
'आत्मनो हि पर-द्रव्य-संयोगकारणमुपयोग विशेषः उपयोगो जीवस्य पर-द्रव्यसंयोगकारणमशुद्धिः। स। तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्त द्वैविध्यः' –टीका (श्री अमृतचन्द्र) 63-64

वास्तव में ज्ञान-दर्शन ये लक्षण चेतना के हैं, उपयोग के नहीं हैं। उपयोग तो विकारी भाव है और विकारी (संसारी) चेतना में ज्ञान-दर्शन के अवलम्बन से उत्पन्न होने से (कारण मे कार्य का उपचार करके) उपयोग को दो प्रकार का कह दिया है (देखें–उपयोग क्या)

उपयोग के उक्त लक्षणों के सिवाय ये लक्षण भी देखिए और निर्णय कीजिए कि क्या सिद्धों में उपयोग है जो उन्हें 'जीव' श्रेणी में बिठाया जा सके?

1. 'स्व स्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु यः आत्मनः।
   व्यापार उपयोगाख्यं भवेद्भावेन्द्रियं च तद्।।' —लोकप्रकाशे. 3
2. 'उवजोगो णाम कोहादिकसायेहिं सह जीवस्स संपओगो।' जयधवला,
   (देखें कसायपाहुड, कलकत्ता पृष्ठ 579)

अपनी (क्षयोंपशय) लब्धि के अनुसार विषयों में आत्मा का व्यापार उपयोग है और वह भावेन्द्रिय है।

क्रोधित कषायों के साथ जीव के सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते हैं। मोह की सत्ता मे ही उपयोग होता है और वह सिद्धों मे नहीं है।

इसी भाँति अब हम सिद्धों के लक्षण देखें और उनसे जीव की तुलना करें कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जो लक्षण सिद्धों के हैं, वे जीवों में खरे उतरते हों, जिससे जीवों और सिद्धों को एक श्रेणी का मान लिया जाय? फलतः—यहाँ सिद्धों के स्वरूप पर विचार करते हैं।

सिद्ध-स्वरूप :

आचार्यो ने सिद्धो के संबंध में कहा है—

1. 'अट्ठविह कम्म वियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
   अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धाः।।'

—जी. का. 68/पं सं. 1/3

2. णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणट्ठा।
   परमहुत्तंपत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का।।' —नयच. वृ. 107
3. 'णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
   लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।' —निय. सा. 72
4. 'णवि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहिं गाहिया अत्थे।
   णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंदणाणसुहा।।'
5. 'शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायः।' प्र. सा./ता. वृ. 10/12/6
1. सिद्धआत्मा आठ प्रकार के कर्मों से रहित, शान्त, कर्मकालिमा रहित, नित्य, अष्टगुणयुक्त कृतकृत्य और लोकाग्रवासी हैं।

2. जो अष्टकर्मक्षय होने से शुद्ध हैं, अशरीर हैं, अनंतसुख और ज्ञान में स्थित हैं, परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं वे सिद्ध और निश्चय से वे ही सिद्ध हैं।
3. जिन्होंने अष्टकर्मबंधों को नष्ट कर दिया है, जो परम आठ गुणों से समन्वित हैं, नित्य हैं और लोकाग्र में स्थित हैं, वे सिद्ध ऐसे होते हैं।
4. वे सिद्ध इन्द्रियों के व्यापार से युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक क्षयोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं। उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योंकि उनका अनन्त ज्ञान और अनतसुख अतीन्द्रिय है।
5. सिद्ध-पर्याय शुद्धआत्मोपलब्धि लक्षणवाली है।

ऊपर दिए गए सभी लक्षण, जो सिद्धों के हैं, उनमें देखा जाय कि कौन-से ऐसे लक्षण हैं जो संसारी (जीव नामधारी) अशुद्ध आत्माओं मे प्रकट है जिनसे उनकी सिद्धों से एकरूपता सिद्ध हो सके? हमारी दृष्टि से तो उक्त लक्षणों के प्रकाश में एकरूपता के स्थान पर जीवों और सिद्धों दोनो में सर्वथा-सर्वथा वैषम्य ही है। जीवों में आठों कर्म विद्यमान हैं, उनमे आठो गुणों की प्रकटता नहीं है, वे शान्त नही है, कर्मकालिमा रहित नही है, उनकी जीवत्व पर्याय नित्य नही है, वे कृतकृत्य नहीं है और लोकाग्र मे अशरीर रूप मे विराजमान भी नहीं है। इसके विपरीत–जीव मे 14 गुणस्थान, चार गति, पांच इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, भव्यत्व संज्ञित्व, और आहार हैं–वे सिद्धों में नहीं हैं। छह पर्याप्तियो में से सिद्धों में एक भी पर्याप्ति नहीं हैं, प्राण नहीं हैं, चार संज्ञाएँ नहीं है। ऐसे में जब सिद्धो के लक्षण जीव में नहीं और जीवों के लक्षण सिद्धों में नहीं तब ऐसा ही मानना चाहिए कि–मान्य धवलाकार का मत सर्वथा ठीक और ग्राह्य है–'सिद्धा ण जीवा।'

औपशमिकादि भाव : (जीव के भाव) :

जीवों के औपशमिकादि पांच भाव कहे है। उनमें से धवलाकार के मन्तव्यानुसार 'जीवत्व' आयुकर्माश्रित होने से औदयिक भाव है, वह

सिद्धों में नहीं और औपशमिक, क्षयोपशमिक, पारिणामिक भाव भी उनमें नहीं है। शेष बचे नव-केवल-लब्धिरूप क्षायिकभाव*। सो नव लब्धियों में से क्षायिकदान (दिव्यध्वनि रूप में), क्षायिक लाभ (आहार लिए बिना ही दिव्य अनंत पुद्गलों के आदान रूप में), क्षायिक भोग (पुष्पादिवृष्टि रूप मे) और क्षायिक उपभोग (अष्ट प्रातिहार्य रूप में) अरहंतों में हैं और केवल ज्ञान, केवलदर्शन व सम्यक्त्व तथा वीर्य भी कर्मों की क्षय अपेक्षा में सशरीरी अरहन्तों केवलियों तक ही सीमित हैं। सिद्धों के तो सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवागहनत्व, सूक्ष्मत्व अव्याबाधत्व और अनंतवीर्यादि सभी गुण सर्वथा ही पर-निरपेक्ष, स्वाभाविक और अनंत हैं, उनमें किसी पर-भाव की अपेक्षा नहीं है। आचार्य श्री उमास्वामी और अन्य टीकाकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि—**'अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः'** सूत्र में 'केवल' शब्द अन्य भावों के परिहार के लिए है (किसी गुण के विशेषण बनने के लिए नहीं)। सूत्र का अर्थ है कि अपवर्ग मे सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व के **सिवाय** (इनके सहचारी भावों को छोडकर) **अन्य भाव नहीं होते**। तथाहि—**'अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थः' तन्निमित्तः सिद्धत्वेभ्य इतिविभक्ति निर्देशः'**—रा वा. 10/4/1। फलत—जीव और सिद्धों में एकत्व स्थापित करना संभव नहीं। अत—'सिद्धा ण जीवा' कथन ठीक है।

चेतन आत्मा का गुण : (चेतनत्व) :

आगमो में उपयोग लक्षण के सिवाय एक लक्षण और मिलता है और धवलाकार ने उसका भी संकेत किया है और वह है चेतन का गुण—चेतना। (मालूम होता है आचार्य ने चेतना को चेतन का गुण माना है और जीव का गुण जीवत्व ही माना है—जिसे वे औदयिक मान रहे हैं) यहाँ

---

*'अनत प्राणिगणानुग्रहकर सकलदानान्तरायसक्षयादभयदानम्।'
कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभादाविर्भूतो ..पचवर्णसुरभिकुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगन्ध-चरणनिक्षेपस्थान-सप्तपद्मपंक्ति-सुगन्धित धूप-सुखशीतमारुतादय. ''
निरवशेषस्योपभोगन्तरायकर्मण प्रलयात् .. सिहासनवालव्यजनाशोक पादपछत्रत्रय-प्रभामडल गम्भीरस्निग्ध-स्वरपरिणाम-देवदुदुभिप्रभृतय'।' आदि—राजवा. 12 14 12—5

चेतना से ज्ञानदर्शन अपेक्षित है। प्रतीत होता है कि उक्त लक्षण आत्मा के आत्मभूत लक्षण को दृष्टि में रखकर किया गया है और धवला के 'चेदणगुणमवलम्ब्यपरूविदमिदि' की पुष्टि करता है। तथा पूर्वोक्त 'उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः' लक्षण आत्मा के अनात्मभूत लक्षण को दृष्टि में रखकर किया गया है। इनमें अनात्मभूत-लक्षण का लक्ष्य कर्मजन्य जीवत्वपर्याय है, जो कर्मजन्य होने से छूट भी जाती है जबकि चेतना रूप त्रिकाली आत्मभूत लक्षण आत्मा की शुद्ध-अशुद्ध दोनों पर्यायों में रहता है। मालूम होता है उपयोग के अनात्मभूत लक्षण को लक्ष्य कर ही आचार्य ने कहा है–**'संसारिणः प्राधान्येनोपयोगिनो मुक्तेषु तदभावात्'**

संसार प्रधानता से उपयोग वाले हैं, मुक्तों में उसका अभाव होने से।

उपयोगशब्दार्थोऽपि संसारिषु मुख्यः परिणामान्तरसंक्रमात्। मुक्तेषु तदभावात् गौणः कल्प्यते।'–राजवा. 2/10/4-5–उपयोग शब्दार्थ भी संसारियों में मुख्य है, परिणामो से अन्य परिणामों में सक्रमण करने से; मुक्तो में अन्य परिणाम सक्रमण का अभाव होने से उपयोग गौण कल्पित किया जाता है। स्मरण रहे कि अनात्मभूतलक्षण मे परिणामान्तरत्व है और वह संसारियो (जीवों) तक सीमित है जबकि सिद्धों में अनन्तदर्शन-ज्ञान युगपत् होने से परिणामान्तरपने का अभाव है; वहाँ अनात्मभूत उपयोग का कोई प्रश्न ही नहीं। अन्यथा यदि उपयोग के उक्त अनात्मभूत लक्षण और आत्मभूत रूप चैतन्य लक्षण में अभेद होता–दोनो को एक माना गया होता (जैसा कि प्रचलित है–ज्ञानदर्शन ही उपयोग है) तो आचार्य भावेन्द्रिय के लक्षण में लब्धि (ज्ञान) और उपयोग इन दो शब्दों को पृथक्-पृथक् नहीं देते और न ही उपयोग के लक्षण में लब्धि को उपयोग (परिणाम) का निमित्त कारण ही बताते। स्मरण रहे कि निमित्त सदा स्व से भिन्न होता है। दूसरी बात चेतना का अनात्मभूत लक्षण–उपयोग क्षयोपशमादिजन्य होने से मात्र संसारियों (जीवों) में ही होता है। नित्य और शुद्ध चेतन–आत्मा में नही होता।

ऐसा भी प्रतिभासित होता है कि आत्मा के उक्त अशुद्ध और शुद्ध जैसे दो प्रकारों के परिचय कराने हेतु श्लोकवार्तिककार ने भी विधान किया है। वे लिखते हैं—निश्चय ही चैतन्यमात्र उपयोग नहीं होता, जिसे जीव का लक्षण माना जाय; अपितु उसके साथ कर्म के क्षयोपशमादिजन्य चैतन्यानुविधायी-परिणाम उपयोग होते हैं। यानी जीव में चैतन्य (आत्मा का व्यापकगुण) और व्याप्य जैसे चैतन्यानुविधायी परिणाम—दोनों होते हैं तथा प्रधान (शुद्ध आत्मा जिसे हम सिद्ध नाम से कह रहे हैं) में केवल चैतन्य होता है; चैतन्यानुविधायी परिणाम नहीं होते। इस प्रकार जीव और सिद्ध दोनों में क्रमशः—हेतुद्वय होने और न होने जैसे भिन्न-भिन्न दो विकल्प हैं। उक्त संदर्भ में मालूम होता है कि मोक्षमार्ग प्रसंग में 'जीव' नाम का जो संकेत है, वह मात्र चेतन (आत्मा) की अशुद्ध दशा को लक्ष्यकर जीव—अर्थात् संसारी को, क्रमबद्ध तत्त्वों के परिज्ञानार्थ है और क्रमबद्ध मोक्षमार्ग दिग्दर्शन मात्र में है, क्योंकि अशुद्ध को ही शुद्धि की ओर जाना होता है—शुद्ध तो स्वयं वर्तमान में शुद्ध है ही, उसे संबोधन की क्या आवश्यकता?

'अत्र हि न चैतन्यमात्रमुपयोगो यतस्तदेव जीवस्य लक्षणं स्यात्। किं तर्हि? चैतन्यानुविधायी परिणामः, स चोपलब्धुरात्मनो, न पुनः प्रधानादेः चैतन्यानुविधायित्वाऽभावप्रसंगात्।'—'न चासावहेतुको बाह्याऽभ्यन्तरस्य च हेतोर्द्वयोपात्तनुपात्तविकल्पस्य सन्निधाने सति भावात्।' —श्लोक वा० 2/8

उपयोग के बारह भेद :

शास्त्रों में उपयोग के जो बारह भेद कहे गए हैं। वे कर्मों की अपेक्षा में, चेतन के अनात्मभूत लक्षण को दृष्टि में रखकर किए गए हैं। क्योंकि उपयोग क्षयोपशम जन्य अवस्था में ही संभव है और सिद्धो में उसकी संभावना नहीं। सिद्धों में जो केवलदर्शन और केवलज्ञान का व्यपदेश है,वह असहाय-दर्शन-ज्ञान के भाव में है—उपयोग के भाव मे नहीं। अरहन्त भगवन्तों में भी जीवत्व के कारण, उपयोग-रूप में व्यपदेश उपचार मात्र है।

वास्तव में तो शुद्ध-चैतन्य अभेद है, उसमें जो मतिज्ञान आदि जैसे भेद दर्शाए गए हैं वे कर्मापेक्षित दशा के संदर्भ में ही हैं और उनके

निमित्तान्तरोत्पन्न विभिन्न नामकरण भी परस्पर में एक दूसरे में भेद दर्शाने की दृष्टि से ही किए गए हैं—पृथक्त्व बताने के किए गए हैं—वे सब भेद परापेक्षित ही हैं। सिद्धों के स्वाश्रित होने से वे असहाय-अनंत शुद्ध ज्ञान-दर्शन के धनी हैं। उनमें ज्ञान-दर्शन तो है पर, क्षयोपशम जन्य जैसा उपयोग नहीं है। और उपयोग न होने से वे जीव श्रेणी में भी नहीं है। फलतः—'सिद्धा ण जीवा' कथन उचित है।

इतना ही नहीं। राजवार्तिककार ने तो जीव के लक्षण उपयोग को इन्द्रिय का फल तक कह दिया है—**इन्द्रियफलमुपयोगः।**'—1/18/3 और कारण धर्म में कार्य की अनुवृत्ति मान ली है। ऐसे में जब उपयोग इन्द्रियजन्य फल है तब वह फल अतीन्द्रिय, अशरीरी सिद्धो में कहाँ से कैसे पहुंच गया जो उन्हें उपयोग लक्षणवाले जीवों मे बिठाया जाने लगा? यदि 'इन्द्र' शब्द के आत्मवाची रूप से यथाकथचित् इन्द्रिय शब्द भी माना जाय, तो जहां चेतन का स्वरूप स्वाभाविक और कल्पनातीत है वहां फल मानने की कल्पना कोरी कल्पना खर-विषाणवत् ही होगी। धवलाकार तो पहिले ही कह चुके है कि—'क्षयोपशमजन्य उपयोग इन्द्रियजन्य है, वह सिद्धों में नहीं है।'—**देखें** धवला. 1 ।1 ।33, फलतः—'सिद्धा ण जीवा' यह आचार्य का वाक्य सर्वथा युक्ति-संगत है और ठीक है।

एक समाधान :

यद्यपि आयु के संबंध से 'जीवत्व' मानने का राजवार्तिककार ने आपत्ति उठाकर खण्डन किया है और 'जीवत्व' को पारिणामिक मानने की पुष्टि की है—**'आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमितिचेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबंधे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्।' ।।3।। —स्यादेतत्—आयुर्द्रव्योदयाज्जीवतीति जीवो नानादि पारिणामिकत्वादिति; तन्न, किं कारणं? पुद्गलद्रव्यसंबंधेसत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्। आयुर्हि पौद्गलिकं द्रव्यम्। यदि तत्संबंधाज्जीवस्य जीवत्वं स्यात्; नन्वेवम् यद्रव्यस्यापिधर्मादेरायुः संबंधाज्जीवत्व स्यात्।''**—रा. वा. 2 ।7 ।3

उनका कहना है कि आयु पौद्‌गलिकद्रव्य है यदि पौद्‌गलिकद्रव्य के संबंध से जीवत्व माना जायगा तो अन्य धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में भी जीवत्व मानना पड़ेगा (क्योंकि उन द्रव्यों से पुद्‌गलों का सदाकाल संबंध रहता है)

यद्यपि उक्त तर्क और समाधान प्रामाणिक आचार्य का है और ठीक होना चाहिए, जो हमारी समझ से बाहर है—इसे विद्वान् विचारें। तथापि हम तो ऐसा समझ पाए हैं कि उक्त तर्क 'जीवत्व' के औदयिक-भाव, होने को निरस्त करने में कैसे भी समर्थ नहीं होगा। यतः—उक्त प्रसंग के अनुसार धर्म आदि द्रव्यों में जीवत्व आ जाने जैसी आपत्ति इसलिए नहीं बनती कि जिस पुद्‌गलद्रव्य मात्र के संबंध से अकलंकस्वामी धर्म आदि द्रव्यों में जीवत्व लाने जैसी आपत्ति उठा रहे हैं, वह पुद्‌गलद्रव्यमात्र के संबध की बात धलवाकार के मत से मेल नहीं खाती। अपितु धवलाकार के मत में वह मात्र पुद्‌गल द्रव्य ही नहीं। बल्कि पुद्‌गलकार्माणवर्गणाओं में कषायपूर्वक (फलदान की शक्ति को लिए हुए) स्थितिरूप में आत्मा से बन्ध को प्राप्त आयु नाम का एक कर्मविशेष है, जो कि चेतन में ही संभव है, धर्म आदि अचेतन द्रव्यो में उसकी (इन द्रव्यों के अचेतन होने से) संभावना ही नहीं। फलतः उनमें जीवत्व आ जाने की शका करना अशक्य है। फिर, उदय, क्षय, क्षयोपशम, आदि कर्मों से संबंधित हैं—मात्रपुद्‌गल से संबंधित नहीं। पुद्‌गल और कर्मपुद्‌गलों में क्या भेद है इसे सभी जानते हैं। अतः स्पष्ट है कि धवलाकार अपनी दृष्टि में ठीक हैं—जीवत्व कर्मोदयजन्य* है और इसीलिए 'सिद्धा ण जीवा' जैसा कथन युक्ति-संगत है।

संसारी और मुक्त :

प्रश्न उठता है कि यदि धवलाकार आचार्य के मत में 'सिद्ध भगवान् जीव-संज्ञक नहीं तो आचार्य ने जीवो के संसारिणोमुक्ताश्च' जैसे दो भेदों से समन्वय कैसे बिठाया? इस विषय मे हम ऐसा समझ पाए हैं कि—जहां

---

* 'आऊदएणजीवो एवं भणंति सव्वण्हू। —कुन्दकुन्द, समयसार—251-252
'जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुकर्मोदयेनैव' —अमृतचन्द्रशचार्य. वही

तक जीव संज्ञा या जीवत्व का प्रश्न है, आचार्य इसे औदयिकभाव जन्य मानते हैं और वह औदयिक होने से ही सिद्धों में संभव नहीं। हाँ, जहाँ आचार्य ने उक्त प्रसंग से जीव और जीवत्व का निषेध किया वहाँ यह भी कह दिया है कि चेतन के गुण को अवलम्बन कर प्ररूपणा की गई है। इससे विदित होता है कि आचार्य की दृष्टि शुद्धत्वाश्रित रही है और इस प्ररूपण में उन्होंने चेतन के गुण को मूल स्थाई मानकर उसे जीवत्वपर्याय और सिद्धत्वपर्याय जैसे दो भागों में बाँटा है। चेतन की सर्व कर्मरहित अवस्था सिद्धपर्याय है और कर्म सहित चेतन की अवस्था (कर्मजन्य होने से) जीव-पर्याय है और जीव-संज्ञा संसारावस्था तक ही सीमित है—अन्य आचार्यों की मान्यता जो हो।

यदि कंथचित् हम जीवो में भी संसारी और मुक्त खोजने लगे और वह इसलिए कि ये जीवों के ही भेद कहे गए हैं तो हम इस पर विचार कर सकते हैं कि छद्मस्थजीव ससारी और केवलज्ञानी जीव मुक्त कहे जा सकते हैं। क्योंकि अरहन्त जीव हैं और वे चेतनगुणघाती चार घातिया कर्मो से मुक्त हो चुके है—उन्हे आत्मगुणों की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है, उन्हें सकल-परमात्मा और जीवन्मुक्त कहा ही गया है। यहाँ जीवन्मुक्त का अर्थ जीव होते भी मुक्त हैं—ऐसा लेना चाहिए। शेष चार अघातिया कर्म तो जली रस्सी की भाँति अकिंचित्कर है उन कर्मो की स्थिति शरीराश्रित होने मात्र है, और वे अग्नि मे तपकर शुद्ध हुए स्वर्ण के ऊपरी उभरी हुई उस किट्टकालिमा की भाँति हैं जिसका स्वाभाविक रूप से झड़ना शेष हो—जो स्वयं झटके मे झड़ जाती हो—सुवर्ण में पुनः विकार न कर सकती हो। मोक्ष में जिन्हें 'मुक्तजीव' नाम से कहा जा रहा है, वे मुक्त चेतन हैं। जीव-पर्याय की तो उस अवस्था तक पहुंच ही नहीं है।

उक्त सभी कथन से ऐसा न समझना चाहिए कि मूलतत्त्व में भेद हो जाएगा या कमी-वेशी हो जाएगी। यह तो आचार्यों की कथनशैली और व्यापक-चिन्तन का परिणाम है, नाम बदलाव है। 'जीव या जीवत्व' न कहा 'चेतन या चेतनत्व' कह दिया। शुद्ध पर्याय को 'मुक्तजीव' न कहा 'सिद्ध' कह दिया। मूल तो रहा ही। सब अपेक्षा दृष्टि है।

द्रव्य का लोप नहीं :

हम यह पुनः स्पष्ट कर दें कि हम अपना कुछ नहीं लिख रहे, आचार्य की दृष्टि समझने का यत्न ही कर रहे हैं। मालूम होता है कि आचार्य की दृष्टि में 'सद्द्रव्यलक्षणम्', गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्' और 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' तीनों सूत्र रहे हैं और उन्होंने तीनों की रक्षा की है। वे चेतन के चैतन्य गुण की त्रिकाली सत्ता को स्वीकार कर उसे सत् और नित्य बनाए रहे हैं और कर्म-जन्य जीवत्व पर्याय को 'सिद्धत्व' रूप में स्वीकार कर परिवर्तन भी मानते रहे हैं। और पहिले लेख में हमने भी बार-बार संज्ञा के बदलत्व की ही बात लिखी है–किसी मूल के ध्वंस की नहीं। यतः–हमारा लक्ष्य आचार्य को समझना है, जनता में वितण्डा करना नहीं। यदि किसी पिता ने किसी कारणवश अपने बेटे का नाम विजय से बदलकर संजय कर लिया, तो क्या उस बदलाव से मूल बेटे का लोप हो गया? जो ना समझी में उसकी माँ रोने बैठ जाय और स्थिति को न समझ, नाम बदलने वाले को कोसने लगे?

स्मरण रहे आचार्य जीवत्व को शुद्धतत्त्व मानकर नहीं चले अपितु उन्होने चेतन की अशुद्ध पर्याय-जीवत्व को औदयिक पर्याय और शुद्ध चैतन्य को 'सिद्धत्व' रूप में देखा है। इन दोनों पर्यायो मे लक्षणभेद (जैसा ऊपर दिखाया) से भेद हैं : यत· हर जीव में दस प्राणों मे न्यूनाधिक प्राण है। यहाँ तक कि विग्रह गति में भी यह जीव काय:प्राण से अछूता नहीं–वहाँ भी तैजस और कार्माणरूप काय-प्राण विद्यमान हैं। आचार्य के मन्तव्य के प्रकाश में यह सिद्ध होता है कि–कर्मोदयाश्रयी-औपपाधिक जीव-जीवत्वसंज्ञक जैसे दोनों नाम और भाव स्थायी नहीं–कर्म-सत्ता पर्यन्त है और सर्व-कर्मों के विच्छेद को प्राप्त चैतन्य-आत्मा सिद्ध-सिद्धत्व संज्ञक है।

नयों की सीमा :

स्मरण रहे–नय वस्तु के एक देश को ग्रहण करता है। जिस समय एक नय उभरता है तब दूसरा नय मौन स्थिति में बना रहता है–उभर कर समक्ष आए और गौण किए गए किसी तत्त्वांश का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। भाव ऐसा है कि नय द्वारा किए विवेचन में द्रव्य के गुणों और पर्यायों को

पूरा ग्रहण न किया जाने से उस विवेचन को पूर्ण नहीं माना जा सकता–जैसा कि लोक-व्यवहार बन गया है–'अमुक नय से ठीक है और अमुक नय से ठीक नहीं है।' यदि एक नय से ही सर्वथा अर्थ का ग्रहण या ज्ञान हो सकता होता तो प्रमाण की आवश्यकता ही न रह जाती। फलतः जहाँ भी वस्तु का विवेचन नयाधीन हो, वहाँ दोनों नयों के दृष्टिभूत पूर्ण तत्त्व को एक साथ लेकर चलना चाहिए। उदाहरणतः–

'तिक्काले चदुपाणा इंदियवलमाउ आणपाणोय।
व्यवहारा सो जीवो णिच्चयणयदोदुचेदणा जस्स।।'

अर्थात् जिसमें प्राण हो उसे व्यवहारनय से और जिसमे चेतना हो उसे निश्चयनय से जीव कहा है। इसमें न केवल व्यवहार से कहा गया पूर्ण जीव है अपितु दोनों को मिलाकर कहा गया जीव है। यानी जीव मे एक काल मे प्राण भी है और चेतना भी है। यदि अकेले प्राण ही जीव का लक्षण हो या अकेली चेतना ही जीव का लक्षण हो तो नयाधीन होने से यह पदार्थ की एकपक्षीय (अधूरी) ही पकड़ होगी*–जब कि दोनो ही नय स्वतत्र रूप से एक देश को ही ग्रहण करते हैं और पदार्थ अपने में पूर्ण होता है और पूर्ण पकड़ नय के वश की बात नहीं। फलतः पूर्णवस्तु-ज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे दोनो नयो-ग्राह्य लक्षणो को समकाल मे मानना ही युक्ति सगत है और आचार्य ने भी एक साथ ही दोनों नयों द्वारा जीव का लक्षण किया है–जो प्रमाणभूत है और इस भाँति जीब में प्राण और चेतना दोनों ही एक साथ मे मानना युक्ति सगत है–जीव मे दोनो लक्षण एक साथ होने ही चाहिए और है तथा उक्त भाव लेने से गाथा में गृहीत 'तिक्काले' की संगति भी बैठ जायगी। अन्यथा 'तिक्काले चदुपाणा' मे 'तिक्काले' का क्या भाव है? यह भी सोचना पडेगा। सिद्धों में तो केवल एक चेतना मात्र है। इस भाँति धवला का 'सिद्धा ण जीवा' युक्ति संगत और ठीक है।

---

*'प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो न ज्ञानम्, तत्र वस्त्वध्यार्पितवस्त्वंशे प्रवेशितानर्पित वस्त्वशस्य प्रमाणत्वविरोधात्। किं च न नय प्रमाणम्, प्रमाणव्यपाश्रयस्य वस्त्वध्यवसायस्य तद्विरोधात्।' 'भिन्नकार्यदृष्टेर्वा न नयः प्रमाणम्।'–169 –जयधवलासहिदेकषायपाहुडे पेज्जदोसविहत्ती 1 गाथा 13-14 पृ० 200

उपयोग क्या?

चलते-चलते इस प्रसंग में हम एक बात और स्पष्ट कर दें कि उपयोग के उक्त लक्षणों के प्रकाश से उपयोग का अर्थ मात्र शुद्ध ज्ञान या शुद्ध दर्शन मात्र जैसा नहीं ठहरता अपितु उपयोग 'आवरणकर्म के क्षयोपशम निमित्त को पाकर होने वाले चैतन्यानुविधायि परिणाम' का नाम होता है। इस उपयोग में अशुद्ध चेतना (ज्ञानदर्शन) कारण है और उन कारणों से होने वाला परिणाम उपयोग है और वह उपयोग दो प्रकार के अवलंबनों से होने के कारण दो प्रकार का कहा गया है–ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जो उपयोग ज्ञानपूर्वक होता है वह ज्ञानोपयोग और जो दर्शनपूर्वक होता है वह दर्शनोपयोग कहलाता है और इस प्रकार मतिज्ञानादि के निमित्त से होने वाले उपयोग उस-उस ज्ञान के नाम से मतिज्ञानोपयोग आदि कहलाते हैं और चक्षु आदि पूर्वक होने वाले उपयोग चक्षुदर्शनोपयोग आदि नाम से कहे जाते हैं। इसी प्रकार के उपयोग जीव के लक्षण हैं और इस प्रकार के उपयोग जीव में ही होते हैं, सिद्धो में नहीं। इसीलिए जीव के लक्षण में कहा गया है– 'उपयोगो लक्षणम्।' भाव ऐसा है कि **जहाँ चेतना उपयोग रूप हो वहाँ जीव संज्ञा है और जहाँ चेतना शुद्ध–ज्ञान-दर्शन रूप हो वहाँ 'सिद्ध' संज्ञा है** और इसीलिए धवलाकार ने कहा है–'सिद्धा ण जीवा।'

आत्मा शब्द का प्रयोग :

मोक्ष और मुक्त में क्या अन्तर है यह तो हम बाद में कभी लिखेंगे। हाँ हमने मोक्ष प्रसंग में आचार्यों में कई ऐसे मन्तव्य देखे हैं, जिनमें चैतन्य-आत्मा की शुद्ध अवस्था होने का उल्लेख है, (कहीं जीव की अवस्था का निर्देश हो तो हमें मालूम नहीं) तथाहि–

'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिंत्यस्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।'

—सर्वा. . प्रारम्भिक.

'जीवहँ सो परमुक्खु मुणि, जो **परमप्पय** लाहु।

कम्मकलकं विमुक्काहं, पाणिय बोल्लहिं साहु।।

परमात्मलाभो मोक्षोभवतीति................। —परमात्म. 136

'कृत्स्नकर्मवियोगेसति स्वाधीनात्यन्तिक ज्ञानदर्शनानुपमसुख **आत्मा** भवति। —त. रा. वा. 1।4।20

'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू **अप्पणो** हु परिणामो।' —द्रव्य 37

'आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्ष·।' —समय० आत्मख्याति 288

'निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नो उत्यन्तनिर्वृत्तः।

कृतार्थः साधु **बोधात्मा यत्रात्मा** तत्पदं शिवम्।।' —ज्ञाना 3।9

इसके सिवाय द्रव्य-संग्रह के मोक्षाधिकार में 'आत्मा' शब्द की भरमार है, जीव शब्द की नहीं। शायद जीव का परिहार करने या आत्मा और जीव में भेद दर्शाने के लिए ही ऐसा किया गया हो अन्यथा प्रारम्भ से जीव को प्रमुख करके व्याख्यान करने के बाद, मोक्षाधिकार में उसकी उपेक्षा क्यों? देखें—आत्मा के निर्देश—द्रव्य-सग्रह गाथा, 39, 40, 41, 42, 50, 51, 52, 53 और 56 आदि।

मूलतत्त्व क्या?

विचारना यह भी होगा कि जिस जीव तत्त्व को मोक्ष क्रम में मूल मानकर चला जा रहा है वह 'जीव' मूल तत्त्व है या मोक्षमार्ग दर्शाने के प्रसंग में चेतन की अशुद्ध—संसारी अवस्था? या उसके मूल में कुछ और बैठा है? यदि उसके मूल में कुछ और बैठा है तो मूल तत्त्व 'जीव' कैसे होगा? वहाँ तो जो बैठा है वह ही मूलतत्त्व होगा—मूल तत्त्व वह होगा जिसके कारण जीव 'जीव-संज्ञक' है। इस प्रसंग में इस प्रश्न का समाधान अपने में कीजिए कि वह **जीवत्त्व के कारण जीव है या जीव होने के कारण से उसमें जीवत्व है?** हमारी दृष्टि से तो जीवत्व होने के कारण से उसकी जीव संज्ञा है न कि जीव संज्ञा पहिले और जीवत्व बाद में है। यदि जीवत्त्व के कारण से जीव है तो जीवत्व के औदयिक होने से जीव-संज्ञा भी नश्वर ठहरती है। यदि हमारा कथन ठीक हो तो मूलतत्त्व

चेतन, अचेतन (जैसा कि आचार्य को अभीष्ट है) ही ठहरेंगे और जीव, जैसा नाम कर्म-जन्य और व्यवहार में आया हुआ रूप ही ठहरेगा। फलतः—जीव के संबंध में, आगम के परिप्रेक्ष्य में जिसे 'गुणपर्ययवद्‌द्रव्यम्' लक्षण से कहा गया है, वह मूल-द्रव्य चेतन—आत्मा है और 'जीव' व 'सिद्ध' दो उसकी पर्यायें हैं और 'जीवत्व व 'सिद्धत्व' उनके गुण हैं। इसीलिए 'चेदणगुणमवलम्बिय परुविद' ऐसा कहा है और उसी चेतन का शुद्धरूप 'सिद्ध' है, फलतः—'सिद्धा ण जीवा' कथन ठीक है।

फिर यह भी सोचिए कि जब जीव से जीवत्व और चेतन से चेतनत्व शब्दों की संगति उपयुक्त हो, तब जीव में कर्मोदयजन्य जीवत्व जैसी उचित संगति को त्याग कर, जीव में विषम-शब्द चेतनत्व की संगति बिठाना और कहना कि—जीव का गुण चेतनत्व है, कहाँ तक उचित है—जब कि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग क्षयोपशमजन्य होता है। फिर—तब, जब कि जीव-जीवत्व, चेतन-चेतनत्व जैसे दो पृथक्-पृथक् नाम और गुण भी पृथक्-पृथक् रूप में प्रसिद्ध हों। हमारा कहना तो ऐसा है कि जीव का गुण जीवत्व है और चेतन का गुण चेतनत्व है—दोनों पृथक्-पृथक् नाम और पृथक्-पृथक् गुण हैं। चेतन-चेतनत्व शब्द व्यापक हैं और जीव-जीवत्व शब्द व्याप्य (संसार तक सीमित) हैं। आचार्य की दृष्टि मे औदयिक होने से 'जीवत्व' नश्वर है और चेतन त्रैकालिक सत्तावान् है। इसीलिए आचार्य ने चेतन के गुण को प्रमुखता देकर जीवत्व का परिहार किया है और इसी परिप्रेक्ष्य में कहा है—'सिद्धा ण जीवा।'—

क्या अशुद्ध की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है?

उक्त प्रसंग को लेकर किसी ने हमारा ध्यान इस ओर भी खींचा कि यदि 'जीव' को चेतन की अशुद्ध पर्याय मानेंगे तो सम्यग्दर्शन के लक्षण में सात तत्त्वों के श्रद्धान में जीव (अशुद्ध पर्याय) का श्रद्धान क्यों कहा? क्या अशुद्ध का श्रद्धान स्म्यग्दर्शन है? प्रश्न तो उचित है; पर, हम इस विषय में ऐसा समझते हैं कि—

मोक्षमार्ग के प्रसंग में भेद-विज्ञान को प्रमुखता दी गई है और सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान भी बिना भेद-विज्ञान के नहीं होते। स्व में स्व-रूप और पर में पर-रूप से श्रद्धा व ज्ञान करने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। जहाँ केवल एक (शुद्ध या अशुद्ध) ही हो वहाँ भेद-विज्ञान कैसा? किसका और किससे? मोक्षमार्ग की खोज भी क्यों होगी? अत: जीवादि के श्रद्धान व ज्ञान को ही मोक्षमार्ग कहा है। जीव में चेतन 'स्व' है और विकारी भाव 'पर' है—इनसे ही भेद-विज्ञान सध सकेगा और मोक्षमार्ग बन सकेगा। इसके अतिरिक्त जो मोक्ष हो चुके है—जिन्हें मार्ग की खोज नहीं, उनमें सम्यक्त्व 'आत्मानुभूति' के लक्षणरूप में विद्यमान ही है—भेद-विज्ञान की अपेक्षा नहीं। ऐसी आत्माओं को लक्ष्यकर ही कहा गया है—'सिद्धा ण जीवा।'—

ऊपर हम धवला की उक्त मान्यता की पुष्टि आगम के जिन विभिन्न प्रमाणों और तर्कों द्वारा कर चुके हैं उनमें एक संकेत यह भी है कि सिद्धों में जीव का लक्षण उपयोग नहीं पाया जाता। क्योंकि शास्त्रों में उपयोग के जो विभिन्न लक्षण मिलते हैं वे सभी लक्षण कर्म की क्षयोपशम दशा में ही उपयोग की सत्ता की पुष्टि में हैं और आचार्यो का यह कथन युक्तिसगत भी है। क्योंकि उपयोग संसारी आत्मा का **लगाव**-रूप एक ऐसा परिणाम है जो अपूर्णदर्शन-ज्ञान यानी क्षयोपशम अवस्था में ही संभव है। यतः—क्षयोपशम अवस्था ज्ञान-दर्शन (चैतन्य परिणाम) की अल्पता की सूचक है और अल्पता ही जिज्ञासा में कारण है और जिज्ञासा ही किसी परिणाम के उत्पन्न होने या परिणाम के परिणामान्तरत्व मे कारण है। जिनके घातिया कर्मो का क्षय हो चुका हो, उनमें सर्वज्ञता के कारण समस्त तत्त्वों की त्रिकाली समस्तपर्यायें प्रकट होने से, न तो किसी परिणाम के पैदा होने का प्रसंग है और न ही परिणामांतरत्व का कोई कारण है। मानी हुई और अनुभूत बात है कि कोई भी परिणाम किसी जिज्ञासा (अपूर्णता) के पूर्ण करने के प्रसंग में ही जन्म लेता है और सिद्धों में पूर्णज्ञान के कारण किसी जिज्ञासा की संभावना नही रह जाती, जिससे उनके उपयोग-परिणाम हो सके। कहा भी है—'संसारिणः प्राधान्येनोपयोगिनः, मुक्तेषु तदभावात्।'—राजवा. 2।10।4

उपयोग शब्द : अब जरा, उपयोग शब्द की व्युत्पत्ति पर भी ध्यान दीजिए—उपयोग शब्द उप उपसर्गपूर्वक जोड़ना-जुड़ना अर्थ वाले 'युजिर्योगे' धातु से निष्पन्न है और इसकी व्युत्पत्ति है—'उपयोजनमुपयोगः, उपुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः, कर्मणिघञ्।' अभि. रा. पृ. 859, अर्थात् जिस कारण जीव वस्तु के परिच्छेद के प्रति व्यापार करता है, या वस्तु के प्रति जुड़ता है वह उपयोग है।

विचार करे कि क्या अनंतज्ञाता सिद्ध भगवान् किसी विषय (वस्तु) के परिच्छेद हेतु वस्तु में अपने ज्ञान-दर्शन की अभिमुखता, समीपता या जोडरूपता जैसा कोई व्यापार करते या कर भी सकते हैं या नहीं? जब कि समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें उनके ज्ञान मे स्वत. ही स्पष्ट हैं। ऐसे में वस्तु परिच्छेद की बात ही पैदा नहीं होती। तत्त्वदृष्टि से भी अनन्त-ज्ञाता सिद्ध भगवान् विषय की ओर स्वयं अभिमुख नहीं होते, अपने ज्ञान को स्वयं उससे नहीं जोड़ते, अपितु पदार्थ स्वयं ही उनके दर्पणवत् निर्मल अनन्तज्ञान में झलकते हैं। ऐसे मे पदार्थो के स्वयमेव ज्ञान में झलकने रूप पदार्थों की प्रक्रिया को, पदार्थों के प्रति सिद्धो का उपयोग, जुडाव या लगाव कैसे और क्यों कहा या माना जा सकेगा? अर्थात् नहीं माना जा सकेगा। फिर जब सिद्धों में उपयोग—परिणाम की उत्पत्ति में कारणभूत ज्ञान-दर्शन की न्यूनता तो क्षयोपशम जैसी कोई बात ही नहीं। न्यूनता—क्षयोपशम जैसी कोई बात ही नहीं। न्यूनता तो क्षयोपशम अवस्था में ही होती है, और उपयोग, न्यूनता की स्थिति में ही होता है। फलतः—ऐसा ही सिद्ध होता है कि अनन्त दर्शन-ज्ञानमयी अशरीरी अवस्था मोक्ष में उपयोग को कोई स्थान नहीं। वास्तव में तो क्षायिक दर्शन और ज्ञान ये दोनो पूर्ण ज्ञान-दर्शन हैं—उपयोग नहीं है।

उपयोग के भेदों में संसारियों को लक्ष्य कर जो केवलदर्शन और केवलज्ञान को उपयोग कहा है वह भी व्यवहार है और वह अरहंतों में भी मात्र उनके जीव-संज्ञक होने की दृष्टि से ही है—मोक्ष या सिद्ध दशा की दृष्टि से नहीं है। कहा भी है—'मुक्तेषु तदभावात्' गौणः कल्प्यते—राजवा. 2।10।5—यहाँ मुक्त से अरहंतों का ग्रहण करना चाहिए—वे जीव हैं और जीव के 'संसारिणोमुक्ताश्च' जैसे भेदों में आते हैं और वे आयु आदि औदयिक प्राणों

से जीवित हैं और उनका चेतन, घातिया कर्मों से मुक्त हो चुका है। सिद्ध दशा तो मुक्त होने के बाद, अशरीरी होने—संसार छूटने के बाद की मोक्ष रूप निर्मल अवस्था मात्र है। कहा भी है—**'अवस्थान्तरं'** मोक्ष इति।'

यद्यपि वास्तव में केवलज्ञानी अरहंतों में भी ज्ञान की अनन्तता होने से उनमें उपयोग को स्थान नहीं—गौण ही कल्पित है—'गौणः कल्प्यते।'—उनके मन भी नहीं है, फिर भी ज्ञान उनकी दिव्य ध्वनि में कारणभूत है और दिव्यध्वनि ज्ञान का कार्य है इसलिए उनमें उपयोग **कल्पित** किया जाता है। इस विषय को धवला में शंका समाधानपूर्वक स्पष्ट किया गया है कि दिव्य ध्वनि ज्ञान का कार्य है। वहां उल्लेख है—

'तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति; चेन्न; तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।'—धवला 1।1।122 पृ 368 शंका—अरहंत परमेष्ठी मे मन का अभाव होने पर मन के कार्य रूप वचन का सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि वचन ज्ञान के कार्य है, मन के नहीं।

—केवलज्ञानोपयोग के संबंध मे एक बात और है जो उभर कर समक्ष आती है। सवार्थसिद्धि हिन्दी टीका मे सिद्धात-शास्त्री प फूलचद जी ने अध्याय 1 के सूत्र 9 की टीका में स्पष्ट लिखा है कि 'मूलज्ञान मे कोई भेद नही है, पर, **आवरण के** भेद से वह पांच भागों में विभक्त है।'—ज्ञानपीठ संस्करण 1944, पचाध्यायी में इसी बात को स्पष्ट रूप में घोषित किया है—'क्षयोपशमिकंज्ञानमुपयोग. स उच्यते।'—2।880

पंडित जी जैन सिद्धान्त के ख्यातनामा निष्णात विद्वान् हैं। उनके उक्त कथन से स्पष्ट है और सन्देह की गुंजायश नहीं रह जाती। इसके अनुसार जहाँ आवरण-भेद होता है, वहीं ज्ञान में भेदरूप—मतिज्ञानादि व्यवहार होता है और आवरणक्षय की अवस्था में नहीं। एतावता ज्ञानावरणरहित अवस्था—पूर्णज्ञान में भेदजन्य केवलज्ञानादि जैसा नाम भी क्यों होगा और उक्त नाम के अभाव में कथित—केवल ज्ञानाश्रित उपयोग भी क्यों होगा? फिर जब सर्वत्र लक्षणों में उपयोग को क्षयोपशम की

निमित्तता ही स्वीकार की गई है तब अवधारणा के ज्ञान—केवलज्ञान की गणना उपयोगों में क्यों होगी? यदि आचार्यों द्वारा कहीं भी उपयोग होने में क्षयोपशम की भाँति, आवरण-क्षय के निमित्त होने का मूल—स्पष्ट उल्लेख किया गया हो तो उसे विचार श्रेणी में लाया जा सकता है। फिर हमें मान्य आचार्य अमृतचन्द्र की इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि उन्होंने उपयोग को पर-द्रव्य के संयोग का कारण और आत्मा का अशुद्ध परिणाम बतलाया है, जिसकी सिद्धों में संभावना नहीं। तथाहि—'उपयोगो हि आत्मनो पर द्रव्य संयोगकारणमशुद्धः।'—प्रव. सा. टीका।2।64, इस भाँति उपयोग अशुद्ध और विकारी दशा का सूचक होने से सिद्धों में नहीं, इसलिए 'सिद्धा ण जीवा' कथन सर्वथा उचित है।

प्राण और चेतना :

हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि प्राण और चेतना का सम-काल अस्तित्व होना जीव तत्त्व का परिचायक है। प्रमाण-दृष्टि से जीव में सम-काल मे प्राण और चेतना दोनों ही होने चाहिए और हैं। श्री वीरसेनाचार्य साधारण आचार्य नहीं थे। उन्होंने वास्तविकता को पहिचानकर ही जीव-सज्ञा में कारणभूत जीवत्व को औदयिक और नश्वर माना और चेतन के शुद्धरूप-सिद्धत्व को जीव संज्ञा से बाह्य रख 'सिद्धा ण जीवा' जैसी घोषणा की।

विचारना यह भी होगा कि प्राण और चेतना इन दोनों में मुख्य कौन है? चेतना के अस्तित्व में प्राण हैं या प्राणों के अस्तित्व से चेतना? हमारी दृष्टि से तो आचार्य मान्यतानुसार प्राण कर्माधीन औदयिक और नश्वर भाव हैं और चेतन स्थायी है और आचार्य की दृष्टि में जीवत्व और जीव-संज्ञा औदयिक प्राणों पर आधारित हैं। ऐसे में स्थायी भाव चैतन्य नाम को तिरस्कृत कर औदयिक भाव-जन्य नश्वर जीव-जीवत्व नाम को प्रधानता देना और जीवत्व जैसे औदयिक भाव को चेतन का पारिणामिक भाव कहना, कैसे संभव है यह सोचने की बात है। फलतः आचार्य के कथन 'चेयणगुणमवलम्ब्य परूविदमिदि' के परिप्रेक्ष्य में तो हम 'सिद्धा ण जीवा' के

ही पक्ष में हैं। हमारी बुद्धि में लोगो का यह कथन भी सही नहीं बैठता कि–आचार्य ने 'सिद्धा ण जीवा' कथन जीवत्व के औदयिक भावाश्रितापेक्षा में किया है और पारिणामिकभावापेक्षया जीवत्व का निषेध नहीं किया। क्योंकि यदि उन्हें आत्मा के प्रति जीवत्व-भाव का कथंचित् भी पारिणामिकपना स्वीकृत होता तो वे 'चेयणगुणमवलम्ब्य' के स्थान पर अवश्य ही 'पारिणामिकभावमलम्ब्यजीवत्व परूविदमिदि' जैसा कथन करते और जीवत्व का ऐसा निरादर न करते। फिर जब–जैसा कि लोग समझ रहे है वैसा–यदि आचार्य को जीवत्व में व्याप्त चेतन मे–औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव स्वीकार्य होते, तब वे सिद्धों में जीवत्व के सर्वथा अभाव का स्पष्ट उल्लेख न करते। जब कि एक भाँति भी सिद्धों में जीवत्व होने पर भी उसका सर्वथा निषेध करना न्याय्य नहीं कहा जा सकता।

मालूम होता है कि वास्तविकता यही है कि–औदयिकभावरूप जीवत्व सिद्धों मे है नही और आत्मप्रति पारिणामिक-भाव मे जीवत्व को स्थान नहीं–उसे तो सदा से चेतन ग्रहण किए बैठा है। 'जीवा हि सहज **चैतन्यलक्षणपारिणामिकभावेना**नादिनिधना।' पंचास्ति. टीका 53। इसीलिए आचार्य ने नश्वर-औदयिक जीवत्व को सर्वथा तिरस्कृत कर चेदणगुण को प्रधानता दे कथन किया है और दो टूक बात कह दी है–'सिद्धा ण जीवा'। आचार्य ने यह तो कहीं कहा नहीं कि हम जीवत्व को कथंचित् पारिणामिक भी मानते हैं और प्रसग मे हमने औदयिक भावरूप जीवत्व मात्र का निषेध किया है? इसके विपरीत उन्होंने इस भाव को ही स्पष्ट किया है कि उमास्वामी ने चेतन-गुण के आधार से प्ररूपणा की है। इसमे उनका भाव है कि–जीव में एक काल मे पारिणामिकरूप चेतनत्व और औदयिकरूप जीवत्व दोनों भाव है और उमास्वामी ने चेतन-गुणरूपपारिणामिक भाव को प्रधानकर प्ररूपणा की है और सर्वथा प्राणाधार पर आश्रित जीवत्व (जो पारिणामिक नहीं है) को सर्वथा-सर्वथा छोड़ दिया है। वीरसेन स्वामी जी ने इसी भाव मे 'पारिणामिक-भावजीवत्वमलवम्ब्य परुविदं' न लिख 'चेयणगुणमवलम्ब्य परूविदमिदि' जैसा वाक्य लिखा है और उमास्वामी ने भी 'मोक्षप्राप्त आत्मा में शेष गुणों में जीवत्व की जगह 'सिद्धत्व' शब्द

दिया है—अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।'

यदि आचार्य को 'जीवत्व' कथमपि चेतन के पारिणामिक रूप में स्वीकृत होता तब—जहाँ उन्होंने 'सिद्धाणं वि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे' प्रश्न का उत्तर—(मन में ऐसा भाव रखकर कि—'यदि उपचार से भी सिद्धों में जीवत्व मान लिया जाय तो क्या हानि है?') 'उवयारस्स सच्चत्ताभावादो' रूपकथन द्वारा दिया, वहां वे 'सिद्धाणं वि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे' का सीधा उत्तर 'सव्वाहा जीवत्तस्साऽभावेण, पारिणामियजीवत्तंतु तत्थ अत्थि एव' रूप में भी दे सकते थे। इससे लोगों का यह कथन भी फलित हो जाता कि आचार्य औदयिक और पारिणामिक दो प्रकार का जीवत्व मानते हैं और वे प्रसंग मे पारिणामिक रूप जीवत्व की सत्ता मान रहे हैं। पर, स्पष्ट ऐसा होता है कि उन्हे सिद्धो में जीवत्व किसी भी भांति स्वीकार्य नही और इसीलिए वे सिद्धो में जीवत्व के उपचार (करने मात्र) का भी निषेध कर रहे हैं—उपचार को ठीक नहीं मान रहे—'उवयारस्स सच्चताभावादो।'—

उक्त तथ्य तब और खुलकर सामने आ जाता है जब आचार्य यह स्पष्ट कह देते है कि—'जीविद पुव्वा इदि'—सिद्ध पूर्व में जीवित थे। क्या, इसका यह स्पष्ट भाव नहीं कि सिद्ध अवस्था में वे किसी भांति भी जीवित नही कहे जा सकते—वे सिद्ध होने से पूर्व जीवित थे—उनमें जीवत्व था। यदि वास्तव मे आचार्य को (लोगों की धारणा की भांति) सिद्धों में किसी भांति भी जीवत्व स्वीकृत होता तो वे 'जीविदपुव्वा' न कहकर ऐसा ही उल्लेख करते कि वे पहिले औदयिकरूप जीवत्व में जीवित थे और सिद्ध अवस्था मे पारिणामिक रूप जीवत्व में जीवित हैं। पर, ऐसा कुछ न कह उन्होने सिद्धो मे जीवत्व का सर्वथा ही निषेध कर इस मान्यता को स्पष्ट रूप में उजागर कर दिया कि—सिद्धो में जीवत्व किसी भांति भी नहीं है और जीवत्व में पारिणामिकपने का व्यवहार भी संसारावस्था तक कहलाता है और बाद में उसका स्थान चेतन—का शुद्धरूप **'सिद्धत्व'** ले लेता है। फलतः—'सिद्धा ण जीवा'—

उपयोग स्वभाव :– तत्वार्थसूत्र के कर्ता श्री उमास्वामी आचार्य ने जब जीव का लक्षण उपयोग किया तब एक बार फिर उन्होंने अन्य द्रव्यों की स्वाभाविक परिणति किस रूप में होती है इसका भी खुलासा बर्णन किया है और वह परिणति (जिसे उपग्रह नाम से कहा है) हर द्रव्य का अवश्यभावी स्वभाव है–जीव मे भी सदाकाल होनी चाहिए। तथाहि–'गति स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।' आकाशस्यावगाहः। शरीरवाड्मनः प्राणापानापुद्गलाना। सुखजीवित मरणोपग्रहाश्च। वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य और परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'–

गति में सहायक होना धर्म द्रव्य का, स्थिति में सहायक होना अधर्म द्रव्य का, स्थान देना आकाश द्रव्य का, शरीर-वचन-मन-प्राणापान-सुख-दुःख-जीवन-मरण पुद्गल द्रव्य का, वर्तना-परिणमन क्रिया-परत्व-अपरत्व जैसा बर्तन काल का और परस्पर में एक-दूसरे का उपकार करना जीव द्रव्य का स्वभाव कार्य है। आशय ऐसा कि उक्त द्रव्यों मे यदि निश्चित अपने-अपने कार्य–(उपकार) रूप परिणमन नही होंगे तो वे द्रव्य तन्नामद्रव्य नही कहलाएंगे। ऐसे में सोचना होगा कि सिद्ध भगवानों के लिए या अन्य किसी के उपकार के लिए स्वय क्या करते-कराते हैं अथवा कैसे करते-कराते हैं? यदि ऐसे किसी उपकार आदान-प्रदान की उनमें संभावना बनती हो तब तो वे जीव हैं–कृतकृत्य और सिद्ध नही और यदि उक्त सभावना नहीं बनती हो तो वे सिद्ध हैं–जीव नहीं।

जीवाश्च का व्याख्यान–एक प्रश्न यह भी उभर कर सामने आता है कि यदि जीव नाम आत्मा (चेतनगुण) की अशुद्ध अवस्था का है और जीवत्व नष्ट हो जाता है तो आचार्य ने 'जीवाश्च' सूत्र क्यों कहा है और जीव की गणना द्रव्यों में क्यो की? क्या द्रव्य का भी कभी लोप होता है?

प्रश्न बड़े मार्के का और तर्कसगत है। हां, द्रव्य का कभी लोप नहीं होता यह बात वीरसेन स्वामी के समक्ष भी रही और इस बात को उमास्वामी भी जानते रहे। दोनों ने ही शुद्ध मूल-द्रव्य का लोप नहीं किया। उमास्वामी ने जीव के चेतनत्व को 'सिद्धत्व' (शुद्ध चेतन) रूप में स्वीकृत किया–(अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञान-दर्शन-**सिद्धत्वेभ्यः**) और वीरसेन स्वामी

ने चेतन रूप में स्वीकृत किया—'चेदणगुणमवलम्ब्यपरूविदमिदि।'—दोनो मान्यताओं में भेद नही है।

ध्यान रहे कि तत्त्वार्थसूत्र और सभी शास्त्र मोक्षमार्ग के अभिलाषी अशुद्धात्माओं (जिन्हें हम जीव कहते हैं) को बोध देने की दृष्टि से ही रचे गए हैं और उन्हीं के संबोधन में हैं। आचार्य ने जब 'अबुधस्यबोधनार्थ' संसारियों की वर्तमान अवस्था जीवपने को लक्ष्य कर उन्हें, उनके विपरीत तत्त्व को समझाने के लिए 'अजीव कायाधर्माधर्माकाशपुद्गलाः' सूत्र रचा, तब उन्हें उक्त निर्दिष्ट अजीव शब्द से विपरीत (उस जोड़ी का) शब्द देना भी जरूरी हो गया और इसीलिए उन्होंने 'जीवाश्च' सूत्र की रचना की। और प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि भी यही रही—सब ही ने अशुद्ध को समझाने के लिए उसी के माध्यम से कथन किया। यदि प्रथम सूत्र में वे 'अचेतनकाया:' जैसा सूत्र कहते तो 'जीवाश्च' की जगह 'चेतनाश्च' भी कह देते। पर चेतन कहते कैसे? और किसको? जब कि उपदेश-पात्र की वर्तमान—अवस्था अशुद्धमात्र हो और उस काल चेतनत्त्व पर उसकी पकड़ ही न हो। यत:—जब जीव की पकड जीवत्व (प्राणधारणत्त्व) मात्र तक सीमित हो तब वह शुद्धचेतनत्त्व (स्वभावी दशा) को कहाँ, कैसे पकड़ सकता था और अशुद्ध चेतन को चेतन जैसे शुद्ध संबोधन से सबोधित भी कैसे किया जा सकता था।

सूत्र में आदि शब्द :—अभी तो हम 'औपशमिकादि भव्यत्वानां च' के भाव को ही नही पकड़ पा रहे हैं। जहां आचार्य ने कर्मक्षयके बाद की आत्मअवस्था का वर्णन करते हुए बतलाया कि उस अवस्था में औपशमिक आदि भाव भी नहीं रहते—वहां उनका भाव समस्त पाँचो भावों के अभाव होने से है और इसे सूत्र में यह तो कहा नहीं कि आदि शब्द में पारिणामिक का ग्रहण छोड़ दिया गया है। 'आदि' शब्द में तो सभी पाँचों भावों का ग्रहण न्याय्य ठहरता है। फलतः—हमारी दृष्टि से सूत्र में 'भव्यत्वानां च' का ग्रहण (जैसा कि माना जा रहा है—) 'पारिणामिक भावों में से भव्यत्व का नाश होता है और जीवत्व शेष रहता है' यह बताने के लिए नहीं मालूम होता अपितु वह इस शंका के निवारण के लिए मालूम होता है कि कोई यह न

समझ ले कि—पारिणामिक भाव होने से भव्यत्व मोक्ष में रहता होगा। आचार्य का भाव ऐसा रहा है कि भव्यत्व भाव जीव का है शुद्ध आत्मा का नहीं और वह भाव भी जीवत्व की भांति छूट जाता है। क्योंकि—ये बात उमास्वामी महाराज के ज्ञान से भी अछूती नहीं थी कि जीवत्वभाव की भांति भव्यत्व भी औदयिक है। इस बात को वीरसेन स्वामी ने तो स्पष्ट रूप में खोलकर सामने ही रख दिया। वे बलवान आचार्य थे और 'उत्तरोत्तरं बलीयः-' की श्रेणी में भी थे। वे कहते हैं—

'अघाईकम्मचउक्कोदयजणिदमसिद्धत्तं णाम। तं दुविहंतत्थ जेसिमसिद्धत्तमणादि-अपज्जवसिदं ते अभव्वाणाम। जेसिमवरं ते भव्वजीवा। तदो भव्वत्तमभव्वत्तं च विवागपच्चइयं चेव'—धवला पुस्तक 14 ।5 ।6 ।16 पृष्ठ 13

चार अघातिकर्मो के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव दो प्रकार का है........इनमें से जिनके असिद्धभाव अनादि अनन्त हैं वे अभव्यजीव है और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व ये भी विपाक (कर्मोदय) प्रत्ययिक ही है।

फिर, पारिणामिक भाव को स्वभाव-भाव माने जाने का जो चलन है, वह कर्मापेक्षी न होने के भावमात्र में है* और अशुद्ध चेतन (जीव) के ही भाव में हैं—चेतन के सदाकाल रहने वाले (ज्ञानादि की भांति) स्वभाव-भाव में नही है। यदि पारिणामिक भाव का भाव सदा काल भावी चेतन का स्वभाव होता तो पारिणमिक होने से भव्यत्व भी कभी नहीं छूटना चाहिए था जो कि छूट जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि आचार्यो को सिद्धावस्था में जीवत्व इष्ट होता तो वे 'औपशमिकादि भव्यत्वानां च सूत्र के स्थान पर 'औपशमिकादयश्च जीवत्व वर्ज्य' सूत्र जैसा कथन करके वहा जीवत्व के अस्तित्व की स्पष्ट घोषणा करते। पर उन्होंने ऐसा कुछ न कह कर सूत्र में 'आदि' शब्द से सभी भावों के अस्तित्व का निषेध ही किया है और जीव के पारिणामिकभाव भव्यत्व का भी निषेध (भ्रमनिवारणार्थ

* यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रय व्यवहारेण ससारि जीवेऽस्ति तथा सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया इतिवचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्तित्रयं, मुक्तजीवे पुनः सर्वथैव नास्ति द्र टी 13 ।38 ।।1

ही–जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं) किया है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय आवश्यक हो गया है कि उक्त 'आदि' शब्द की परिधि से पारिणामिक भाव् को वर्जित रखना क्यों और किस भाव में लिया जाने लगा जबकि 'आदि' शब्द सदा ही अशेष के ग्रहण का सूचक रहा है? निवेदन है कि आदि आचार्य उमास्वामी को उक्त भाव मान्य रहा तो उन्होंने सर्व सन्देहों को दूर करने और निश्चित स्थिति को स्पष्ट करने वाला 'औपशमिकादयश्चत्वारः भव्यत्व च' जैसा सूत्र ही क्यों नहीं बना दिया? इस दृष्टि को भी ऊहापोह द्वारा समझा जाय। यतः–हमें सभी आचार्य मान्य हैं। प्रस्तुत प्रसंग तो वीरसेन स्वामी के मन्तव्य की पुष्टि मात्र का है–किसी के विरोध का नहीं।

स्व तत्त्वम् :– जब हम जीव मे बतलाए गए पांचों भावों संबंधी सूत्र 'औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्व-तत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' पर विचार करते हैं तो हमें इसमे 'जीवस्य स्वत्तत्त्वम्' शब्द से स्पष्ट निश्चय हो जाता है कि उक्त पांचो भाव जीव के ही स्व-तत्त्व हैं–चेतन के स्व-तत्त्व नही हैं–और इसीलिए जीव अवस्था में इनका होना अवश्यंभावी है, यदि ये भाव नही है तो वह जीव नहीं है। साथ ही यह भी है कि ये पांचों भाव जीव मे होते है और शुद्धावस्था मोक्ष मे इनमें से कोई भी भाव नहीं हैं–वहा कर्मो के क्षय-क्षयोपशम आदि जैसी विवक्षा को भी स्थान नहीं है। स्मरण रहे कि वस्तु के शुद्ध स्वरूप में–जो कथन मे न आ सके और केवल अनुभव का विषय हो, उसमें विवक्षा कोई स्थान नहीं रखती, अस्तु।

फिर, यह भी विचारना होगा कि स्व और तत्त्व जैसे दो शब्दो का सूत्र में क्या आवश्यकता थी, सूत्र मे केवल 'स्व' देने से ही निर्वाह हो सकता था। पर आचार्य ने 'तत्त्वम्' जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया है कि–'तस्य भावस्तत्त्वम्' –य-पदार्थः यथा अवस्थितस्तस्य **तथैव भवनम्**।–जो जिस रूप में स्थित है उसका उसी रूप में होना तत्त्व है। उक्त स्थिति में जीव के पांचों भाव जीव के स्व-तत्त्व हैं और जीव मे ही होते हैं, शुद्ध चेतन मे नहीं। फलतः–यदि इन भावों से जीव का छूटना स्वीकार किया जाता है तो वह जीव ही नहीं ठहरता जिसे हम चेतन कह रहे हैं उस शुद्ध

रूप में आ जाता है। इसीलिए कहा है–'सिद्धा ण जीवा' चेयणगुणमवलम्ब्यपरुविदमिदि।

हमें श्री वीरसेनाचार्य वैसे ही प्रमाण हैं जैसे कुन्दकुन्द प्रभृति अन्य आचार्य। हम सभी को मान देकर तत्त्व-चिंतन कर रहे हैं–यदि किन्हीं को चिंतन मात्र ही असह्य हो और वे सम्यग्दृष्टि के लिए निर्धारित 'तत्त्व-कुतत्त्व पिछाने' का अनुसरण न करें–तो हम क्या करें, हम तो विचार के लिए ही कह सकते हैं।

अब प्रसंग तत्त्वों की पहिचान का है और हम भी 'तत्त्वकुतत्त्व पिछाने' वाक्य को पूर्व में दुहरा चुके हैं। उक्त प्रसंग में हमारी धारणा है कि–जैन दर्शन में छः द्रव्यों की स्वतंत्र और पृथक्-पृथक् त्रिकाली सत्ता स्वीकार की गई है तथा छहों द्रव्यों में पुद्गल के सिवाय अन्य सभी द्रव्यो को अरूपी बतलाया गया है–'नित्यावस्थितान्यरूपाणि', 'रूपिणः पुद्गलाः।'– ऐसा भी कथन है कि लोक-अलोक में छह द्रव्यों के सिवाय कही कोई सातवां द्रव्य नहीं है–सभी इन छह द्रव्यों में समाहित है। ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि से लोक में अन्य जो भी बुद्धिगम्य होता है वह सभी चेतन अचेतन का विकारी रूप है।

द्रव्य, पदार्थ या तत्त्व कुछ भी कहो, सभी शब्द एकार्थक और एक भाववाची जैसे रूप से प्रचलन में चले आ रहे है। प्रायः कुछ लोगों की धारणा ऐसी है कि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष भी वैसे ही स्वतंत्रस्वभावी तत्त्व हैं जैसे स्वतंत्र-स्वभावी छह द्रव्य हैं और इन तत्त्वों या पदार्थों का अस्तित्व द्रव्यों से जुदा है।

ऐसे मे सहज प्रश्न उठता है कि जब द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ जैसे सभी सांकेतिक शब्द एकार्थक और एकभाववाची प्रसिद्ध हैं और लोक-अलोक में छह द्रव्यों के सिवाय अन्य कोई स्वतंत्र-सत्ता नहीं; तब आचार्यों ने छह द्रव्यों, सात तत्त्वों और वन-पदार्थों का पृथक्-पृथक् वर्णन क्यों किया? क्या आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा तथा पुण्य, पाप की कोई स्वतंत्र, स्वाभाविक सत्ता है? अथवा यदि ये सभी स्वतत्र नहीं हैं तो इनको तत्त्व

क्यों कहा गया है और क्यों इनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का नाम दिया गया जब कि ये सभी चेतन-अचेतन के आश्रित रूप् हैं?

स्मरण रहे कि आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा आदि जैसे तत्त्व या पदार्थ नामवाची सभी रूप, चेतन और अचेतन के मिश्रित-विकारी अस्तित्व हैं; इनमें से कोई भी स्वतंत्र या मूलरूप में वैसा नहीं जैसे कि छह द्रव्य हैं। फलतः इन तत्त्वों को मूलरूप में वैसे ही स्वीकार नहीं करना चाहिए जैसे छह द्रव्यों को स्वीकार किया जाता है। खुलासा इस प्रकार है—

जैसे जीव में पुद्गल कर्मो के आगमन में हेतु भूत मन-वचन-काय द्वारा आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द को आस्रव कहते हैं और स्वयं ये मन-वचन-काय भी किसी एक शुद्ध द्रव्य के शुद्धरूप नहीं हैं—वे भी चेतन-अचेतन के मिश्रण से निष्पन्न हैं, तब मिश्रण से निष्पन्न आस्रव को मूल या शुद्ध तत्त्व (द्रव्य) कैसे माना जा सकता है? वह तो दो के मिश्रण से होने वाला व्यापार है। ऐसे ही बंध भी कोई स्वतंत्र मूल तत्त्व नहीं, वह भी कषायभाव पूर्वक चेतन के साथ जड़ कर्म के बंधने की क्रिया मात्र है और मिश्रण से निष्पन्न क्रिया को मूलतत्त्व (द्रव्य) नहीं माना जा सकता। यही बात संवर में है। वहाँ भी मूल तत्त्व चेतन आत्मा और अचेतन कर्म है और वहाँ पुद्गल कर्म के आगमन के रुकने रूप क्रिया भी दो का विकार है। इस प्रकार पुद्गल कर्मो को आना, बंधना, रुकना सभी विकारी है। ऐसे ही निर्जरा यानी कर्मो का झड़ना भी चेतन-अचेतन दोनों मूलतत्त्वों के विकारी भावों से निष्पन्न व्यापर है—कोई मूल स्वतत्र तत्त्व नहीं है। अब रही मोक्ष तत्त्व की बात। सो वह भी परापेक्षी अवस्था से निष्पन्न है और वहां भी मूल तत्त्व शुद्ध चेतन ही है।

जब हम दिव्य ध्वनि से पूर्व के गौतम (बाद के गणधर) के प्रति इन्द्र द्वारा प्रकट की गई जिज्ञासा का मूल श्लोक पढते है तब उसमें हम इन सभी को मोक्ष-मार्ग के बिधान मे पाते हैं, न कि त्रिकाली स्वतंत्र (द्रव्य) की सत्ता के रूप में।—"इत्येतन्मोक्षमूलं।" आदि। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं जीव षट्काय लेश्या।

पंचान्ये चास्ति कायाः व्रतसमितिगतिर्ज्ञान चारित्र भेदाः।।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैर्प्रोक्तमर्हद्धिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः।।'

अर्थात्–इनका श्रद्धान ज्ञान और अनुभवन किए बिना मोक्ष या मोक्षमार्ग का अनुसरण नहीं किया जा सकता। जो भव्य प्राणी इन विधियों, क्रियाओं और स्थितियों का विधिपूर्वक सही-सही श्रद्धान-ज्ञान अनुभवन करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। इसका आशय ऐसा है कि संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग दर्शाने में आस्रवादि **तत्त्व है यानी–सारभूत** हैं। इन प्रक्रियाओं को समझे बिना कोई जीव मोक्षमार्ग में नहीं लग सकता– जब कोई जीव इन विकृतियों–विकारों को समझेगा, इनसे परिचित होगा तभी वह निवृत्ति–(मोक्षमार्ग) की ओर बढेगा और काल-लब्धि के आने पर उस भव्य जीव को मोक्ष भी हो सकेगा, आदि। इस प्रकार तत्त्व या पदार्थ नाम से प्रसिद्ध जो कुछ है वह सब मोक्षमार्ग-दर्शाने के भाव मे तत्त्व–सारभूत है–किसी स्वतत्र सत्ता के भाव मे नही है, ऐसा सिद्ध होता है। फलतः–

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष कोई स्वतंत्र तत्त्व (द्रव्य) नहीं–वहां तत्त्व शब्द का अर्थ **मोक्षमार्ग में सारभूत–प्रयोजनभूत मात्र है**। भाव ऐसा है कि उक्त सभी अवस्थाऍं विकारी भाव तक सीमित है और उसी दृष्टि में मानी गई हैं। इसी प्रकार 'जीव' संज्ञा भी विकारी होने के भाव में है, जब विकारी आत्मा विकाररहित अवस्था में आ जाता है तब वह जीवरूप मे न कहा जाकर 'सिद्ध' या परम-आत्मा कहलाता है और आचार्यवर वीरसेनाचार्य ने इसी तत्त्व (वास्तविकता) के प्रकाशन के लिए स्पष्ट किया है कि–**'सिद्धा ण जीवा'** अर्थात् सिद्ध जीव नहीं है उन्हें जीवितपूर्व कहा जा सकता है–**'जीविदूपुव्वा इदि'**–

सोचने की बात यह भी है कि क्या जीव और अजीव दोनों की उपस्थिति के बिना आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हो सकते है जो इन्हें स्वतंत्र तत्त्व (द्रव्य) माना जा सके? फिर यह भी सोचना है कि जब

लोकालोक में छह द्रव्यों के सिवाय अन्य कुछ नहीं, तब यह स्वतत्र तत्त्व कहां से आ गए? शास्त्रों में आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा के जो लक्षण दिए हैं, उन लक्षणों के अनुसार किस तत्त्व का समावेश (अन्तर्भाव) किस स्वतंत्र द्रव्य में होता है? यह भी सोचना होगा। हमारी दृष्टि से तो द्रव्यों में कोई भी स्वतत्र द्रव्य ऐसा नहीं, जिस किसी एक में भी स्वतंत्ररूप से इन तत्त्वों का अन्तभार्व हो सके। अतः मानना पड़ेगा कि इन उपर्युक्त तत्त्वों की द्रव्यों जैसी कोई स्वतत्र सत्ता नहीं अपितु ये सभी के सभी चेतन-अचेतन के विकार से निष्पन्न हैं; इन्हें हम चेतन-अचेतन की विकारी क्रिया भी कह सकते हैं और क्रिया या व्यापार कभी द्रव्यवत् स्थायी नहीं होते। अन्यथा यदि व्यापार-क्रिया ही तत्त्व हो जाय, जो खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना आदि व्यापार भी तत्त्व कहलाएँगे और इस प्रकार तत्त्वों की संख्या सात न रहकर असंख्यातो तक पहुंच जायगी। अतः ऐसा ही मानना चाहिए कि प्रसंग में तत्त्व शब्द का अर्थ सारभूत है और मोक्षमार्गी को इन प्रक्रियाओं को जानना चाहिए, क्योंकि ये मोक्षमार्ग में—भेद-विज्ञान में उपयोगी—सारभूत हैं। इसी प्रकार जो स्थिति इन तत्त्वों की है वही स्थिति जीव की है और जीव भी विकारी अवस्था है। जब भेद-विज्ञान द्वारा आत्मा को जीवत्व पर्याय का बोध होगा, तब वह अपने को विकारत्व से पृथक् कर सकेगा—स्व-शुद्धत्व में आ सकेगा और उसका विकारी भाव 'जीवत्व' छूट जायगा—वह 'सिद्ध' या परम आत्मा या शुद्ध-चेतन हो जायगा। इसी भाव में श्री वीरसेनाचार्य जी ने घोषणा की है कि—'सिद्धा ण जीवा।'—

इस प्रसग में 'जीवाश्च' सूत्र क्यों कहा और अचेतन का नामकरण भी अजीव क्यों किया? इसका खुलासा हम पहिले ही कर चुके हैं। लोग इस विषय को लौकैषणा या पक्ष-व्यामोह का विषय न बनाएँ—यह चिंतन का ही विषय है। इसे पाठक विचारें, हमें आग्रह नहीं।

❑

भरतक्षेत्र के "सीमंधर" दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द

**"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जो चीरा तो कतरए खूं भी न निकला।।"**

जैन 'जिन' का धर्म है। और 'जिन' वीतराग होते है–तिल तुष मात्र परिग्रह से अछूते। अपर शब्दों में हम इन्हें दिगम्बर कह सकते है। हम सब आज अपने को दिगम्बर धर्मी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं, पर कम लोग ही ऐसे होंगे जो दिगम्बरत्व–संरक्षण के इतिहास से परिचित हों। हमारी मान्यता रही है कि एक बार बारह वर्ष का अकाल पड़ा, उससे पहले जैन धर्म भागों में विभक्त नहीं था। व्यक्तिगत रूपो में, कई बातो मे, मतभेद होते हुए भी वे परम्परित जैन ही कहलाते रहे। पर बारह वर्षीय अकाल के बाद अनेक शिथिलाचारों के कारण उनमें दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे दो भेद हो गए और कालान्तर मे तो अब अनेको भेद सुने जाते हैं। अस्तु...

दिगम्बरों और श्वेताम्बरों मे पर्याप्तकाल तक मतभेद और विवाद चलते रहे और धर्मनियमो की मर्यादाएं बिखरने लगीं, तब धर्म की मूल-मर्यादा की रक्षा का श्रेय आचार्य पद्मनन्दी (कुन्द-कुन्द) को प्राप्त हुआ। उन्होने वीतराग धर्म के मूल 'दिगम्बरत्व' की रक्षा की और हमारे 'मूलाचार्य' कहलाए और दिगम्बरों को 'कुन्द-कुन्दाम्नायी' कहलाने का सौभाग्य मिला।

जब वीतराग धर्म अर्थात् दिगम्बरत्व की यम-नियम सम्बन्धी सीमाएं ध्वंस हो रहीं थीं तब कुन्द-कुन्दाचार्य ने उन्हें दृढ़ता से स्थापित किया। फलतः सीमाओ को धारण करने के कारण वे स्वय **सीमंधर** थे परतु ऐसे में

लोगों ने कल्पना कर डाली कि वे विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के पास गए और इसकी पुष्टि में उन्होंने मनमानी, भिन्न-भिन्न कथाएं रच डालीं, जो आगम सम्मत नहीं हैं, उन्हें गढ़कर उनका प्रचार कर दिया-आदि। ऐसा सब इसीलिए हुआ कि लोगों की दृष्टि में विदेह के एक मात्र तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ही थे जो उन्हें (कुन्द-कुन्द को) बोध दे सकते थे। कथाओं के माध्यम से किन्हीं ने कहा कि उन्हें विदेह देव ले गए तो किन्हीं ने कहा कि चारण मुनि ले गए। एक महान् विद्वान् ने तो यहां तक लिख दिया कि बिहार प्रान्त के एक ओर विदेह है वहीं कुन्द-कुन्द गए आदि।

जबकि इस प्रकार की कथाएं आगमिक न होकर कल्पना मात्र हैं और इनमें मुनिचर्या विरोधी आदि अनेकों प्रसंग उपस्थित होते हैं। जैसे प्रश्न उठते हैं कि क्या कुन्द-कुन्द स्वामी ने देवों से विमान में बैठकर विदेह ले जाने को कहा? या फिर देवों ने बलात् उन्हें विमान में बिठा लिया? यदि ऐसा था तो आगम में इसका कहीं तो उल्लेख होना चाहिए था। ऐसी अवस्था में आचार्य को प्रायश्चित्त भी करना चाहिए था जिसका आगम में कही उल्लेख नही है। न चारण ऋद्धि या आहारक-शरीर आदि का उल्लेख ही है। यदि आगम में कही भी किसी एक का भी उल्लेख हो तो प्रमाण सहित खोजा जाए।

इसके सिवाय न कहीं कुन्द-कुन्द ने ही अपने विदेहगमन की बात की है और न कहीं सीमंधर तीर्थंकर का उपकार ही स्मरण किया है जबकि वे बार-बार श्रुतकेवली (भद्रबाहु स्वामी) का स्मरण करते रहे हैं। कुन्द-कुन्द स्वामी के विदेह गमन और सीमंधर स्वामी के पास जाने की मान्यता वालों के लिए क्या यह विडम्बना नहीं होगी कि कुन्द-कुन्द स्वामी तीर्थंकर सीमंधर का स्मरण छोड़ बार-बार श्रुतकेवली का उपकार मानते रहे जबकि श्रुतकेवली उनसे लघु होते हैं।

प्राकृत के महान् शब्दकोष 'अभिधानराजेन्द्र' में 'सीमंधर' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार ही है–**"सीमां-मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति। न आत्मना विलोपयति यः सः तथा। कृतमर्यादा पालके।"**

इसका अर्थ इस प्रकार है—सीमा-मर्यादा, जो पूर्वपुरुषों, तीर्थंकरों, गणधरादि श्रुतकेवलियों तथा निर्दोष चारित्रपालक आगमज्ञ परंपरित आचार्यों द्वारा स्थापित की गई है उसको धारण करते-कराते है—स्वयं उसका लोप नहीं करते हैं और मर्यादा का पालन करने वाले हैं वे **'सीमंधर'** कहलाते हैं।

परपूज्य स्वामी पद्मनन्दी (कुन्द-कुन्द) आचार्य ऐसे ही थे। कुन्द-कुन्दाचार्य ने दिगम्बर की सीमा का विशद रूप में निर्धारण किया इसीलिए इन्हें 'मूलाचार्य' कहा गया और कालातर में देवसेन जैसे मान्य आचार्य ने इन्हें गाथा मे **'सीमंधर'** विशेषण से विभूषित किया। देवसेन जैसे महान् आचार्य जो सिद्धात के ज्ञाता थे, वे पद्मनन्दी आचार्य के विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकर सीमधर स्वामी के समीप जाने की कल्पना कर सिद्धांत का विरोध क्यो करते? आचार्य देवसेन ने विदेह गमन की बात भी कहीं नहीं कही। वे जानते थे कि कथाएं वे ही मान्य होती है—जो सिद्धात से अविरुद्ध और सिद्धांत की पोषक हों।

विदेह गमन की कथाओं में एकरूपता न होने और सिद्धांत विरोधी होने से वे मान्य कैसे हो सकतीं हैं? कुन्द-कुन्द ने बारम्बार श्रुतकेवली के उपकार का स्मरण कर और कहीं एक बार भी सीमंधर का स्मरण न कर स्वयं यह स्पष्ट कर दिया है कि वे विदेह नही गए-उनके गुरु श्रुतकेवली ही थे जिनसे उन्हें बोध प्राप्त हुआ। वे स्वयं भरत क्षेत्र के 'सीमधर' थे अतः उनके विदेह जाने की कल्पना निराधार एवं आगम विरुद्ध है।

हम निवेदन कर दे कि दिगम्बरत्व की सीमा (मर्यादा) का निर्धारण करने वाले **सीमंधर** कुन्द-कुन्द हमारे मूलाचार्य हैं। उनमें हमारी दृढ़ आस्था है। हमें खेद है कि इस युग में अर्थ की प्रधानता ने लोगों पर ऐसा जादू डाला है कि कतिपय दिगम्बर जैन प्रमुख-प्रमुख-वक्ता तक कुन्द-कुन्द की जय बोलकर कुन्द-कुन्द द्वारा घोषित नियमो की अवहेलना करने तक मे प्रमुख बन रहे है, साधारण विद्वानों एवं अन्य श्रावकों की तो बिसात ही क्या? वे भी किन्हीं न किन्हीं भावों को संजोए उनके आगे पीछे चक्कर लगाने में व्यस्त दिखाई देते हैं।

कुछ ऐसी हवा चल गई है कि लोग आत्मदर्शन के साधनभूत व्रत संयमादि की उपेक्षाकर परिग्रह में लीन रहकर आत्मदर्शन का प्रचार करने में लगे हुए हैं और लाखों दिगम्बर जैन चारित्र की उपेक्षाकर मात्र साम्बरत्व में आत्मदर्शन का यत्न करने में लगे हैं, जबकि कुन्द-कुन्द की स्पष्ट घोषणा है कि–

परमाणुमितयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।

अर्थात् जिसके रागादि (राग, द्वेष, मोह) परमाणु मात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगमों का धारी होने पर भी आत्मा को नहीं जानता है। यदि मूलाचार्य कुन्द-कुन्द की इस घोषणा की उपेक्षा चलती रही तो कुछ काल बाद साम्बरत्व में आत्मादर्शन व मुक्ति होने तक की परिपाटी चल जाएगी जो दिगम्बरत्व के सिद्धांत के लिए घातक होगी।

क्या दिगम्बरों को यह इष्ट है-परिग्रही को मुक्ति?

आचार्य देवसेन ने जो गाथा कही है हमने वह उद्धृत देखी है प्रयत्न करने पर भी अभी हमें मूल ग्रंथ प्राप्त नहीं हो पाया है, प्राप्त होने पर ही हमें मूलगाथा देखकर पता चलेगा कि वास्तविकता क्या है। उद्धृत प्राप्त गाथा से तो 'अभिधान राजेन्द्र कोष' सम्मत अर्थ की ही पुष्टि होती है।

❑

दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है?

"भरते हैं मेरी आह को वोह ग्रामोफोन में।
कहते हैं फीस लीजिए और वाह कीजिए।।"

हम 'अनेकान्त' में पहले लिख चुके हैं कि हमारे परमपूज्य मूल आचार्य पद्मनन्दि आचार्य (कुन्दकुन्द) स्वय ही सीमधर रहे। कुन्दकुन्द की विदेह के सीमंधर तीर्थंकर के पास जाने की कल्पना निराधार है और कुन्दकुन्द ने स्वय भी कहीं उनका स्मरण नहीं किया है—वे बारम्बार श्रुतकेवली का ही उपकार मानते रहे हैं। फलत· उनके विदेह गमन की किवदन्ती मात्र रही जो क्रमश· भिन्न-भिन्न कल्पित विरोधी कथाओ से गढ़ी जाती रही। हमें दर्शनसार की गाथा देखने मे आयी। स्वय देवसेनाचार्य ने लिखा है कि दर्शनसार संग्रह ग्रथ है, उनका स्वयं रचित नही। उन्होंने संग्रह कहां से किया है इसका भी प्रमाण देखने में नही आया। तथाहि—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण।।
रइओ दंसणसारो हारे भव्वाण णवसएणवए।
सिरि पासणागेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए।।"—(दर्शनसार-49-50)

अर्थात् पूर्वाचार्यो द्वारा कही गयीं गाथाओ को इकट्ठा करके धारा में रहते हुए श्री देवसेन गणि के द्वारा भव्यजीवों के हाररूप दर्शनसार स. -909 माघ सुदी दशमी को प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मंदिर मे रचा गया।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि दर्शनसार ग्रथ देवसेन गणि की मौलिक रचना न होकर पूर्व किन्हीं भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा रचित गाथाओं का

संकलित ग्रंथ है जिसे लोगों ने देवसेन का स्वरचित मानकर प्रमाणिकता दे दी है। इसी आधार पर निम्न गाथा–

> **"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।**
> **ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।"–(दर्शनसार-43)**

के गलत अर्थ को प्रामाणिक मानकर पद्मनन्दि आचार्य को सीमंधर स्वामी (विदेह के तीर्थंकर) के समीप जाने की मिथ्या कल्पना भी कर ली जबकि उक्त गाथा से यही स्पष्ट होता है कि **पद्मनन्दि आचार्य ही सीमंधर विशेषण से युक्त थे** और उन्हीं ने दिव्यज्ञान के द्वारा मुनियो को सम्बोधित किया था न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ने पद्मनन्दि आचार्य और अन्य श्रमणों को। गाथा के अन्वयार्थ से भी यही स्पष्ट होता है–

अन्वय– जइ सीमंधर सामि पउमणंदि णाहो दिव्वणाणेण
ण 'विवोहइ' तो समणा सुमग्गं कहं पयाणंति।

स्पष्ट है कि उक्त गाथा में सीमधर स्वामी विदेह के तीर्थकर नहीं अपितु पद्मनन्दि आचार्य स्वयं सीमंधर हैं क्योकि उन्हीं ने ऐसे कठिन समय मे जबकि श्वेताम्बरों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन कर दिया था तब दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए आगमानुसार दिगम्बरत्व की सीमाओं का अवधारण किया और कराया–**"सीमां मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति। न आत्मना विलोपयति यः सः तथा। कृतमर्यादापालके।"**

–(अभिधान राजेन्द्र)

अतः गाथा मे सीमंधर स्वामी पद्मनन्दि का विशेषण है, न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर के प्रसंग में।

यदि विदेह के तीर्थकर सीमंधर स्वामी के पास कुन्दकुन्दाचार्य का जाना हुआ होता और उनसे उपदेश प्राप्त हुआ होता तो गाथा में क्रिया का रूप कर्मवाच्य होने के कारण **'विवोहिअ'** होता न कि कर्तृवाच्य का रूप **'विवोहइ'** जबकि उपर्युक्त गाथा में कर्तृवाच्य के रूप का प्रयोग

किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग पद्मनन्दि आचार्य के लिए ही किया गया है न कि विदेह के तीर्थकर स्वामी के लिये। यदि पद्मनन्दि आचार्य विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी से उपदिष्ट होते तो गाथा में कर्मवाच्य **'विवोहिअ'** का प्रयोग किया गया होता न कि कर्तृवाच्य के रूप **विवोहइ** का।

विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के कुन्दकुन्दाचार्य ने उपदेश ग्रहण किया इस भ्रान्त धारण के प्रचलित होने से लोगों ने विदेह के सीमधर तक की मूर्ति यहां स्थापित कर दीं। वास्तविकता तो यह है कि कुन्दकुन्द का गुणगान करके कुछ छद्म लोग अपने स्वार्थो को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द के दिगम्बरत्व पोषक सिद्धान्तो का प्रच्छन्न विरोध ही करते रहे है जबकि कुन्दकुन्दाचार्य ने–

"परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।"
"चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्तिणिदिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।"

जैसी गाथाओं द्वारा रागादि के किञ्चित् मात्र भी होने पर आत्मज्ञान होने का सर्वथा निषेध किया है। तब भी ये कुन्दकुन्द के गुणगान का स्वांग भरने वाले स्वार्थ सिद्धि के लिए गृहस्थ अवस्था मे ही आत्मानुभूति की चर्चा करने लगे हैं; जो कुन्दकुन्द के दिगम्बरत्व सम्बन्धी सिद्धान्तो के सर्वथा विपरीत है।

आगम में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांच ज्ञानो का उपदेश है तथा यह भी उपदेश है कि इनमे से चार ज्ञान रूपी पदार्थो को जानते हैं अरूपी आत्मा को मात्र केवलज्ञान ही जानता है।

कहा गया है–**'रूपिष्ववधेः' 'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य' 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'**। ऐसे में छद्मस्थों को आत्मानुभव की बात करना आगम और पाठकों को धोखा देना और दिगम्बरत्व के विरुद्ध

प्रचारमात्र है। इससे तो लगता है कि यह दिगम्बरों को नष्ट करने का सुनियोचित षड्यंत्र मात्र ही है क्योंकि उन्हें तो परिग्रही को मुक्ति इष्ट है न कि कुन्दकुन्द के सिद्धान्त दिगम्बरत्व से।

यह मान्यता भी भ्रामक है कि व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या होता है और निश्चय नय सम्यक् होता है तथा निश्चय नय को ग्रहण और व्यवहार नय को छोड़ना चाहिए जबकि निश्चय नय से ग्रहीत पदार्थ का अनुभव केवली के सिवाय अन्य नहीं कर सकता। तथाहि–

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसिहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे।।–(समयसार-14)

छहढाला के पाठक इस पर विचार करे कि–**'सकल द्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता'** को प्रकाशित करने वाला निश्चय वाला निश्चय ज्ञान क्या छद्मस्थ को हो सकता है? यदि कहा जाये कि इनका अंशज्ञान तो हो सकता है, तो वह अशज्ञान नयाधीन है, प्रत्यक्ष नहीं है। यदि व्यवहार नय मिथ्या होता तो केवली भगवान के भी मिथ्यात्व का प्रसंग का उत्पन्न हो जाता क्योकि–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणि जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।–(नियमसार-154)

जब केवली भगवान स्वयं व्यवहार से जानते देखते हैं तब व्यवहार नय कैसे मिथ्या हो सकता है?

वीर सेवा मंदिर के संस्थापक श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा 1954 मे की गई सम्भावना अब यथार्थ रूप धारण कर चुकी है। उन्होने कहा था–"आप (कहान जी) वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान जैनाचार्यो को ही वस्तुतः मान्य करते हैं क्योंकि उनमे से कोई भी आचार्य निश्चय व्यवहार दोनों में से किसी एक ही नय के पक्षपाती नहीं हुए हैं; बल्कि दोनों नयों का परस्पर सापेक्ष, अविनाभाव सम्बन्ध को लिए हुए एक-दूसरे के मित्र के रूप में

मानते और प्रतिपादन करते आए हैं।–(अनेकान्त/जुलाई/954, पृ.-8)

कुछ मिथ्याधारणा वाले चारित्र की उपेक्षा कर मात्र दर्शन के ही गुणगान को प्रमुखता देने में लगे हैं जबकि कुन्दकुन्दाचार्य का स्वयं का कथन है–

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाणि तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

अतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की प्रमुखता में व्यवहार चारित्र को दिखावा मात्र कहकर उसकी उपेक्षा करना शोचनीय और दिगम्बरत्वघातक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चारित्त खलु धम्मो' की स्पष्ट घोषणा की है और चारित्र में व्यवहार निश्चय दोनों ही चारित्र गर्भित हैं।

❑

क्या आगम का आधार किंवदन्ती हो सकती है?

क्या तमाशा है मुझे कुछ लोग समझाने चले।
एक दीवाने के पीछे कितने दीवाने चले।।

पिछले अनेकान्त के अंको में हम 'विचारणीय' प्रसंग में 'आचार्य कुन्द-कुन्द स्वय ही सीमधर है' की चर्चा कर चुके हैं। हमें इस सम्बन्ध में किसी के नए कोई विचार नहीं मिले। हम यह स्पष्ट कर दें कि हमने सीमधरसामिकुन्दकुन्द के विषय में जो लिखा है वह आगम विरोधी न होकर विदेहगमन की सहमति रखने वालों के लिए मार्ग दर्शन है। हमने अपने विचार प्राकृत कोषों और आगम की गाथा के मूलशब्दो को बदले बिना जैसे के तैसे दिए हैं। किसी व्याकरण से कोई प्रयोग जानबूझकर बदलना उचित नही समझा, वरना कुछ लोग कहते आगम को ही बदल दिया। अतः हमने प्राकृत कोष और गाथा के अनुसार वही शब्द दिया जो वहा है। आगम सम्मत विचारो को कोई बदल नहीं सकता।

यह तो सत्य है कि हम दिगम्बर मूल आचार्य पूज्य सीमंधरस्वामी कुन्दकुन्द के श्रद्धालु हैं और वे हमारे आराध्य हैं। दिगम्बरत्व और आगम में कोई विरोधी बात कैसे स्वीकार की जा सकती है। कोई दिगम्बर जैन आगम के विपरीत सोच भी कैसे सकता है?

जब हम आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह जाने की बात सुनते हैं तो मन को ठेस लगना स्वाभाविक है। किवदन्तियों (जनश्रुतियों) चमत्कारो ने आगम को किनारे रखकर दिगम्बर तीर्थंकर और मुनियों को भी नहीं बख्शा। जैसे एक किंवदन्ती हमारे समक्ष है जिसमें कहा गया है–

1. तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ने दिव्यध्वनि में आचार्य कुन्दकुन्द को आशीर्वाद दिया और प्रश्न के उत्तर मे कुन्दकुन्द का नाम बतलाया।
2. देव भरत क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द को लेने आये।
3. आचार्य कुन्दकुन्द को विमान में बैठाकर ले गए।
4. उनकी पीछी गिर गई और गिद्ध का पंख ले लिया।
5. वे एक शास्त्र लाए जो कि आते समय लवण समुद्र में गिर गया।

उक्त सब बातें आगम से कहां मेल खाती हैं? शिलालेख भी कब किस आगम के अनुसार लिखे गए आदि। जब हम उक्त कथनों पर विचार करते हैं तो निम्नलिखित बाधायें खड़ी हो जाती हैं–

1. क्या दिव्यध्वनि में व्यक्तिगत आशीर्वाद, नाम कथन और प्रश्न के उत्तर देने का कहीं विधान है? जबकि दिव्यध्वनि में तत्त्वार्थ का विधान होने का कथन है। तथाहि–

तस्य मुहग्गदवयणं, पुव्वारदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

–नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द

2. देव इस पचम काल में भरत क्षेत्र में कैसे आ गए? जबकि आगम मे विधान है कि वे यहां नहीं आ सकते। तथाहि–

"अत्तो चारण मुणिणो, देवा विज्जाहरा य णायान्ति।"

–तिलोयपण्णत्ति (विशुद्धमति)

अर्थात् इस पंचम काल में यहां चारणऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर नहीं आते। परमात्म प्रकाश तथा भद्रबाहु चरित से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है। हमे किसी आगम मे यह देखने को भी नहीं मिला कि पचम काल के प्रारम्भ में यह विधान लागू नही होता। यदि आगम मे इसका कहीं उल्लेख है तो देखा जाए।

3. क्या हमारे मूल आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी या अन्य कोई दिगम्बर मुनि विमान या किसी सवारी में बैठकर गमनागमन कर सकते हैं? दिगम्बर

मुनि के विमान में बैठने की बात कहां तक सत्य है? किसी आगम ग्रंथ में दिगम्बर मुनि का सवारी मे बैठने का विधान नही है; तब विमान में बैठकर आचार्य कुन्दकुन्द का विदेह जाने का कथन करना कहीं उनको लांछन लगाना और दिगम्बर वेश को बदनाम करने का सुनियोजित षड्यन्त्र तो नहीं? उक्त कथन दिगम्बरत्व की हानि करने का प्रयत्न मात्र लगता है।

4. मुनि का पीछी बिना गमनागमन कहां तक उचित है? पीछी के अभाव में गिद्ध पंख कहां और कितनी दूर मिला; जबकि गिद्ध पंख छोड़ता ही नहीं। गिद्ध पंख और मयूर पंख में महत् अन्तर होता है। मयूर पंख इतना कोमल होता है कि आख में फिराने पर कोई नुकसान नहीं होता। वह जीव रक्षा के लिए सर्वथा अनुकूल है जबकि गिद्ध पंख अत्यन्त कर्कश और खुरदरा होता है उसे चींटी आदि का मरण संभव तो है बचाव नहीं। ऐसे में गिद्ध पीछी का ग्रहण किस आगम सम्मत है?
5 किवदन्ती मे कथन है कि विदेह से लौटते समय आचार्य कुन्दकुन्द एक शास्त्र भी लाए। शास्त्र में राजनीति, मंत्र आदि का विशद वर्णन था। आते समय वह शास्त्र लवण समुद्र में गिर गया।

विचारणीय है कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आध्यात्मिक आचार्य शंका समाधान के पश्चात् विदेह से शास्त्र भी लाए और वह भी राजनीति एवं मंत्रो के वर्णन वाला। जो देव विमान मे लेकर आए थे उन्होंने शास्त्र की रक्षा क्यों नहीं की जबकि वे ऐसा कर सकते थे?

ऐसी अन्य भी बहुत सी किंवदन्तियां होंगी जो हमे देखने को नही मिलीं। समक्ष आने पर सोचेंगे और लिखेगे। आचार्य कुन्दकुन्द को कोई ऋद्धि आदि प्राप्त थी इसका भी किसी आगम में प्रमाण नहीं मिलता। हम टीकाकारो के आगम सम्मत कथनों को पूर्ण सत्य मानते हैं। यही बात शिलालेखों के संबंध में भी है। वे भी आगम सम्मत होने चाहिए।

हमें तो आश्चर्य तब भी होता है जब आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेह गमन के वृत्तान्त को कहीं स्वीकार नहीं किया जबकि उनकी विदेह यात्रा

उनके जीवन की विशिष्ट घटना थी। आचार्य महाराज ने न ही कहीं सीमंधर स्वामी का स्मरण कर उनके उपकार को स्वीकार किया जो कि उनका मुख्य कर्तव्य था। इसके विपरीत वे बारम्बार श्रुतेकेवली का ही गुणगान करते रहे जो कि पद में तीर्थंकर से लघु होते हैं। इस सबसे सिद्ध होता है कि विदेह गमन की घटना बाद में गढ़ी गई है।। उनकी इस मौन भाषा को दिगम्बर ही न समझें तो इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है?

हमें अपने पूर्व विद्वानो पर भी आश्चर्य होता है कि वे किंवदन्तियों की प्राचीनता लिखते रहे जबकि उन्हें तो ऐसी किवदन्तियों को आगम की कसौटी पर कसकर उनका विश्लेषण करना चाहिए था। कहा भी है– "पुराणमित्येव न साधु सर्व।" यदि वे ऐसा करते तो किंवदन्तयो का दु खदाई आगम घातक प्रसग आज उपस्थित नही होता जो हमारे समक्ष आ रहा है।

हमारा विश्वास है कि इस संबध की किवदन्तियों कुन्दकुन्द के बाद दिगम्बरत्व और कुन्दकुन्दाचार्य को बदनाम करने के लिए दिगम्बरत्व विरोधियो द्वारा प्रचार में लाई गईं। विद्वेषियो द्वारा जिसका स्वरूप समझ आने लगा है। समाज आगे सचेत रहे। कही "विषकुम्भ पयोमुखम्" के घेरे मे ना जाए। सत्य के उद्भावन (प्रकटीकरण) से समाज टूटता नही है, न उसका विश्वास कम होता है। इससे तो सम्यक्त्व के नि.शंकित तथा अमूढ़दृष्टि जैसे अगो में दृढ़ता आती है। समाज तो आपसी विद्वेष, धर्म की आड़ में स्वार्थो की पूर्ति से टूटता है।

❑

'अनुत्तरयोगी-तीर्थंकर महावीर'

रचना की पृष्ठभूमि : (लेखक की जबानी) :

पद्मभूषण प. सुमतिबाई जी ने कहा—आप मुनि विद्यानन्द जी महाराज से मिलिए। वे एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो सप्रदाय निरपेक्ष रूप में लिखवाना चाहेंगे। महाराज श्री महावीर जी पहुंचे। महाराज श्री को पत्र दिया उन्होंने वह पत्र पढ़ लिया और एकान्त मे मिलने के लिए कहा। जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने मेरा कन्धा पकडकर कहा—आपके लिए परिचय पत्र की क्या जरूरत है, मै तो आपको खोज ही रहा हूं। आपकी कलम मुझे चाहिए उपन्यास लिखने के लिए। मैने कहा उपन्यास नहीं लिखूंगा, महाकाव्य लिखूंगा। महाकाव्य के रूप में वह गाथा ज्यादा सफल होगी, ज्यादा आकर्षित करेगी। महाराज श्री ने कहा लिखिए तो आप उपन्यास ही, मै काव्य भी लिखवा लूगा। "अनुत्तर योगी" का जन्म श्री महावीर जी में हुआ यो कहिए कि "अनुत्तर योगी का गर्भधारण हुआ, गर्भाधान हुआ वहीं यह निर्णय लिया गया। फिर इन्दौर से बाबूलाल जी पाटौदी आए उनके साथ श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति के अन्तर्गत अनुबन्धित करने का प्रस्ताव हुआ।" डा. नेमिचन्द जी ने प्रूफ रीडिग में काफी मदद की। केवल प्रूफ रीडिंग मे ही मदद नही की है बल्कि "अनुत्तर योगी" का जो स्वरूप है, उसके कलेवर में, मुद्रण मे जो सारा परिष्कार किया, उसका जो (फार्मेट) मै चाहता था, पत्राचार के द्वारा मिलना बहुत कम होता था, आपने (डा. सा. ने) मुझे पूरा-पूरा ग्रहण कर लिया, भीतर से, प्रथम खण्ड से ही........मेरी कल्पना को साकार किया है।"

—तीर्थंकर वर्ष 12 अंक 7 के अश : साभार।

लेखक के उक्त बिखरे उद्गारो से स्पष्ट है कि दिगम्बर क्षेत्र (श्री महावीर जी) में दिगम्बर मुनि श्री की भावनानुरूप (जन्मनः) दिगम्बर लेखक द्वारा 'अनुत्तर योगी'–तीर्थंकर महावीर (उपन्यास) का निर्माण हुआ और इन्दौर की (दि. जैन) ग्रंथ प्रकाशन समिति से प्रकाशित हुआ–सभी प्रसंग दिगम्बरी हैं। अभी तक प्रकाशित हुए चार भागों की कुल पृष्ठ संख्या 1547 और मूल्य 110-00 रुपए है। पांचवां भाग लेखनाधीन है। इतने बृहद उपन्यास में प्रभूत द्रव्य का व्यय (दिगम्बर-धर्मावलम्बियों द्वारा) हो जाना साधारण सी बात है।

ग्रंथ के कुछ प्रसंग (जो दि. परम्परा के सर्वथा विपरीत हैं):

जब हमने अनेकान्त मे समालोचना करने की दृष्टि से उक्त ग्रंथ को पढ़ा तो बडा धक्का लगा। हमने ग्रथ मे महावीर के मुख से कहलाए गये निम्न स्थल देखे–

1. "एक सुन्दर चांदी की चौकी वहां अतिथि के पडगाहन को प्रस्तुत थी। मैंने उस पर पग धारण किया।" (भाग 2 पृ 9)
2. "सवार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्वश्रेणियो पर आरूढ़ होकर भी कभी-कभी आत्माए नारकी तिर्यच योनियों तक में आ पडती है।" (भाग 2 पृ. 51)
3. "उस हेवली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खडा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सन्मुख खडे होकर श्रमण ने पाणिपात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठाकर अपनी दासी को आदेश दिया :–

किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर दें। दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन में कुलमाष धान्य ले आई और श्रमण (महावीर) के फैले करपात्र मे उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया।"

(भाग 2 पृष्ठ 152)

4. "ना कुछ समय में ही ग्वाला कहीं से कास की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकडे किए। फिर निपट निर्दय भाव से उसने श्रमण के दोनों कानो में वे सलाइयां बेहिचक खोंच दीं। तदुपरान्त पत्थर उठाकर उन्हें दोनों ओर से ठोंकने लगा।" (भाग 2 पृ. 212)
5. (सलाइयां ठुकी और वेदना की अवस्था में) "सिद्धार्थ वणिक के द्वार पर अंजुली पसार दी है"........"विपुल केशर, मेवा, द्राक्ष से मधुर और सुगंधित पयस उसने मेरे कर-पात्र मे ढाल दिया है। उसके घूंट कण्ठ से नीचे उतारने में जो कष्ट हो रहा है, वह पास ही खड़े श्रेष्ठि के परममित्र खरक वैद्य ने लक्ष्य कर लिया।" (भाग 2 पृष्ठ 214)
6. "सिद्धार्थ और खरक वैद्य आवश्यक औषधि उपचार के साधन लेकर उद्यान मे दौड़े आए हैं। मेरे शरीर को पद्मासन में ही ज्यों का त्यौं उठाकर एक तेल की कुण्डी में बिठा दिया गया है।... ....फिर दो व्यक्तियों ने .. ...संडासियां लेकर, दोनों कानों के शूलों पर पकड़ बैठाकर एक साथ उन्हे पूरी शक्ति से खींचा।........उस क्षण बरबस ही मेरे मुख से एक भयकर चीख निकल पड़ी। ऐसी वेदना की अनुभूति हुई, जैसे कोई वज्रबाण ब्रह्माण्ड के हृदय को भेदकर मेरे आर-पार निकल गया हो।" (भाग 2 पृ. 215)
7. "काटों और डालों के खुंप जाने के कारण असह्य वेदना से शरीर टीसने लगता है।" (भाग 2 पृष्ठ 10)
8 "चम्पा पहुंच कर अपने पांचों शिष्यो (साल, महासाल, गागली, पिठर और स्त्री यशोमती) सहित श्री गौतम समवशरण में यों आते दिखाई पड़े जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिले एक सहस्त्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचों शिष्यों ने गुरु को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्री मण्डप में प्रभु के समक्ष लिवा ले गए फिर आदेश दिया कि– आयुष्मान मुमुक्षुओं, श्री भगवान का वन्दन करो। वे पांचों गुरू आज्ञा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पड़ी–केवली की आशातना न करो, गौतम! ये पांचों केवलज्ञानी अर्हन्त हो गए हैं। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नहीं करते।"

(भाग 4 पृ. 284-285)

इसी प्रकार बहुत से प्रसंग दिगम्बरों के आगमों के विपरीत हैं, जिन्हें भावी पीढ़ी प्रमाण रूप में प्रस्तुत करेगी और अनायास ही दिगम्बर के विपरीत मार्ग की पुष्टि होगी। हमने ऐसे ही कतिपय प्रसंगों के आधार पर प्रकाशन संस्था से विनती की, कि वे ग्रंथ में दिगम्बर सिद्धातों (कथानकों) के विपरीत आए प्रसंगों का स्पष्टीकरण करें कराए। तथाहि—

भाग 2 पृष्ठ 9 पंक्ति 3-4	क्या दि. मुनि चाँदी की चौकी पर चरण रख सकता है?
भाग 2 पृ. 51 पं. 20-21	क्या सर्वार्थसिद्धि का जीव, नरक, तिर्यंचगति में जा सकता है?
भाग 2 पृ. 152 पं. 12-18	क्या द्वारापेक्षण बिना, दासी के द्वारा अवज्ञापूर्वक दिया आहार मुनि ले सकता है?
भाग 2 पृ. 212 प. 25-30	व्रज्रवृषभनाराच संहनन मे कीले ठुक सकते हैं क्या?
भाग 2 पृ. 214 पं 25-29	क्या मुनि उपसर्ग दशा में आहार को ले जा सकते हैं?
भाग 2 पृ. 215 प. 28-35	तेल की कुण्डी मे बिठाकर मर्दन किया जाना और मुख से चीख निकलना महावीर में संभव है क्या?
भाग 2 पृ. 10 प. 23-25	असह्य वेदना से शरीर टीसना महावीर मे कैसे ठीक है?
भाग 4 पृ. 160 पं. 23-27	समवशरण (केवली अवस्था) में उपसर्ग (तेजोलेश्या का) दिगम्बरो मे मान्य है?
भाग 4 पृ. 160 पं. 28	समवशरण में हाहाकार संभव है क्या?
भाग 4 पृ. 284 पं. 21-	1. यशोमती स्त्री का अर्हन्त होना क्या स्त्री को सवस्त्र मुक्ति की संपुष्टि नहीं? 2. क्या दिगम्बर महावीर गणधर को वर्जना करेंगे? या गणधर पांचों के अर्हन्त होने को न जान सके होंगे?

इसी प्रकार के बहुत से अन्य प्रश्नों का निराकरण करना पड़ेगा। हमारा भाव था कि–

विज्ञ पुरुष भली भांति जानते हैं कि अकलंक प्रभृति दि. पूर्वाचार्यों ने आगमों को कैसी-कैसी विपरीत परिस्थितियों में संरक्षित और प्रचारित किया है। इस युग में भी हमारे विद्वानों को "संजद" जैसे शब्द के संबंध में पुनरीक्षण करना पड़ा था और आज भी "संत" आदि शब्दों के प्रासंगिक अर्थ विचारणीय बने हुए हैं। आज कहीं आगम के मूल शब्दरूप बदले जा रहे हैं और कहीं शब्दार्थ। यदि शोध के नाम पर आगम के मूल शब्द रूपों, अर्थो या भावों में परिवर्तन लाने का प्रयास इसी भांति होता रहा या आगमो के मन्तव्यों के विपरीत अन्य नवीन ग्रन्थों का प्रकाशन और प्रचार होता रहा तो दिगम्बरों के आगमों के मूल मंतव्य और महापुरुषों के दिगम्बर मान्य जीवन और तथ्य लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाएंगे तथा लोग दिगम्बर आचार-विचार से भी हीन हो जाएंगे।

'अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर' संप्रदाय-निरपेक्ष के नाम पर तैयार ऐसी ही रचना है, जिसमे जाने-अनजाने मात्र सौष्ठव के मिस, दिगम्बर सिद्धान्तो के विपरीत ऐसा बहुत कुछ बन पडा है जो भविष्य में दिगम्बरों के विरुद्ध प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया जा सकेगा। यत.–इस ग्रन्थ के निर्माण में सभी दि. स्तम्भों का प्रमुख हाथ है।

संप्रदायातीत दृष्टि का अर्थ किसी के सिद्धान्तों की काट नहीं, अपितु बहिरंग अन्तरंग दोनों मार्गों में समन्वय है। लोग बहिरंग साम्प्रदायिक चिह्नों से तो चिपके रहें और अन्तरंग सिद्धान्तों की काट करें ये कैसी संप्रदायातीत दृष्टि है? क्या संप्रदायातीत दृष्टि पेश करने के लिए दिगम्बर मुनि वस्त्र पहिनना और वस्त्र वाले दिगम्बर वेश धारण करना स्वीकार करेंगे? या वे मिलकर एक चर्या आदि को स्वीकार करेगे?

समाज के नेता और लेखक प्रभृति जरा सोचें, कि वे यश और अर्थ अर्जन को प्रमुखता देने के लिए लोगो को भरमाना पसन्द करेंगे या दिगम्बर आगमों और उनके मन्तव्यों की सुरक्षा का मार्ग पसन्द करेंगे?

उक्त ग्रन्थ 'मन्त्रदृष्टा पूज्य श्री विद्यानन्द स्वामी' को समर्पित होने से ही हम ऐसा नहीं समझते कि ऐसे विरुद्ध स्थलो को स्वामी जी की स्वीकृति होगी। वे दिगम्बरों के श्रद्धास्पद गुरु हैं, दिगम्बर सिद्धान्त, चर्या आदि पर वे कभी आंच न आने देंगे। वे तो दिगम्बर धर्म संस्था के संरक्षणार्थ अनशनादि तक के पक्ष-धर हैं। हमारी धारणा है कि यदि मुनि श्री विद्यानन्द जी को विरुद्ध-स्थलों को पढ़ाया या दिखाया होता तो ये विसगत प्रसंग न होते।

लेखक को हम क्या कहे? वे तो सिद्ध-हस्त प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने भाषा-सौम्य और लम्बी कथा के लक्ष्य में सैद्धान्तिक विसंगतियों के उभार को किनारे रख दिया। फिर वे यह कह भी चुके हैं कि "दि. और श्वे. आगम तथा इतिहास में उपलब्ध तथ्यों का चुनाव मैंने नितान्त अपनी सृजनात्मक आवश्यकताओं के अनुसार किया है।" **उक्त अनुबन्ध प्रकाशकों को स्वीकार हुआ प्रतीत होता है जो भावी पीढ़ी को विचलित करने में कारण बनेगा।**

क्या अनुत्तर-योगी धर्म-ग्रंथ नहीं है?

कहा जा रहा है 'अनुत्तर-योगी' धर्मग्रथ नहीं है—यह काव्यमय उपन्यास है और उपन्यास में कल्पना की छूट है, आदि। पर, इससे क्या हम ऐसा मान लें कि चारों पुरुषार्थो मे यह रचना 'अर्थ पुरुषार्थ' मात्र का फल है? यतः इसे धर्म-पुरुषार्थ तो माना नहीं जा रहा और काम और मोक्ष पुरुषार्थ से इसे सर्वथा वर्जित रखा गया है। यतः इनकी पुष्टि भी ग्रन्थ से नहीं होती।

हम यह मानते हैं कि कवि और लेखक को अपनी रचना में कल्पना की स्वतन्त्रता है पर, किसी प्रसंग मे भी कल्पना वस्तु स्थिति की पुष्टि से विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। अपितु वस्तु-स्थिति को स्पष्ट करने में सहायी होना चाहिए। फिर, जब महावीर जीवन के कुछ प्रसंगों और आगम के कुछ सिद्धान्तों में पथ-भेद हों और ग्रन्थ का निर्माण दिगम्बर संस्था

द्वारा संप्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से कराया गया हो तब तो विरोध-परिहार और भी आवश्यक है जो ग्रंथ में नहीं हुआ, अपितु दि. सिद्धान्तों के विरुद्ध काफी कुछ लिखा गया है।

लेखक का बारम्बार निर्देश होने पर भी और यह विदित होने पर भी कि लेखक इसमें अधिक उपयोग श्वेताम्बर-मान्यताओं का कर रहा है। दिगम्बर प्रकाशन समिति और सम्बन्धित व्यक्तियों का यह कर्तव्य था कि वे संप्रदाय-निरपेक्ष ग्रंथ में से ऐसे प्रसंगों को हटाने का संकेत देते जिनसे दिगम्बरों के सिद्धान्तों का खंडन होता हो।

स्मरण रहे—सभी पाठक अन्तिम निर्देशिका, परिशिष्ट, परिप्रेक्षिका आदि पढ़ने के अभ्यासी नहीं होते। कई तो पूरा ग्रंथ भी नहीं पढ़ते। ऐसे में ग्रंथ के मुखपृष्ठों पर भी मोटे टाइप में लिखा देना चाहिए था कि—कथानक में श्वेताम्बर-मान्यताओं का बाहुल्य है और सैद्धान्तिक स्थलो में दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद भी है उस पर ध्यान न दिया जाय आदि। फिर, ऐसे प्रकाशन की आवश्यकता ही क्या आ पड़ी थी? इसके प्रकाशन के बिना ही दि. प्रकाशन-समिति उद्देश्य-पूर्ति कर रही थी। ये उल्टा दुष्प्रचार ही हुआ है। हमने समणसुत्त भी पढ़ा है उसमें विरोध को नहीं छुआ गया—'अनुत्तर योगी' का स्तर भी वैसा ही अविरोधी होनी चाहिए था।

ये सब हम इसलिए लिख रहे हैं कि आज जनता की रुचि आगम के पठन-पाठन मे दिन पर दिन कम होती जा रही है। विशेषकर नई-पीढ़ी के बाल-युवा सभी का ध्यान प्रकाशित नवीन पुस्तकों और पत्रिकाओं पर ही रहता है—वे उन्हीं के आधार पर अपनी श्रद्धा और ज्ञान को पुष्ट करते हैं, उनकी दृष्टि यह भी नहीं होती कि ये किस श्रेणी का साहित्य है। ऐसे में विपरीत श्रद्धान के अवसर अधिक हो सकते हैं—जिनका निराकरण होना चाहिए था।

पाठक विचारे कि यदि कहीं किसी सरकारी स्कूली पाठ्यक्रम में कोई विरोधी बात लिख दी जाती है तब हम ही उसका विरोध करते हैं कि यह बात हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध क्यों लिखी गई? यह प्रकाशन तो दिगम्बरों

के द्वारा दिगम्बर सिद्धान्तो का स्वयं ही घात है। उक्त सभी प्रसंग पाठकों के समक्ष सम्मत्यर्थ प्रस्तुत हैं। कृपया पाठक अपनी सम्मति भेजकर अनुगृहीत करें। हम उसी के आधार पर "ग्रंथ समीक्षा" करेंगे। यतः ग्रन्थ हमें समीक्षार्थ प्राप्त है। और वीरसेवा मन्दिर कार्यकारिणी ने भी हमें यह कार्य सौंपा है। हाँ।

अन्त में हम उन सभी दि. संस्थाओं से, और विद्वानों से कर-बद्ध निवेदन करते हैं कि वे जहां बाहरी रूपों और टीप-टाप पर विशेष दृष्टि रखते हों-वहा आगम के मूल तथ्यों को सुरक्षित रखने पर भी विशेष बल दें। व्यवहार बदलने वाला है—पर आगम में वर्णित मूल तत्व सदा एक रूप और अपरिवर्तन शील है—उनकी रक्षा से ही दिगम्बरत्व की रक्षा होगी, बाहरी आडम्बर या जय-जयकार से नहीं। वीर नि. ग्र. प्रकाशन समिति से भी हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि वह दिगम्बर सिद्धान्तों के संरक्षण और प्रचार में सरसेठ हुकुम चन्द जी साहब की मर्यादाओ को कायम रख इन्दौर के नाम और सेठ साहब के संकल्प को अक्षुण्ण रखें। यतः—वर्तमान काल में इस क्षेत्र में वीतराग देव का सर्वथा अभाव है और परम दिगम्बर गुरुओ का समागम भी यदा-कदा होता है। ऐसे मे श्रावको और जिज्ञासुओ को आगम-मात्र का सहारा है; उसके हार्द को सुरक्षित रखने और तदनुकूल साहित्य को प्रकाशित करने कराने से ही दिगम्बर धर्म की रक्षा है। समिति सतत जागरूक रहे ऐसी हमारी भावना है।

❑

विष-मिश्रित लड्डू[1]

–"अनुत्तर-योगी में भूलें रही हैं उन्हें उसी समय ठीक किया जा सकता था, जब दो सांस्कृतिक विद्वानों के साथ बैठकर पूरे ग्रन्थ का एक बार वाचन किया होता। वस्तुतः यह उसके प्रकाशन की कमी है। अब भी परिमार्जन (शुद्धि-पत्र) लगा देना उचित होगा। मैंने अपना मत कई वर्ष पूर्व लिखा था–आपाततः। इतनी गहराई से नहीं देखा था।" (एक सम्मति)

जिन धर्म उन पवित्र उच्च आत्माओं की परम्परा से प्रवाहित धर्म है, जिन्हे तीर्थकर नाम से जाना जाता है। जैसे सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल मे हुए वैसे ही उनके द्वारा प्रवाहित धर्म भी क्षत्रिय गुणधारकों द्वारा ही पालन किए जाने योग्य रहा। जो क्षत्रिय अर्थात् धर्म पर दृढ़ रहने वाला हो वही इस धर्म के धारण का अधिकारी हो सकता है–चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो? समय या परिस्थितियों से समझौता करने वाला कोई भी व्यक्ति इस धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। क्योंकि समझौते में कुछ लिया, कुछ दिया जाता है, कुछ झुकना और कुछ झुकाना होता है और इससे मूल में बदलाव आता है जबकि धर्म, सिद्धान्त और वस्तु के स्वभाव में कभी भी बदलाव नहीं आता। धर्म धारण में किसी अन्य विभाव की अपेक्षा भी नहीं की जाती। वहां तो **"जो घर फूकैं आपनो, चलै हमारे साथ"** वाली नीति होती है। इसी नीति पर चलने के कारण आज तक धर्म का पुरातन–अनादि दिगम्बर स्वरूप स्थिर रह सका है। आज वे ही

---

1 पूज्य 105 आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी।

व्रत हैं, वे ही दशधर्म और वे ही गुप्ति, समितियां आदि हैं। श्रावक के बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ भी वे ही है, जो पहिले रहे। दिगम्बर-मुद्रा, चर्या और मोक्ष के उपाय भी वे ही है, यदि कभी इनके स्वरूपों का दूसरे स्वरूपों से समझौता हुआ होता तो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद भी न हुए होते अपितु धर्म का समझौते से फलित कोई नवीन (एक) अन्य रूप ही होता।

इतिहास इसका साक्षी है कि अपनी कमजोरियों के कारण जब कभी भी किसी ने धर्म के रूप को समय के प्रवाह के अनुरूप बदलना चाहा और बदला तभी एक नए पंथ का जन्म हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार– जो सबसे पहिले एक–दिगम्बर थे 12 वर्ष के दुष्काल के प्रभाव से (कुछ के समयानुकूल बदल जाने के कारण) वे दो बन गए और धीरे-धीरे अनेकों भेदों में भी फूट पड़े। जैसे–दिगम्बरों में तेरहपंथ, बीसपंथ तारनपंथ जैसे पंथ और श्वेताम्बरों में मूर्तिपूजक, स्थानकवासी तेरह और बीस पंथ आदि।

इन प्रसंगों में हमें यही सीखना चाहिए कि समय के अनुसार धर्म में परिवर्तन कर लेना ऐसी प्रक्रिया है जो भेदो में बांट देती है और धर्म के अनुसार समय में परिवर्तन लाने की प्रक्रिया अभेद को बल देती है। पर, आज लोगों का एक नारा बन गया है कि 'धर्म को समय के अनुसार बदल लेना चाहिए।' यह नारा धर्म के स्वरूप का घातक ही है। उदाहरणार्थ– अण्डा आमिष है और आज के समय में इसे वेजीटेरियन में शुमार करने का प्रचलन-सा चल पड़ा है। यदि समय के अनुसार इसे वेजीटेरियन मान लिया जाय तो प्रसंग में मांस त्याग नामक व्रत में अण्डा ग्राह्य हो जाएगा और खान-पान के जैन नियमों में अव्यवस्था हो जाएगी। फलत. श्रावक की क्रियाओं को बदलाव देना पड़ेगा। इसी प्रकार वर्तमान लोक में दिगम्बर वेष को अव्यवहार्य के परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा है। यदि समय के अनुसार दिगम्बरत्व को भी तिरस्कृत कर दिया जाय तो **साम्बरत्व** शेष रहने से दिगम्बरत्व का अस्तित्व ही निःशेष हो जायगा।

आश्चर्य है कि अब दिगम्बर जैनों में भी ऐसे लोग पैदा हो रहे हैं जो त्याग, इन्द्रिय-संयम आदि की उपेक्षा कर समय की मांग और एकता के नाम पर विपरीत प्रचार करने पर तुले हैं। जब हमारे साथी ने एक से पूछा कि आपने किसी श्रावक को रात्रि-भोजी प्रचारित कर अपमानित किया है। तब बोले—आज समय की मांग है और ऐसा चलन चल पड़ा है—प्रायःसभी रात्रि-भोजन करने के अभ्यासी बन रहे हैं। ऐसे ही एक सज्जन का कहना है कि यह अर्थ युग है, इसमें सफेद को स्याह और स्याह को सफेद किए बिना काम नहीं चलता। फलतः अकिंचन को चक्रवर्ती और चक्रवर्ती को अकिंचन बना कर—जैसे भी हो कार्य साधना चाहिए—**'आपत्काले मर्यादा नास्ति।'** उक्त प्रसंग सुनकर हमने सिर धुना—**'अर्थी दोषं न पश्यति।'**

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर पुस्तक' ऐसे ही लोगों की घुसपैठ का परिणाम है। इसमे समय की मांग के बहाने दो संप्रदायों में एकता कराने के नाम पर कल्पनाओ की ललित उडानों मे दिगम्बर सिद्धान्तों को दूषित किया गया है। उक्त पुस्तक की विसगतियों को हमने पाठकों के समक्ष भली भांति रखा था और प्रबुद्ध वर्ग ने हमें समर्थन भी दिया। फिर भी कई पत्रकार विज्ञापन चार्ज के लोभ में इस हलाहल के प्रचार में सहयोगी हो रहे हैं और इसका प्रचार ऐसे किया जा रहा है—'उपन्यास में शास्त्र और शास्त्र में उपन्यास।' यह भी कहा जा रहा है कि इसे दिगम्बर मुनियों ने देखा है इसे उनका समर्थन प्राप्त है। जबकि आज तक ऐसे कोई एक दिगम्बर मुनि भी दिगम्बर वेष और चर्या को साम्बरत्व रूप में परिवर्तित करने का साहस न जुटा सके हैं—सभी जहां के तहा हैं। क्या प्रशंसक चाहते हैं कि इस पुस्तक के अनुसार महावीर के परिप्रेक्ष्य में दि. मुनि नवधाभक्ति को तिरस्कृत कर घर-घर याचना करते फिरें? आदि।

पुस्तक में सिद्धान्त की जो बातें हैं वे दिगम्बरत्व का लोप करने वाली हैं और उन्हें अभी से **'शास्त्र'** के नाम से प्रचारित कर कहा जा रहा है—"अनुत्तर-योगी" का प्रकाशन सुचिन्तित है, दूरदर्शितापूर्ण है, इसमें ऐसा

कुछ नहीं है जो आपत्तिजनक हो।' एक कहते हैं—'यह धर्मग्रन्थ नहीं है' तो दूसरे इसे शास्त्र की गहनता से शास्त्र की आसन्दी पर पढ़ा गया बतला कर मुनियों द्वारा देखा हुआ भी बतलाते हैं अर्थात्—जिस अनर्थ के कालान्तर में उत्पन्न होने की आशंका हमने प्रकट की थी वह अनर्थ आज ही अंकुरित होने लगा है। विज्ञापन में इसे धुरंधर जैन विद्वानों द्वारा प्रशंसित भी बतलाया जा रहा है—चाहे वे विद्वान् सिद्धान्त के विषय में इसके पोषण से साफ मुकर रहे हों।

विज्ञापन में जिन विद्वानों के अभिमत दिए जा रहे हैं उनमें से एक का स्पष्टीकरण हमें दिनांक 8-5-84 में मिला है। वे लिखते हैं— "अनुत्तर-योगी में भूलें रही हैं। उन्हें उसी समय ठीक किया जा सकता था, जब दो सांस्कृतिक विद्वानों के साथ बैठकर पूरे ग्रन्थ का एक बार वाचन किया होता। वस्तुतः यह उसके प्रकाशन की कमी है। अब भी परिमार्जन (शुद्धि-पत्र) लगा देना उचित होगा। मैंने अपना मत कई वर्ष पूर्व लिखा था—आपाततः। इतनी गहराई से नहीं देखा था।"

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग अज्ञानता वश धर्म में अप-टू-डेट नवीनता लाने के बहाने या किन्हीं अन्य (नामालूम) कारणो से दिगम्बर-मुनि-प्रतिष्ठा और पूर्वाचार्यो की धरोहर जिनवाणी के क्षीण करने मे कारण बन रहे हैं और श्री पाटौदी जी की सरलता का भी दुरुपयोग कर रहे हैं।

गत दिनों हमने एक लेख ऐसा भी पढा जिसमें बाहुबली-कुम्भोज में धर्म-रक्षार्थ किए गए मुनि श्री के अनशन को राजनीति-प्रेरित आदि कुरूपो में प्रचारित किया गया। जैसे—"राजनैतिक-भूख हड़ताल? समाज के वरिष्ठ लोगो को बीच मे डालकर प्रधानमंत्री से अनशन पूर्ति करवाने का दिखावा। अपने आप को विज्ञापित करने का सस्ता तरीका? राजनैतिक लोगों की खुशामद।" आदि। इसी में 'एलाचार्य' पद का उपहास भी किया गया था और इस सब मे निमित्त बना (?) ऐसे ही लोगों में ये एक के

द्वारा किया गया 'अयाचित अनधिकृत बुद्धिदान का प्रयत्न' (देखे—तेरापंथ भारती 15 अप्रैल 1984)।

हम उन लोगों को क्या कहें जिनकी बुद्धि में प्राचीन शास्त्रों को पढ़ने वाले हम, हमारे गुरु, विद्वज्जन सभी आगमान्ध, माथापच्ची करने वाले और शऊर-हीन हों? हां, इस बात से हम असहमत नहीं हैं कि 'इन्दौर की समाज सूझ-बूझ से खाली नहीं', उसमें आज भी सरसेठ हुकुमचन्द जी की भांति धर्म-रक्षक विद्यमान हैं। फलतः वहां से उक्त उपन्यास को आगम बाह्य बतलाने के साहसपूर्ण संदेश भी हमें आए हैं।

'उक्त पुस्तक को पूज्य एलाचार्य जी ने देखा है' ऐसा कहना भी भ्रमपूर्ण है। यतः श्री एलाचार्य जी हमारे श्रद्धास्पद परम दिगम्बर गुरु हैं। वे दिगम्बरत्व के अनुरूप 'सत्वेषु मैत्री' के भाव में सम-सामाजिक व्यवस्था, एकत्व, मैत्री आदि को तो चाहेंगे पर दिगम्बर देव-शास्त्र-गुरुओ और सिद्धान्तों की बलि देकर नहीं। यह हो सकता है कि उन्होंने धर्म-प्रचारार्थ लिखाने की इच्छा प्रकट की हो और वे कभी लेखनी से भी प्रभावित रहे हों।

हमने अभी पूज्य एलाचार्य जी की वह भेंट-वार्ता भी पढ़ी है जो श्री दशरथ पोरेकर तथा उत्तम कांवले के साथ हुई है और मराठी दैनिक समाचार 'सकाल' के 25 मार्च 84 के रविवारीय अंक में 'प्रश्न अजून सपलेला नाही' शीर्षक में छपी है। इसमें विपरीत मनोवृत्ति वालों को लक्ष्य कर मुनि श्री ने कहा है—**"कुछ काम न करके दूसरों का बलपूर्वक हड़पने की उनकी वृत्ति है। चीटियों के द्वारा बनाई गई बांबी में जैसे सांप घुस जाता है, वैसे ही धन्धे वे लोग सदैव करते रहते हैं।". .....'श्वेताम्बरों को किसी मन्दिर में मूर्ति की स्थापना के लिए स्थान देना धोखे में पड़ना है।'......स्वयं कृष्ण भी आ जावें तो वे श्वेताम्बरों को नहीं समझा सकते।' आदि।**

क्या, उनकी उक्त धारणा स्पष्ट नहीं करती कि सिद्धांतों के घोल-मोल में पूज्य श्री की अनुमति नहीं? प्रशंसक पूज्य मुनि श्री के अंतस्तल को पहिचानें—मुनि अपवाद से विराम लें। उक्त पुस्तकों के आगम-बाह्य होने

के संबंध में अन्य दिगम्बर मुनियों, त्यागियों, विद्वानों और प्रबुद्ध पाठकों के नवीन आए अभिमत भी इस अंक में 'ताकि सनद रहे और काम आए' शीर्षक में देखें।

उक्त प्रसंग पर हमने कई भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संस्थाओं का ध्यान भी खींचा है और उनसे प्रार्थना की है कि वे इस विषय को पर-मुखापेक्षीपना छोड़कर भावी-पीढ़ी पर कुप्रभाव पड़ने के प्रसंग में विचारें और करणीय करें। अन्यथा–आयोजकों ने इसे शास्त्र घोषित कर दिया और भावी-पीढ़ी इसे पढ़कर महावीर के चरित्र व सिद्धान्तों में श्वेताम्बरी-आस्था करेगी और दिगम्बरत्व का घात अपने द्वारा ही होगा तथा "समय के अनुसार धर्म के रूप को बदलने जैसे ना समझी के परिणाम आगामी पीढ़ियों के पछतावे-रूप में फलीभूत होंगे।"

यद्यपि हममें भाषा चातुर्य नहीं है फिर भी अपनी भाषा मे एक बात और स्पष्ट कर दें–कि हमें सूचना मिली है किसी एक पक्ष ने इच्छा प्रकट की है कि–'श्री विद्यानन्द जी महाराज का दिया गया निर्णय प्रकाशको को मान्य होगा एव तदनुसार वे सशोधन की सोच सकते है तथा बाध्य किए जा सकते हैं'–गोया **वह पक्ष गलती का एहसास कर रहा है** (हर्ष)। पर ऐसे पक्ष को अब भी स्पष्ट सोचना चाहिए कि ग्रन्थ के अंशों में –

1. क्या मुनिश्री ने भ. महावीर के कानों मे सलाइयां ठुकवाने का समर्थन किया।
2. महावीर मुनि को नवधा भक्ति के बिना आहार ग्रहण को क्या उन्होंने सराहा?
3. क्या उन्होंने केवली अवस्था में महावीर पर तेजोलेश्या जैसे उपसर्ग का समर्थन किया था।
4. उन्होंने किसी स्त्री को अरहंत बनने को स्वीकारा?

यदि ये सब नहीं, तो क्यों उनके आदेश की प्रतीक्षा है? ये तो सिद्धान्त की बातें हैं। इनका निराकरण स्वतः ही कर देना चाहिए। जो सिद्धान्त के साधारण जानकार के वश की भी बात है जब कि प्रबुद्ध भी इसके विरोध में सम्मति दे रहे हैं।

उक्त भूलें ऐसे लोगों से हुई प्रतीत होती हैं जो भावावेश वश सुधार में अपना दृष्टिकोण लादने या अन्य (न मालूम,) किन्हीं सिद्धियों से मुनिश्री की आड़ लेकर,न चाहते हुए भी उन्हें बदनाम करने के साधन जुटा रहे हैं। श्री ऐलाचार्यजी या अन्य कोई दि. मुनि ऐसा सिद्धात घातक आदेश न दे सकेंगे। और न ही अनुत्तरयोगी को शास्त्र बतलायेंगे जैसा कि दुःसाहस किया जा रहा है। हम समझते है कि मुनि श्री ने न तो पूरी मूल पाण्डुलिपि पढ़ी है, न प्रूफ पढ़ा है और न ही उन्होंने प्रेस को छापने का फायनल आदेश दिया होगा।

दिगम्बरत्व के प्रति समर्पित रहने के मुनिश्री के पर्याप्त प्रसंग हैं। पाठकों ने इस लेख में भी कुछ प्रसंग पढ़े। हम बता दें कि मुनि श्री विश्व धर्म के प्रेरणा स्रोत हैं, उनके द्वारा धर्म का प्रचार हो रहा है। वे सद्‌भावनावश अनेक रचनाओं के प्रेरक रहे हैं: उनका उपन्यास लिखाने में प्रयोजन यही रहा होगा कि भ० महावीर एवं दिगम्बर सिद्धान्तों से लोग परिचित हों। पर, उनकी सद्‌भावनाओं का दुरुपयोग किया गया और अब उनकी दुहाई भी देने का दुःसाहस किया जाने लगा है कि वे कहें तो सशोधन कर सकते हैं–आदि। यह हमें इष्ट नहीं है। हम चाहते हैं–पू० मुनिश्री को इस प्रसग में लाने की कोशिश न की जाय। ग्रंथ के सम्बन्ध में मुनि श्री की मोहर होने का भ्रम ही आज तक प्रतिष्ठित व नेतागण को मौन के लिए प्रेरित कर रहा है। कोई तो वायदा करके भी इस पुस्तक रूपी विष के विरोध में मोटी सूचनाएं तक छापने से भी भयभीत है। कुछ का तो प्रस्ताव है कि पुस्तक के विरोध करने में हम पर्याप्त धन देने को तैयार हैं पर हमारा नाम न लिया जाय; आदि। ये सब भय भावी पतन के ही आसार हैं जो हमें मंजूर नहीं। अतः स्पष्टीकरण होना चाहिए।

हम विश्वास दिला दें कि हम पुस्तक सयोजकों के अपने हैं। 'वीर सेवा मन्दिर' और 'अनेकान्त' दि. सिद्धान्तों और दि. गुरुओं की मर्यादा की सुरक्षा हर कीमत पर चाहते है–इसे अन्यथा न लें और बाहुबली कुम्भोज प्रसंग से शिक्षा लें।

हे जिनवाणी भारती..........!

सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन और आत्मानुभव की चर्चा मात्र में जैसा सुख है और कहां? इस चर्चा मे बोलने या सुनने के सिवाय अन्य कुछ करना-धरना नहीं होता। बोलने वाला बोलता है और सुनने वाला सुनता है—लेना-देना कुछ नहीं। भला, भव्य होने का इससे सरल और सबल उपाय क्या हो सकता है? जहां आत्मा दिख जाय और जिसमें परिग्रह संचय तो हो किन्तु तप-त्याग तथा चारित्र धारण करने जैसा अन्य कोई व्यायाम न करना पड़े और स्व-समय में आने के लिए कुन्द-कुन्द विहित मार्ग— **"चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।"** से भी छुटकारा मिला रहे अर्थात् मात्र चर्चा मे ही 'स्व-समय' सिमिट बैठे। ठीक ही है **"तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता निश्चितं स हि भवेद् भव्यः भाविनिर्वाणभाजनम्"** का इससे सरल और सीधा क्या उपयोग होगा?

कभी हमने स्व-समय और पर-समय के अंतर्गत आचार्य कुन्द-कुन्द के **'पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च जाण पर-समयं'** इस मूल को उद्धृत करते हुए लिखा था कि जब तक जीव आत्मगुणघातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रदेशों में स्थित है—उनसे बंधा है और उनके प्रभाव में है तब तक वह जीव पूर्णकाल पर-समय रूप है—पर-समय प्रवृत्त है। मोह क्षय के बाद ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा सकता है और यही कार्यकारी है जबकि आज मोह-माया में लिप्त होते हुए भी स्व-समय में आने के प्रयत्न हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह अन्यधर्मी विचारधारा का प्रभाव है जो पर्याप्तकाल से दिगम्बर पंथियों में प्रवेश पा गया और घर में ही मुक्तिमार्ग

खुल गया। वहां अनेकों को घर में ही केवलज्ञान होने की बात है और इसी की आड़ में इस पंचम काल में 25वें तीर्थंकर की कल्पना बनी। पर, समाज के सौभाग्य से वह चल न सकी।

आज हर क्षेत्र में जैसा चल रहा है वह केवल बातों मात्र का जमा-खर्च है, तथा उपलब्धि की आशा नहीं। उदाहरण के लिए यह कहना ही पर्याप्त है कि जिस जिन-धर्म के मूल में अपरिग्रह बैठा हो—जो वीतरागता में प्राप्त होता है उसे आज परिग्रह और राग के बल पर प्राप्त किया जाने का उपक्रम किया जाय या उसकी प्रभावना की जा सके? ऐसा करने से तो वह प्राणी 'स्व' से और दूर चला जाएगा।

ऐसा ही एक विवाद 'जिनवाणी' के भाषा स्वरूप को लेकर उठ खड़ा हुआ है। जिन-आगमों को तीर्थंकर देशना कहा जाता है और जो देशना सर्वभाषागर्भित अर्धमागधी होती है उस देशना को शौरसेनी में ही प्रसिद्ध किया जा रहा है। आगमो में उल्लेख है कि जिन भगवान की वाणी (जिनवाणी) को पूर्णश्रुत ज्ञानी गणधर ग्रथित करते हैं और अग और पूर्वों में विभक्त वे अर्धमागधी में ही होते है। फलतः वे जिनवाणी संज्ञा को पाते हैं। केवल शौरसेनी मात्र मे ही रचे हुए तो जिनवाणी नहीं हो सकते। विचार करें कि क्या किसी एक भाषा मात्र मे रचित ग्रन्थो को ही जिन की वाणी कहा जाना युक्तिसगत है? जबकि परम्परित पूर्वाचार्यों का स्पष्ट कथन है कि जिनवाणी सर्वभाषा गर्भित होती है? तथाहि—

1. **'अर्धं च भगवद् भाषाया मगधदेशभाषात्मकं अर्धं च सर्वभाषात्मकं'**

—दर्शन पाहुड़ टीका।।35।38।13।।

2. **'अट्ठारस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।'**

—तिलोयपण्णत्ति।।584।90।।

3. **'योजनान्तरदूर समीपाष्टादश भाषा सप्तशतकुभाषायुतः'**

—धवला 1।1।1।6।

4. **'ण च दिव्वज्झुणी अक्खप्पिया चेव अट्ठारस सत्तसयभासकुभासप्पिय।'** —धवला 9।4।44 पृ.136

5. **'तव वागमृतश्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्। प्रणीत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि।।'**

—बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र।।97।। अरहस्तुति

परम्परित पूर्वाचार्यों के उक्त कथनों के आधार पर स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि जिन-वाणी की मूल-भाषा सर्वभाषागर्भित अर्धमागधी ही है।

तिलोयपण्णत्ति में अर्धमागधी भाषा को केवलज्ञान के अतिशयों में गिनाया है—

'अट्ठारस महाभाषा खुल्लयभाषा सयाइसत्त तहा।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयल भासाओ।।'

—तिलोयपण्णत्ति-4/90/

अट्ठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्रभाषा तथा और भी संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाए हैं। उपर्युक्त उद्धरण केवली के केवलज्ञान सम्बन्धी ग्यारह अतिशयों में है और केवली में नियम से होते हैं। फलतः सर्वभाषागर्भित वाणी को ही 'आगम' अथवा 'जिनवाणी' संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि अतिशयो में बदलाव नहीं होता और न ही उनमें न्यूनाधिकता ही होती है। यदि ऐसा न मान कर जिनवाणी को मात्र शौरसेनी रूप में माना जायेगा तो एक ओर जहां दिगम्बर-आगमों के कथन मिथ्या ठहरेंगे, तो दूसरी ओर इस सम्भावना को बल मिलेगा कि जब हमारे आगम शौरसेनी में है तो फिर संस्कृत, मराठी, राजस्थानी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में निबद्ध जैन आगमों को क्यों जिनवाणी के रूप मे प्रतिष्ठा दी जाय? एकभाषा वह भी शौरसेनी को ही यदि जिनवाणी माना जाये तो विभिन्न जातीय भाषाओं को जानने वाले जिनवाणी को हृदयंगम कैसे करेंगे? उन विभिन्न भाषाओं के आगमों को मंदिरों में श्रद्धा और प्रतिष्ठा कैसे सम्भव

होगी? यदि परम्परित आचार्यों को मात्र शौरसेनी ही इष्ट होती तो निश्चित ही आ. कुन्दकुन्द को यह न कहना पड़ता—

'जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासा विण उ गाहेउं'

जैसे अनार्य (पुरुष) अनार्यभाषा के बिना (अर्थ को) नहीं समझ सकता अर्थात् वह अपनी भाषा में ही समझ सकता है।

अतः शौरसेनी के ब्याज से अपनी पद-प्रतिष्ठा को चमकाने में प्रवृत्त आधुनिक विद्वानों को भी शौरसेनीकरण की प्रवृत्ति से विराम लेना चाहिए।

शौरसेनी की बलात् स्थापना किये जाने के पीछे कहीं ऐसा तो नहीं कि भावी किसी तीर्थंकर की दिव्य-देशना शौरसेनी में होने की सम्भावना बन गई हो, जिसकी पूर्वपीठिका में ऐसा प्रचार बनाया जा रहा हो? यतः कलिकाल मे ऐसा मार्ग 25वें तीर्थंकर बनाने की मुहिम के तौर पर खुल ही चुका है। सम्भव है कि निकट भविष्य में शौरसेनी में दिव्य-देशना करने वाले 26वें तीर्थंकर का भी प्रादुर्भाव हो जाये।

हमे तो खेद तब होता है जब वर्तमान में मान्य उपलब्ध जिन-आगमों का प्रचार करने का बिगुल बजाने वाले स्वयं ही परम्परित पूर्वाचार्यों के कथनों को झुठलाकर अनेकों विद्वानों की ढेरों सम्मतियां एकत्र कर उन्हें शौरसेनी के पोषण में प्रकाशित कराते हैं। ऐसे में हमें निम्नलिखित गाथाओं का स्मरण हो आता है—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।
सुत्तादो तं सम्मं दरिसज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।

—जीवकाण्ड—27—28

सम्यग्दृष्टि जीव आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का श्रद्धान कर लेता है। गणधरादि कथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादि के द्वारा भले प्रकार

समझाये जाने पर भी वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

हमारी चिरभावना रही है और है कि सभी जीव सम्यग्दृष्टि बने रहें और उन्मार्गी न हो। अतः परम्परित आचार्यों के विरोध मे खड़े होकर उस विरोध को ही अपनी प्रतिष्ठा का माध्यम न बनावें। मतभेद होना तो स्वाभाविक है, पर जिनवाणी कथन को मिथ्या सिद्ध करने का दुष्प्रयास स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। हमें तो हमेशा से जिनवाणी और उसकी संपुष्टि करना इष्ट रहा है और हमारी उस पर दृढ श्रद्धा है। तभी तो हमारी–

'जिनवाणी माता दर्शन की बलिहारियां'। 'हे जिनवाणी भारती! तोहि जपूं दिनरैन' आदि भावनायें फलवती हो सकेंगी?

हम पुनः उन लोगों से विनम्रतापूर्वक कहना चाहेंगे जो कतिपय विद्वानों की सम्मतियों के आधार पर केवल शौरसेनी को ही जिन-आगमो की भाषा सिद्ध करने पर तुले हैं–वे ऐसी घोषणा क्यों नहीं करते अथवा कोई सशक्त आन्दोलन क्यो नही छेड़ते कि-जिन कृतियों में अर्धमागधी की पुष्टि है, वे कृतिया और उनके निर्माता दिगम्बराचार्य आगम वाह्य और अमान्य हैं, उनका बहिष्कार होना चाहिए'–आदि! बहुत क्या कहे? आजकल जिनवाणी के प्रचार के बहाने ट्रैक्टों की भरमार है। परम्परित आचार्य की कृतियो को पढ़ने और समझने की जिन्हें फुरसत नही उनके लिए निम्न स्तरीय आगम विरुद्ध ट्रैक्ट परोस-परोस कर श्रद्धालुओं के रूप में जिनवाणी से दूर करने की मुहिम जोरों पर है। हम तथाकथित परम्परावादी लोग तो ऐसे ट्रैक्ट देखकर उस शायर को याद कर लेते हैं, जिसने कहा है–

'हम ऐसी कुल किताबे काबिले जब्ती समझते हैं।
कि जिनको पढ़ के बेटे बाप को खब्ती समझते हैं।।'

अस्तु, परम्परित पूर्वाचार्यों और उनके द्वारा ग्रथित जिनवाणी हमारे लिए सर्वोच्च, आदरणीय और मान्य है। हम किसी भी भांति उनकी अवहेलना नहीं कर सकते। भले ही कुछ लोग 'शौरसेनी पंथ' नामक कोई

नया पंथ कायम करने पर ही उतारू क्यों न हों। (यह तो सभी जानते हैं कि आज का युग अर्थयुग है और जो कुछ उल्टा-पुल्टा हो रहा है वह सब धन के बल पर ही हो रहा है। आज केवल धनिक ही नहीं, अपितु कुछ त्यागी भी धन बल पर स्वच्छन्द और बहुचर्चित हैं।) श्रद्धालुओं को तो जिनवाणी भारती ही मान्य और श्रद्धास्पद है। वे सब उसकी शरण में है और रहेंगे।

अनुत्तर-योगी में कुछ विसंगतियां

1. "सर्वार्थसिद्धि जैसी आत्मोन्नति की ऊर्ध्व श्रेणियों पर आरूढ़ होकर भी कभी-कभी आत्माएं नारकी और तिर्यच योनियों तक में आ पड़ती हैं।" (भाग 2 पृ० 51)
2. "उस हवेली के द्वार पर कोई द्वारापेक्षण करता नहीं खड़ा है। आतिथ्य भाव से शून्य है वह भवन। ठीक उसी के सन्मुख खड़े होकर श्रमण ने पाणिपात्र पसार दिया। गवाक्ष पर बैठे नवीन श्रेष्ठि ने लक्ष्मी के मद से उद्दण्ड ग्रीवा उठाकर अपनी दासी को आदेश दिया :–
   किंचना, इस भिक्षुक को भिक्षा देकर तुरन्त विदा कर दे। दासी भीतर जाकर काष्ठ के भाजन में कुलमाष धान्य ले आई और श्रमण (महावीर) के फैले करपात्र में उसे अवज्ञा के भाव से डाल दिया।" (भाग 2 पृष्ठ 152)
3. "ना कुछ समय में ही ग्वाला कही से कॉस की एक सलाई तोड़ लाया। उसके दो टुकड़े किये। फिर निपट निर्दयी भाव से उसने श्रमण के दोनों कानो में वे सलाइयां बेहिचक खोंस दी। तदुपरान्त पत्थर उठाकर उन्हें दोनों ओर से ठोंकने लगा।" (भाग 2 पृ० 218)
4. "चम्पा पहुंच कर अपने पांचों शिष्यों (साल, महासाल, गागली, पिठर और स्त्री यशोमती) सहित श्री गौतम समवशरण में यों आते दिखाई पड़े जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिले एक सहस्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचों शिष्यों ने गुरु को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्री मण्डप में प्रभु के समक्ष लिवा ले गये फिर आदेश दिया कि–

अयुष्यमान् मुमुक्षुओ, श्री भगवान् का वन्दन करो। वे पांचों गुरु आज्ञा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पड़ी--केवली की आशातना न करो, गौतम! ये पांचों केवलज्ञानी अर्हन्त हो गए हैं। अर्हन्त, अर्हन्त का वन्दन नहीं करते।"

(भाग 4 पृ० 284-285)

पूज्य 108 आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज :

सेठ श्री उम्मेदयल पाण्ड्या व ब्र० प० धर्मचन्द्र जी शास्त्री किशनगढ पच कल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव पर महाराज श्री के साथ दस दिन तक रहे। 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है, के बारे में पू० आचार्य श्री धर्म सागर जी महाराज व आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज से पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित लेख पर चर्चा हुई। आचार्य महाराज ने इस सम्बन्ध में कहा कि–"तीर्थकरों का जीवन चरित्र एक यथार्थ है और जो यथार्थ है उस पर कभी उपन्यास नहीं लिखा जा सकता उपन्यास कोरी कल्पना ही होती है। श्री पद्मचन्द्र जी शास्त्री ने इस विषय को उठा कर दिगम्बर जैन सिद्धान्त की रक्षा की है। और मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यह उपन्यास की किताबें हमारी ही दिगम्बर जैन संस्था ने छपवाई हैं। इस तरह की किताबों से हमारी परम्पराएँ विकृत होती हैं। इस तरह की किताबें छापना उचित नही है।"

श्री 108 पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज

हमने 'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' इन्दौर से प्रकाशित ग्रन्थ देखा, उसमें बहुत सी बातें दिगम्बर जैन सिद्धान्तों के विपरीत पाई जो आगामी पीढ़ी को विपरीत मार्ग दिखाएगी और दिगम्बर मान्यताओं का लोप करेंगी। अत.--इस ग्रन्थ को दिगम्बर आम्नाय-अनुसार नहीं मानना चाहिए और इसका प्रतिवाद होना चाहिए। ऐसा न हो कि कालान्तर में विपरीत-मत की पुष्टि हो और यह ग्रन्थ प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाय।

इसकी भाषा उपन्यास के अनुरूप ठीक है परन्तु सिद्धान्तों को बिल्कुल विपरीत कर दिया गया है—जब कि सिद्धान्तों की पुष्टि होनी चाहिए थी।

हमारा आशीर्वाद है कि यह संकट शीघ्र दूर होगा और दिगम्बर मार्ग की रक्षा होगी।

आचार्यकल्प श्री 108 मुनिश्री ज्ञानभूषणजी महाराज :

'अनुतर-योगी तीर्थंकर महावीर-उपन्यास दिगम्बर आम्नाय पर प्रत्यक्षरूप से कुठाराघात करने वाला है। इसके अन्तर्गत महावीर के जीवन और उनके द्वारा प्रतिपादित जिन सिद्धान्तों को लिखा है वह दिगम्बर आम्नाय पर आवरण डालकर मिथ्यामार्ग को पुष्ट करने वाले कलंक हैं। इस प्रकार के साहित्य के प्रचार व प्रसार पर रोक लगनी चाहिए।

आचार्यकल्प श्री 108 मुनिश्री दर्शनसागर जी महाराज :

अनुत्तर-योगी जो इन्दौर से प्रकाशित हुआ है व आप का अनेकान्त मे लेख व विद्वज्जनो की टिप्पणिया पढ़ीं। आपने इसकी विसंगतियों की तरफ समाज का ध्यान आकर्षित कर बहुत उपयोगी कार्य किया। इस पुस्तक के कुछ प्रसंग दिगम्बर आम्नाय के विरुद्ध हैं। कोई शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर नहीं है।

आर्यिकारत्न 105 श्री ज्ञानमती माता जी :

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' उपन्यास की प्रशंसा मैंने बहुत बार सुनी थी किन्तु अपने लेखन कार्य की व्यस्तता अथवा मेरे सामने उस ग्रन्थ का न आना ही कारण रहा कि जिससे मैने उसे आज तक पढ़ा ही नहीं। आज मैंने आपके मुख से सुना और अनेकान्त पत्रिका में आपका लेख पढ़ा कि इसमें ऐसे अनेक अंश हैं जो दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के विरुद्ध स्त्री-मुक्ति आदि को कह रहे हैं। अंतरंग में दुःख हुआ। आप बहुश्रुत विद्वान हैं साथ ही एक अच्छे निर्भीक वक्ता और साहसी लेखक हैं।

दिगम्बरआम्नाय के संरक्षण की भावना आपके अन्दर भरी हुई है। आप जैसे विद्वान् आज विरले ही हैं। प्रत्युत जैन-साहित्य में अन्य सिद्धान्तों का मिश्रण कर उसे विषमिश्रित-लड्डू बना रहे हैं। ऐसे समय में आप जैसे विद्वान् चिरायु होकर चिरकाल तक जैन-शासन के मूल सिद्धान्त की रक्षा करने में सभी धर्म प्रेमियों को जागरूक करते रहें, आपके लिए यही मेरा शुभाशीर्वाद है।

श्री पं. शिखरचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य, भिण्ड

'अनुत्तर-योगी तीर्थंकर महावीर' नाम की पुस्तक मे दिगम्बर जैन आगम के विपरीत जो लिखा गया है वह आने वाली दिगम्बर पीढ़ी के लिए महान् संकट पैदा करने वाले विषय है। इन्हीं विषयों का आपने बहुत बड़े साहस के साथ खंडन कर दिगम्बर परम्पराओं का संरक्षण किया है। दिगम्बरत्व में आस्था रखने वाले सभी दिगम्बर विद्वान् एवं त्यागीवर्ग को इन आर्षमार्ग से विपरीत लेखों का बहिष्कार करके दिगम्बरत्व का संरक्षण करना चाहिए। मैं पं० श्री पद्मचन्द्र शास्त्री जी के लेखों की हृदय से सराहना करता हूं और पंडित जी जैसे निर्भीक विद्वान का साधुवाद करता हूं।

श्री मल्लिनाथ जैन शास्त्री (संपादक जैन गजट) मद्रास :

अनुत्तर-योगी के विषय में आपके विचार बिल्कुल सही हैं। आपने दिगम्बर जैन धर्म की रक्षा के लिए जो कदम उठाया है, वह हर तरह से प्रशंसनीय है। यह अफसोस की बात है कि दिगम्बरी लोग ही दिगम्बर जैन धर्म को सर्वनाश की ओर ले जा रहे हैं। जो रक्षणीय है वे ही भक्षणीय. हो जाएं तो धर्म कैसे टिक सकता है?

श्री ईश्वरचन्द्र (रिटायर्ड I.A.S.), इन्दौर :

अनुत्तर-योगी पर आपके विचारों में सहमति की नहीं, सिद्धान्त रक्षण की बात है। विचारणीय बात है कि इस प्रकार भ्रम फैलाने वाले तथ्य किस उद्देश्य से दिए जा रहे हैं? दिगम्बर जैन समिति तथा प्रकाशकों के साथ-साथ

विद्वानों एवं समाज के कर्णधारों से इन मान्यताओं के बारे में विरुद्ध-अंशों को परिष्कार करवा कर छपवाना चाहिए। आप जैन-सिद्धान्तो के प्रति जितनी जागरूकता का परिचय दे रहे हैं वह प्रशंसनीय है।

डॉ. भागचन्द भागेन्दु, दमोह :

अनुत्तर-योगी के सम्बन्ध में आपने गहन-गम्भीर अध्ययन अनुशीलन परक तथ्य उजागर किए हैं।

श्री ताराचन्द्र प्रेमी (महामंत्री भा. दि. जैन संघ) :

अनुत्तर-योगी का प्रकाशन दिगम्बर समाज के लिए कोई अच्छी बात नहीं है।

श्री पं. मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर' :

'स्व. मुख्तार साहब' ने वीर सेवा मन्दिर की स्थापना कर जैन साहित्य का प्रचार व प्रसार किया। उसी संस्था से आज जैन साहित्य की रक्षा का प्रयत्न किया जाना संस्था की सफलता का शुभचिह्न है। 'अनुत्तर-योगी' पुस्तक– 'विषकुम्भं पयोमुखं वत्' है–हेय है। इसका प्रचार रोकने में ही हित है।

डा. राजाराम जैन आरा :

'अनुत्तरयोगी' भले ही साहित्यिक शैली एवं नवीन विधाओं की दृष्टि से प्रशंसनीय हो किन्तु जब उसे आर्ष परम्परा एवं दि. जैन सिद्धान्त की मूल परम्परा की कसौटी पर कसते हैं तो वह दिगम्बरत्व के भयानक भविष्य की भूमिका ही प्रतीत होता है। शाब्दिक कलाबाजियों से मंत्रमुग्ध पाठकों को सही दिशा दान और दिगम्बरत्व की सुरक्षानितान्त आवश्यक है। दि. जैन समाज के द्रव्य से दिगम्बर जैन सिद्धान्त पर ही कुठाराघात हो इससे बढ़कर दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। दि. समाज को इससे सचेत होना चाहिए।

दिगम्बर-परम्परा में स्त्री-मुक्ति-निषेध :

(क) "मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति।" स्त्रीणां मायाबाहुल्यमस्ति सचेलसंयमत्वाच्च न स्त्रीणां सयमः मोक्षहेतुः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्वाच्चनन स्त्रियो मोक्षहेतुसयमवत्यः। नास्ति स्त्रीणां मोक्षः उत्कृष्टध्यानविकलत्वात्।।"

—प्रमेयकमल मार्तण्ड 2/328-334

(ख) 'कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयम्।
वस्त्रदानाच्चरित्रं च तासां मुक्तिकथावृथा।।' —चा॰ सार 2 186
—कर्मभूमिगत द्रव्य स्त्रियों के प्रथम तीन सहनन नहीं होते। और वे सवस्त्र भी होती हैं? अतः स्त्रियो को मुक्ति प्राप्ति की बात नही बनती।

(ग) जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि य चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिया।—प्र॰ सा.प्रक्षे॰।

(घ) 'बहुरि स्त्री को मोक्ष कहैं सो जाकरि सप्तम नरक गमन योग्य पाप न होय सकै, ताकरि मोक्ष का कारण शुद्धभाव कैसे होय? जातै जाके भाव दृढ़ होय, सो ही उत्कृष्ट पाप वा धर्म उपजाय सकै है। बहुरि स्त्री के निशक एकान्तविषै ध्यान धरना और सर्व परिग्रहादि का त्याग करना संभवै नाहीं।' —मो॰ मा॰ प्रकाश पृ॰ 214

नवधा भक्ति का विधानः—

(क) 'जो नवकोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध

हो, ब्यालीस दोषों से रहित हो, विधि से अर्थात् नवधाभक्ति, दाता के सात गुण सहित क्रिया से दिया गया हो, ऐसा भोजन साधु ग्रहण करे।' मूलाचार गा. 482-483

(ख) 'बहुरि काहू का आहार देने का परिणाम न था, यानै वाका घर में जाय याचना करी। तहा वाकै संकुचता भया वा न दिए लोकनिंद्य होने का भय भया तातै वाकौ आहार दिया। सो वा का अंतरग प्राणपीड़ातैं हिंसा का सद्भाव आया।'

'बहुरि अपने कार्य के अर्थि याचनारूप वचन है सो पापरूप है। सो यहाँ असत्य वचन भी भया। बहुरि वाकैं देने की इच्छा तै दिया नाहीं–सकुचिकरि दिया। तातै अदत्त ग्रहण भी भया।'

–मो. मा. प्र. पृ. 228

केवली उपसर्ग निषेध :

(क) जोयण सद्दमज्जाद सुभिक्खदा चउदिसासु णियराणा।
णहगमणाणमहिसा भोयण उवसग्गपरिहीणा।।'

–ति. प. 4, 899

–केवली के दश अतिशयों में अदया, भोजन और उपसर्ग इन तीनों का न होना भी सम्मिलित है–केवली को उपसर्ग नहीं होता।

(ख) "अर कहै, काहू नै तेजोलेश्या छोरी ताकरि वर्धमान स्वामी कै पेचिस का रोग भया, सो केवली अतिशय न भया तो इन्द्रादि कर पूज्यपना कैसे शोभै?" मो. मा. प्र. पृ. 221

❑

कारवां लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे

पाठको ने देखा—'अनुत्तर-योगी तीर्थकर महावीर' कृति का विज्ञापन। 'उपन्यास में शास्त्र और शास्त्र मे उपन्यास।' यह साधा गया एक ऐसा जहरीला तीर है, जिससे एक साथ जिनवाणी को दूषित करने और गुरु की प्रतिष्ठा लूटने जैसे दो निशाने साधे गए हैं। जहाँ इससे वीतरागी सिद्धान्तों को सरागी जामा पहिनाया गया है वहीं उपन्यास मे शास्त्र जैसी प्रामाणिकता लाने के लिए दिगम्बर मुनि द्वारा समर्थित बताया गया है। और ये सब किया गया है—नवीनता लाने, नाम पाने और न जाने किन-किन योजनाओ की आड मे। इसे कहते हैं—'एक तीर से दो शिकार करना' और ये सब किया जा रहा है हमारे खड़े-खड़े देखते हुए और हम हैं कि कुछ कर नही पा रहे—'कारवाँ लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे।'

ऐसा क्यो? इसलिए, कि लूट के समय सब अपना-अपना देखते हैं; आपाधापी में दूसरो का ख्याल कोई नही करता। सो आज लूट हो रही है—उपाधियो की, नाम की और धन की। जिसे जिधर से जो मिलता है वह उसी के सग्रह मे मग्न रहता है उसी को लूट लेता है बिना किसी की परवाह किए, मौन।

गत दिनो एक सस्था ने उपाधियो का वितरण किया। हमने संस्था को पत्र लिखा। हमे खुशी हुई कि देश मे एक ऐसी सस्था का जन्म हुआ, जिसने खोई प्रतिष्ठा को जीवित करके धर्म-धुरन्धर और ज्ञान-गरिमा को सार्थक करने वाली कुछ उपाधियां देने का श्रीगणेश किया है। हमने जानना चाहा कि उन पदवियों के लिए कौन सी योग्यता और किस कोर्स

की पूर्ति आवश्यक है?—कृपया लिखें। पर, काफी दिनों के बीतने पर भी उत्तर न मिला। बाद को मालूम हुआ कि वह लूट थी—यश के लिए, नाम के लिए और अर्थ के लिए सो, सबने अपना-अपना स्वार्थ साधा और कार्य आगे बढ़ गया।

ऐसे ही विपर्यास मेटने के लिए हमने भारतवर्षीय कई दिगम्बर सस्थाओं को पत्र लिखे—कि कुछ करेंगे। पर होना वा पत्र का उत्तर दर-किनार, यहां तक कि पत्र की पहुंच भी हमें नहीं मिली। हमने सिर धुना कुछ आल इण्डिया सभाओं की कार्य-व्यवस्था पर · जहां मालिक कई पर कार्यकर्ता कोई नहीं—सब मौन, एक-दूसरे का मुंह देखने वाले हैं। ऐसे में फिर वही दुहराना पडा—'कारवाँ लुटता रहा, हम देखते खड़े रहे।'

❑

संस्मरणों के आधार पर

अभी दो दिन पूर्व हिमालय—बद्रीधाम-यात्रा की चौदहवीं जयन्ती के अवसर पर प्रतिवर्ष की भांति जब हम **'हिमालय में दिगम्बर मुनि'** पढ़ रहे थे—दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि के प्रति हमारी अन्तस्श्रद्धा वचनद्वार से फूट पड़ी—धन्य है दिगम्बर साधु और उनकी चर्या।

अपनी ऐतिहासिक हिमालय-यात्रा के मध्य दि॰ मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज ने दिगंबरचर्या को निभाया और बद्रीनाथ की ज्ञान-संवर्धिनी-सभा मे प्रवचन करते हुए कहा—

"लोग हमसे पूछते है—आप नग्न क्यों रहते हैं? संकटो को निमंत्रण क्यों देते हैं? आदि। हम उन्हें क्या उत्तर दे? हम तो वही कह देते है, जो हमारे पूर्वाचार्यों ने कहा है—

'अदुःखभवित ज्ञानं क्षीयते दुःख सन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।'

उन्होंने कहा—दुख-सुख की महिमा क्या कहे? ये तो कर्म-जनित व्याधियां हैं, कोई उन्हे उत्पन्न या नष्ट नही कर सकता। इन्हें तो जीव अपने सम्यग्ज्ञान से स्वय ही दूर कर सकता है।' उन्होने दृष्टान्त भी दिया—

'पुरागर्भादिन्द्रो मुकुलितकर. किंकर इव,
स्वय स्रस्टासृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुनरप्याट् जगती—
महो! केनाप्यास्मिन् विलसितमलंध्य हतविधेः।।'

—आत्मानुशासन।।'

—अहो, जिन्हें पूर्वसमय में गर्भकाल से ही इन्द्र भृत्यवत् अजलिबद्ध होकर सैवा करता था, स्वयं जो कर्मभूमि के स्रष्टा थे, जिनका पुत्र भरत चक्रवर्ती षट्खंडाधिपति था—वह पुरु (आदि) देव तीर्थंकर वृषभदेव षण्मासावधि ा क्षुधित होकर पृथ्वी पर विहार करते रहे। इस दुष्ट कर्मगति का उल्लंघन कर पाना किसी के लिए भी दुष्कर है। —पृष्ठ 54-55

उक्त श्लोक मुनिश्री को अत्यन्त प्रिय है और वे प्रायः पढ़ा करते हैं। उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनि (तीर्थंकर ऋषभदेव की भांति) विधि-विधान, नवधा भक्ति आदि के योग मिले बिना आहार नही लेते। मुनिश्री ने स्वयं हिमालय जैसे बीहड़ पर्वत की यात्रा प्रसंग मे भी इस विधि का पूर्ण निर्वाह किया और आज भी सब दिगम्बर मुनि इसी विधि को अपनाए हुए हैं। इतना ही क्यों? **साधारण संहननधारी** मुनि श्री विद्यानन्द जी ने बर्फ के बीच रहते हुए शीत परीषह पर विजय पाई और हिमालय से नीचे उतरते समय जब रुद्रप्रयाग मे उन्हे उष्ण की बाधा हुई—उनकी पेशाब मे खून आने लगा तब भी उन्होंने पूर्ण धैर्य का परिचय दिया—न मुख से चीख निकाली और न ही किसी वैद्य से उपचार की कल्पना की। पर, आज **कैसी विडम्बना है कि लोग उत्तम संहनन धारो दि. महावीर में उक्त बातों की कल्पना कर रहे हैं,** नवधाभक्ति बिना उनके आहार लेने और कष्ट में उनकी चीख निकलने तथा खरक वैद्य से उनके इलाज की पुष्टि कर रहे है और इस सब मे दि. मुनिश्री के समर्थन का नाम ले रहे है।

दिगम्बर वेष, दि॰ चर्या और दिगम्बरत्व के भाव मे मुनि श्री के द्वारा, बद्रीनाथ मन्दिर के पीठासन से, और अन्य सभाओं के माध्यम से दिगम्बरत्व की जैसी प्रभावना हुई उसका प्रमाण वहाँ के जैनेत्तर संप्रदाय के शब्दों में भी जाना जा सकता है। जैसे—

'भारत पर जैन तीर्थंकरों व श्रमण दिगम्बर मुनियों की सदा कृपा रही है—वे सदा ही सन्मार्ग का उपदेश देते रहे हैं, आदि।'

—श्रीसत्यनारायण शास्त्री, बावुलकर

हम निवेदन करें कि हमने वर्षों मुनिश्री के पादमूल में सीखा है। दिगम्बरत्व और उक्त चर्या आदि के प्रति उनके समर्पण भाव को हमने उन पुरुषों से कहीं अधिक जाना है, जो यदा-कदा उनके पास आते-जाते हो और उनकी मनोभावना को जानने का दावा करते हो या यद्वा-तद्वा लिख उनको मोहर लगाते हों। ऐसे पुरुषों को सावधान होना चाहिए कि कहीं उनके कु-प्रयासो से जिनवाणी और दिगम्बर मुनि का अपवाद न हो जाय। स्मरण रहे–**दिगम्बर-सिद्धांत-प्रभावक साधु बड़े भाग्य से हाथ आते हैं, फलतः–दिगम्बरत्व की पुष्टि में ही दिगम्बर का उपयोग होना चाहिए।**

❑

आगम के मूल रूपों में फेर-बदल घातक है

निवेदनः-

एक ओर जब मुसलमानो के कुरान की स्थिति वही है, जो पहिले थी और आगे वैसी ही रहेगी जैसी आज है। उसके जे र-ज बर, सीन-स्वाद, अलिफ-ऐन और तोय-ते में कहीं कोई फर्क नहीं आया। हिन्दुओं के वेद भी वे और वैसे ही प्रामाणिक हैं, जैसे थे। तब दूसरी ओर कुछ जैनों ने आगमो मे गलत शब्द रूपो के मिश्रित होने की (भ्रामक) बात को प्रचारित कर आगम भाषा के सही ज्ञान के बिना ही, नासमझी में आगमों के सशोधन का उपक्रम चलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अब तक जो हम पढते रहे हैं वह आगम का गलत रूप था। इससे यह भी सिद्ध हुआ है कि आगमरूप बदलता रहा है और पहिले की भांति आगे भी बदलता रह सकेगा। क्योंकि इसकी कोई गारण्टी नहीं कि अब जो संशोधन होगा वह ठीक ही होगा। फलतः हमारी समझ से कोई भी बदलाव जैन सिद्धान्त की प्रामाणिकता पर जबरदस्त चोट और जैनेतर ग्रन्थों के मुकाबले जैन आगम रूप को अप्रामाणिक सिद्ध करने वाला है। यदि लोग प्राकृत भाषा के रूप को समझेंगे—जैन-आगम की भाषा को समझेगे तो वे अवश्य इस नतीजे पर पहुचेगे कि हमारे आगमों में सिद्धान्तों की भाति भाषा-दृष्टि से भी कहीं किसी भी तरह से कोई मिश्रण या कोई विरूपता नहीं है— वे जैसे, जिस रूप में है प्रामाणिक हैं—उन्हे वैसे ही रहने दिया जाय। इसी भावना के साथ श्रद्धापूर्वक कुछ लिखा है—विचार करें। —लेखक

दिगम्बर गुरुओं में विकृति आने और आगम के अर्थों में फेर-बदल

के चर्चे तो चल रहे थे। अब कुछ लोगों ने सशोधनों के नाम पर मूल-आगमों की भाषा मे परिवर्तन करने-कराने का लक्ष्य भी बनाया है– वे परिवर्तन कर रहे हैं। सोचें–जब पुराने पाषाण-खण्डों (पुरातत्त्व) की रक्षा महत्त्वपूर्ण मानी जा रही है तब क्या हमारे आगम-ग्रन्थ उनसे भी गए-बीते हैं जो उन्हें विकृत किया जा रहा है? वास्तविकता तो यह है कि अभी तक कई लोग दि० जैन आगमों की भाषा का सही निर्णय ही नहीं कर पाए हैं। कभी किसी ने लिख या कह दिया कि 'दि० जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है तो उसी आधार पर आज कई विद्वान् आगम-भाषा को ठेठ शौरसेनी माने बैठे हैं। हमे एक लेख अब भी मिला है, जिसमे लेखक विद्वान् ने आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा को शौरसेनी लिखा है जब कि तथ्य यह है कि दि० आगमों की भाषा शौरसेनी न होकर जैन-शौरसेनी है। ध्यान रहे कि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी ये दो पृथक्-पृथक् भाषा है और दोनों में अन्तर है। जहॉ शौरसेनी में भाषा सम्बन्धी बधे नियम हैं, वहा जैन-शौरसेनी-नियम बधन-मुक्त है–जैन-शौरसेनी कई भाषाओ का मिला जुला रूप है और इस विषय में प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् एक मत हैं।

'प्राचीन गाथाओं की भाषा शौरसेनी होते हुए भी महाराष्ट्रीपन से युक्त है। भाषाओ की दृष्टि से गाथाओ मे एकरूपता नहीं है।'–

'अर्धमागधी और महाराष्ट्री का सम्मिलित प्रभाव इन पर देखा जा सकता है।' –डा० नेमिचन्द्र, आरा

प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–पृ० 217

उक्त मान्यता की पुष्टि मे हम दि० आगमो के विविध उद्धरण दे इससे पूर्व कुछ इन भाषाओ के नियमों का अवलोकन कर लें तो विषय और स्पष्ट होगा। उससे यह भी स्पष्ट होगा कि शौरसेनी के ऐसे कई रूप हैं जिन्हें दि० आचार्यों ने ग्रहण नहीं किया और उनकी जगह सामान्य– अन्य प्राकृतो के रूपों को भी ग्रहण किया। जैसे–शौरसेनी के नियमों मे एक सूत्र है–'तस्मात्ता'–प्राकृत शब्दानुशासन, 3/2/13. इसका अर्थ है–

शौरसेनी में 'तस्मात्' शब्द को 'ता' आदेश होता है। जैसे कि–'ता अलं एदिणा माणेण।' इसमें तस्मात् के स्थान पर 'ता' हुआ है। यदि दि० आचार्यों को केवल शौरसेनी मान्य रही होती तो वे अपनी कृतियों में सभी जगह तस्मात् की जगह 'ता' का प्रयोग करते। पर, उन्होंने उक्त नियम की उपेक्षा कर अन्य भाषाओं के शब्द-रूपों को भी आगम में स्थान दिया। जैसे–समयसार-गाथा 10, 34, 112, 127, 128, 129; नियमसार गाथा 143, 144, 156 में 'तम्हा' का ग्रहण है, अब कि शौरसेनी के नियमानुसार वहाँ 'ता' होना चाहिए था।

दूर क्यो जाते हैं, हमें तो कुन्दकुन्द के ग्रन्थ 'समयपाहुड' के नामकरण में भी शौरसेनी की उपेक्षा हुई दिखती है। तथाहि–'पाहुड़' शब्द संस्कृत के 'प्राभृत' शब्द का प्राकृतरूप है जिसका अर्थ भेंट होता है। यदि इस शब्दरूप को शौरसेनी के नियम से देखना चाहें तो वह 'पाहुद' होगा। क्योकि शौरसेनी मे नियमो में एक सूत्र है– 'दस्तस्य शौरसेन्यामरवावचोऽस्तोः।'–प्राकृतशब्दानुशासन 3/2/1, इसमें 'त' को 'द' होने का विधान है, 'ड' होने का विधान नहीं। पर आचार्य ने उक्त नियम की उपेक्षा कर अन्य प्राकृतों के नियमानुसार 'त' को 'ड' कर दिया है। अन्य प्राकृतो के नियम है–'तो ड. पताका प्राभृति **प्राभृत** व्यापृत प्रतेः।' प्राकृतचन्द्रिका. 2/17, 'डः प्रत्यादौ'–प्राकृत-सर्वस्य, 2/10; 'तस्य हुत्वं हरीतक्या प्राभृते मृतके तथा।'–वसन्तराज 2/० Introduction of A.N Upadhye in प्राकृत सर्वस्व।

इसी प्रकार दि० आगमों में उन सभी प्राकृतो के रूप मिलते है जो रूप जैन-शौरसेनी की परिधि में आते हैं। दि० आचार्यों ने न तो सर्वथा महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी या अर्धमागधी को अपनाया। अपितु उन्होंने उन सभी प्राकृतों के रूपों को (भिन्न-भिन्न स्थलों में) अपनाया जो जैन-शौरसेनी में सहयोगी हैं और जैसा उपर्युक्त विद्वानों का मत है। और प्राचीन दि० आगमों और आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में इसी आधार पर विविध प्राकृतों के प्रयोग मिलते हैं–दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत को नियमों को लेकर नहीं चले। यदि बारीकी

से देखें तो प्राकृत भाषा के नियमों की परिधि बहुत विशाल है—शौरसेनी में तो कुछ ही परिवर्तन है; प्राकृत शब्दानुशासन में तो शौरसेनी सम्बन्धी मात्र 26 सूत्र हैं (देखें अध्याय 3 पाद 2) ऐसे मे क्या 26 सूत्र मात्र से जैन आगमों की रचना हो सकती है? जरा सोचिए! मानना पड़ेगा कि आगमों में अन्य प्राकृतनियमों का भी समावेश है। उदाहरण के लिए 'पाहुड' शब्द को ही लीजिए। इसमें जो 'भ' को 'ह' और 'ऋ' को 'उ' हुआ है—वह अन्य प्राकृतों के नियमों से हुआ है। तथाहि—

'ख घ थ ध भाम्।'—त्रिविक्रम 1/3/20 से भ् को ह् (महाराष्ट्री)।

'जैवात्रिके परभृते संभृते प्राभृते तथा।'—प्राकृतचन्द्रिका, 3/107/8 (साधा०) से 'ऋ' को 'उ' आदेश हुआ। क्या शौरसेनी के सूत्रों में कोई स्वतंत्र नियम है जिनसे 'पाहुड' शब्द बन सका हो? फलतः—भाषा की दृष्टि से आगमों के संशोधन की बात सर्वथा निराधार है।

उक्त स्थिति में हम तो यही कहेंगे कि या तो संशोधन पूर्व महान् विद्वानों से अधिक विद्वान् हैं या उनमें 'अहं' भाव—अपनी यश कामना का भाव है कि लोग वर्तमान में हमें विद्वान् समझें और बाद मे रिकार्ड रहे कि अमुक भी कोई आगम-पण्डित हुए जिन्होंने आगमों का सशोधन किया। वरना, जैन आगमों के विविध प्रयोग हमारे सामने ही हैं। हमें तब और आश्चर्य होता है, जब आगम भाषा को 'जैन-शौरसेनी' स्वीकार करने वाले भी आगम-ग्रन्थों को किसी एक भाषा के नियमों में बाँधने का प्रयत्न करें और आगम की छवि को बिगाड़ें।

दिगम्बर जैन आगमों में उपलब्ध विविध प्रयोग—

1. षट्खण्डागम (1-1-1)

(क) (महराष्ट्री के नियमानुसार 'द' को हटाया)
उप्पजइ (दि) पृ०110, कुणइ पृ०110, वण्णेइ पृ०९९, परूवेइ पृ० 99, उच्चइ पृ०171, गच्छइ पृ०171, दुक्कइ पृ०171, भणइ पृ०266, संभवइ पृ०74, मिच्छाइट्ठि पृ०20, वरिसकालो कओ पृ०71 इत्यादि।

(ख) (शौरसेनी के अनुसार 'द' को रहने दिया)
सुदपारगा पृ०65, वण्णेदि पृ०96, उच्चदि पृ०76, परूवेदि पृ०105, उपक्कमो गदो पृ०82, सदं पृ०122, णिग्गदो पृ०127।

(ग) ('द' लोप के स्थान में 'य'* सभी प्राकृतों के अनुसार) सुयसायरपारया पृ०66, भणिया पृ०65, सुयदेवया पृ०6, सुयदेवदा पृ०68, वरिसाकालोकओ[2] पृ०71, णवयसया (ता)पृ०122, कायव्वा पृ०125, णिग्गया पृ० 127, सुयणाणाइच्च (तिलो०प०) पृ०35।

इसी प्रकार अन्य प्रचुर शब्द हैं जो विभिन्न रूपों में दि० जैन आगमों में प्रयुक्त किए गए हैं और कई ऐसे भी शब्द हैं जो शौरसेनी के नियम में होते हुए भी इन आगमों में कहीं-कहीं नहीं लिए गए हैं। जैसे शौरसेनी में एक सूत्र है–'इ अ दूणौ क्त्वः।'–प्राकृत शब्दानुशासन 3/2/10 इसका अर्थ है–शौरसेनी में क्त्व प्रत्यय को इ अ और दूण ये आदेश होते है। इसके अनुसार 'समय पाहुड' के मगलाचरण के 'वंदित्तु' शब्द के स्थान पर 'वन्दिअ या वंदिऊण' होना चाहिए जो नहीं हुआ। इससे तो ऐसा ही सिद्ध होता है कि यदि समयसार शौरसेनी का आगम होता तो यह 'प्रथमे ग्रासे–(मगलाचरण के प्रथम शब्द में) मक्षिकापातः' न होता।

आज स्थिति ऐसी है कि कतिपय लोग जैन-शौरसेनी के नियमों की अवहेलना कर आगम में आए शब्दों को बदल रहे हैं। जैसे–पुग्गल को पोंग्गल, लोए को लोगे, एइ को एदि, वंत्तुं को वोत्तुं आदि। प्रवचनसार में पुग्गल और पोंग्गल दोनों रूप मिलते हैं–गाथा 2/76, 2/93, 2/78; पिशल में लिखा है 'जैन-शौरसेनी में ' रूप भी मिलता है'–पैरा 124; षट्खण्डानम के मंगलाचरण–मूलमंत्र णमोकार में 'लोए' अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है जो आबाल-वृद्ध सभी में श्रद्धास्पद है। पिशल में लिखा है– 'प्राकृत' मे निम्न उदाहरण मिलते हैं– 'एति' के स्थान में 'एइ' बोला

---

*जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन-शौरसेनी में भी होता है।

2 'द' का लोप है 'य' नहीं किया। —षट्खंडागम भूमिका पृ० 86

जाता है, 'लोके' को 'लोए' कहते हैं।'—पैरा 178; यदि सभी जगह 'द' को रखना इष्ट होगा तो 'पढमं होइ मंगलं' इस आबाल-वृद्ध प्रचलित पद को 'पढमं होदि मंगलं' रूप में पढना पड़ेगा—जैसा कि चलन जैन के किसी सम्प्रदाय में नहीं।

यद्यपि प्राकृत-वैयाकरणियों ने जैन-शौरसेनी को प्राकृत के मूल-भेदों में नहीं गिनाया, तथापि जैन-साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता से पाया जाता है। दिगम्बरसाहित्य इस भाषा से वैसे ही ओत-प्रोत है जैसे श्वेताम्बरमान्य आगम अर्धमागधी से। सम्भवत उत्तर से दक्षिण में जाने के कारण दिगम्बराचार्यों ने जैन-शौरसेनी को जन्म दिया—प्रचार की दृष्टि से भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है। इससे जैन-सिद्धान्त को समझने में सभी को आसानी हुई होगी और सिद्धान्त सहज प्रचार में आता रहा होगा—देश-देश के शब्द आचार्यों ने इसीलिए अपनाए होंगे—शूरसेन जनपद मे आए तो उन्होंने शौरसेनी शब्द लिए और महाराष्ट्र में गए तो कुछ महाराष्ट्री रूप। इस तरह जैन आगमों की भाषा 'जैन-शौरसेनी' बनी दिखती है।

हम स्मरण दिला दें कि हमें देव-शास्त्र गुरु के प्रति और निर्ग्रन्थ-वीतराग जिनधर्म के प्रति जैसी श्रद्धा बनी है, वह दिगम्बर समाज के व्यवहार से ही बनी है। कहीं निराशा और कहीं आशा—इन दोनों ने ही हमें वस्तु स्वरूप-चिन्तन की दिशा दी है। फलतः धर्म-समाज के हित में जो भाव हमें उठते हैं, लिख देते हैं—लोग समझते हैं—यह हमारी खिलाफत करता है। हमें याद है—कभी हमने 'अनुत्तर योगी' की भी ऐसी ही विसंगतियों की ओर पाठकों का ध्यान खींचा था और प्रबुद्धों ने हमारा साथ दिया। जिन लोगों को तब पछतावा नहीं हुआ था, वे तब जागृत हुए जब आचार्य तुलसी की संस्था से 'दिगम्बर-मत' शीर्षक द्वारा दिगम्बरों पर चोट की गई। वे सभी विरोध को बौखला उठे। खैर,'देर आयद दुरुस्त आयद।'

हम चाहते हैं—देव-शास्त्र-गुरु के मूलरूपों में किसी प्रकार की विसंगति न हो और समाज सावधान हो। यदि आगमों के मूल-शब्दरूपों में बदलाव

आता है तो निश्चय समझिए—आगम विरूप और लुप्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। हम नहीं चाहते कि जैसे हमारी शिथिलता से, हमारे दि० गुरुओं में विरूपता आने लगी है वैसे आगम भी दूषित हो। यतः आगम मार्ग-दर्शक और मूल हैं, गुरु के रूप को भी वही संवारता है और मोक्षमार्ग का संकेत भी वही देता है। आशा है—प्रबुद्ध वर्ग हमारी विनती पर ध्यान देगा।

एक बात और। तत्त्वार्थसूत्र में देवों के प्रति एक स्वाभाविक नियम है—'परिग्रहाभिमानतो हीनः।'—अर्थात् ऊपर-ऊपर के स्वर्ग-देवों में परिग्रह और अभिमान हीन है जब कि देव अव्रती हैं। ऐसी स्थिति में हमें सोचना है कि—कहीं व्रत-धारण करने के शक्तिधारी हम, देवगति से हीन तो नहीं हो रहे जो 'परिग्रहाभिमानतो हीनः' की अवहेलना कर, देव-शास्त्र-गुरु के रूप को विरूप करने में लगे हों!

❑

क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी?

लगभग दस वर्ष पूर्व सन् 1978 जून में मेरे मन में एक विकल्प उठा था और तब मैंने 'आ० कुन्दकुन्द की प्राकृत' शीर्षक के माध्यम से कुछ लिख कर अपने मन को शान्त कर लिया था। पर, आज आचार्य कुन्दकुन्द की द्वि-सहस्राब्दी समारोह के उपक्रम-समाचारों को पढ़-सुनकर वह विकल्प पुनः जागृत हो बैठा है। विकल्प है– **'क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी?'**

वर्तमान में हमारे समक्ष दो कुन्दकुन्द भारती हैं–एक आगमरूप और दूसरी संस्थारूप। प्रसंग में संस्था के विषय में हमें कुछ नहीं कहना। क्योंकि हम मान कर चलते हैं कि समय, साधन और साधकों के अनुरूप संस्थाएँ निर्मित और विघटित होती रहती हैं, इसमें हर्ष-विषाद कैसा? हाँ, यदि मूल आगमरूप कुन्दकुन्द भारती बदलती है तो 'सर्व वै पूर्णग्वं स्वाहा' में संदेह नहीं।

सर्व विदित है कि षट्खण्डागम शास्त्र आचार्य कुन्दकुन्द से बहुत पूर्व हुए आचार्य भगवत् भूतबलि-पुष्पदंत की कृति है। प्रथम पुस्तक के पृ. 133 पर चौथे सूत्र में **'इंदिए, काए, कसाए'** शब्द प्रयुक्त हैं और ये शब्द क्रमशः **'इन्द्रिये, काये, कषाये'** इन संस्कृत शब्दों के स्थान पर (परिवर्तित रूप प्राकृत में) दिए गए हैं। अर्थात् उक्त रूपों में प्राकृत भाषा के नियम रूप सूत्र 'प्रायः क ग च ज त द प ब य वां लोपः'–प्राकृतसर्वस्व 2/2 और 'प्रायो लुक् गचजतदपयवां'–प्राकृत शब्दानुशासन 1/3 के नियमानुसार संस्कृत के शब्दों से 'य' को हटा दिया गया है। उक्त तीनों शब्द सप्तमी विभक्ति के रूप हैं। इतना ही क्यों? उक्त चौथे सूत्र से पूर्व भी आचार्य

ने षट्खण्डागम के मंगलाचरण में इसी नियम के अनुरूप क या ग को हटाकर लोके या लोगे के स्थान पर 'लोए' शब्द का प्रयोग किया है—'णमो लोए सव्वसाहूणं।' इसके अतिरिक्त बाद के आचार्यों ने भी 'लोए' को मान्यता दी है। स्वयं कुन्द-कुन्दाचार्य ने भी इस शब्द का खुलकर प्रयोग किया है। देखें—पंचास्तिकाय प्राभृत गाथा 85, 90 आदि*। उक्त रूप के सिवाय दि. आगमों में लोयो, लोओ, लोय जैसे सभी रूप मिलते हैं** और सभी उचित हैं। क्योंकि प्रकाण्ड प्राकृत विद्वानों के मतानुसार दि. आगमों की भाषा, अन्य कई प्राकृत भाषाओं का मिला जुला रूप है और इस भाषा का नाम ही जैन-शौरसेनी है। स्मरण रहे कि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी में महद् अन्तर है। आज हमारे कई विद्वान् भी भ्रम में हैं वे शौर-सेनी को ही दि. आगमों की भाषा मान बैठे हैं और रूप बदल रहे हैं।

षट्खण्डागमकार ने पूर्ववर्ती आचार्य गुणधर हैं। इनकी रचना 'कसाय पाहुड सुत्त' है। इसमें भी इसी जाति के अन्य शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हैं। जैसे तृतीये के स्थान पर **तदिए,** संपराये के स्थान पर **संपराए,** कषाये के स्थान पर **कसाए** आदि। ये सभी सप्तमी के रूप हैं और सभी में से (प्राकृत सर्वस्व और प्राकृत-शब्दानुशासन के उपर्युक्त नियमानुसार) य को हटा दिया गया है। हमारा अभिमत प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ. ए. एन. उपाध्ये, डॉ. हीरालाल, डॉ. नेमीचन्द आरा व पिशल के अनुरूप है—कि जैन-शौरसेनी को दिगम्बर आचार्यों ने अपनाया जो कि कई प्राकृत भाषाओं का मिला-जुला रूप है—(देखें हमारा अन्य लेख)—फलतः दिगम्बर आगमों में सभी रूप मिलते हैं**। कहीं त को द भी होता है और कहीं क या ग का लोप भी होता है और कहीं इनके लोप के स्थान में य का लोप भी होता है और कहीं इनके लोप के स्थान में य भी होता है। जैसे—गदि, गति=गइ; वेदक=वेदग, एकेंद्रिय=एइंदिय; इसके सिवाय मध्यवर्ती क ग च ज त द प व य का लोप तो बहुशः पाया जाता है। फलतः—जहाँ जो है, ठीक है।

हमारा निवेदन है कि यदि इस रहस्य को न समझा गया और हम

* द्वादशानुप्रेक्षा गा. 8, सुत्तपाहुड गा. 11, दर्शनपा. गा. 33। ** देखें—पंचास्तिकाय।

भावुकता में बह गए तो (संशोधित? समय-सार गाथा नं. ३ **'लोगे'** के अनुसार) जिसे हम अब तक 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पढ़ते रहे हैं कभी उसे गलत मान कर 'णमो लोगे सव्वसाहूणं' भी पढ़ने लगेंगे। और तब कहाँ जायगा स्वामी समंतभद्र का कथन—'न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनोनिहन्ति विषवेदनां।' जब कि णमोकार हमारा महामंत्र है। सोचें क्या भाषा के बदलाव की भांति इस मंत्र में **लोए का लोगे** न होगा? और न होगा तो क्यों, किस नियम से? यदि न होगा तो उस नियम को समयसार गाथा नं. ३ में लागू क्यों नहीं किया जा रहा? अब ये सोचना आपका काम है कि वर्तमान संशोधनों के नाम पर आगमरूपी कुन्दकन्द भारती बदलेगी या नहीं? यदि बदलेगी तो समयसार में परिवर्तित शब्दरूपों की भाँति आगमसम्मत प्राचीन अनादि मूलमंत्र णमोकार भी आपके हाथों से खिसक कर अन्धों के हाथों में रह जायगा—वह आपका सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि आपका भाषाशुद्धिमोह 'लोए' को अशुद्ध मान उसे 'लोगे' कर चुका है और मूलबीज मत्र मे 'लोगे' है नहीं—देखें—षट्खण्डागम, मंगलाचरण 'णमो लोए सव्वसाहूणं।' अब आपको सोचना है कि आप प्राचीन मूल बीजमंत्र को जैन-शौरसेनी के अनुसार 'लोए' के रूप में स्वीकारते हैं या मात्र **'लोगे'** रूप को स्वीकारने के कारण उसे मात्र अर्धमागधी के लिए छोडते हैं— निर्णय आपके हाथ है।

हमारी दृष्टि से आगमरूप कुन्दकुन्द भारती के मूल जैन-शौरसेनी (जिसमें कई प्राकृत भाषाएँ समिलित हैं) के रूप को यथावत् सुरक्षित रखना ही कुन्दकुन्द की द्वि-सहस्त्राब्दी मानने की सार्थकता है। अन्यथा, हम उत्सवों में बाजे बजवाने, भाषणादि सुनने-सुनाने के तो अभ्यासी हैं ही—कोई नई बात नहीं। यदि आप अपनी अज्ञानता या कायरतावश अथवा भावावेश में भाषा-बदलाव (संशोधन?) को न रोक सके तो आप अपने आगम का स्वयं घात कराएँगे।

डॉ. रिचर्ड पिशल प्राकृत-भाषाओं के जाने-माने प्रामाणिक उच्चतम विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने प्राकृत में उपलब्ध प्रभूत साहित्य और आगमिक ग्रन्थों को बड़ी बारीकी से देखा और उनके आधार पर प्राकृत

भाषाओं के पारस्परिक भेद के जो निष्कर्ष अपनी कृति 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' द्वारा सन्मुख रखे, उनमें उन्होंने शौरसेनी और जैन-शौरसेनी दोनों को पृथक्-पृथक् भाषाएँ माना। उन्होंने दोनों भाषाओं का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख किया, दोनों के शब्द रूपों में भेद दर्शाया और दोनों के साहित्य को भिन्न बतलाया। फलतः—दोनों भाषाएँ एक नहीं हैं और दि. जैन आगम भी शौरसेनी के नहीं हैं—वे सभी **जैन-शौरसेनी** भाषा के हैं। अतः दि. आगमों को शौरसेनी की प्रमुखता देकर उनमें शौरसेनी की भरमार करना और उनमे गृहीत जैन-शौरसेनी के रूपों का तिरस्कार करना सर्वथा ही अनुचित है—जैसा कि किया जा रहा है। डॉ. पिशल द्वारा निर्दिष्ट कुछ उद्धरण (पाठकों की जानकारी के लिए) इस प्रकार हैं—

(1) पृथक्-पृथक् नामोल्लेख :

(क) 'सौख्य शब्द के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, **जैन-शौरसेनी, शौरसेनी** और अपभ्रंश में सोक्ख होता है।—पैरा 61 अ

(ख) **जैन शौरसेनी** और **शौरसेनी** में ओसह शब्द काम में लाया जाता है।'—पैरा 61 अ.

(ग) **'जै. शौर.,** और **शौर.** में ओसह रूप भी चलता है।'—पैरा 215

(घ) **'जै. शौर., शौर. माग.** और **अप.** रूप बहिणी, जो बघिणी से निकला है।—पैरा 204'

(च) **'जै. शौर., शौर., माग.,** ढ़ में बोली के रूप में तथा **अप.** में त का द और थ का ध रूप बन जाता है।**'—पैरा 195**

(छ) **'जै. शौर., शौर. माग.** और **अप.** में मौलिक द और ध बने रह जाते हैं।'—पैरा 195 (नोट—दोनों भाषाओं के नाम अर्ध-विराम देकर पृथक्-पृथक् बतलाए है।)

(2) दोनों के शब्द रूपों में भेद :

(क) 'जैन शौरसेनी में **रयण** रूप पाया जाता है। शौरसेनी में **रदण** का व्यवहार होता है।' —पैरा 131

(ख) जैन शौरसेनी में **बसह** रूप है किन्तु शौरसेनी में वृषभ के लिए सदा वुसह शब्द आता है।' —पैरा 49

(ग) **'जैन. शौर. जघ,** शौर. **जधा**......जै. शौर **तध** शौर. और माग. **तथा।'** —पैरा 195

(3) दोनों के साहित्य में भिन्नता :

डॉ. पिशल ने जैन-शौरसेनी के शब्द-रूपों में अन्य-भाषारूपों से पृथक्ता सूचक सभी उदाहरणों का चयन दि. आगमग्रन्थों (जैसे—पवयणसार, कत्तिकेया. आदि) से किया तथा शौरसेनी के सभी उदाहरण जैनेतर ग्रन्थों (जैसे—मृच्छ. शकु. आदि) से चुने। इसका तात्पर्य ऐसा है कि शौरसेनी दि. आगमों की भाषा नहीं है—यदि दि. आगम शौरसेनी के होते तो शौरसेनी शब्दरूपों की पुष्टि में उदाहरण दि. आगमों से दिये गये होते।

(4) जैन-शौरसेनी (भाषाओं का संगम) .

दि. आगमों में अर्धमागधी के शब्दों का भी प्रयोग है और अन्य भाषा के शब्दों का भी प्रयोग है अर्थात् इसमें किसी एक भाषा के शब्दरूपों का बन्धन नहीं है—ये भाषा मुक्त भाषा है। पिशल ने स्वयं जैन शौरसेनी का अर्धमागधी से अधिक मेल बताया है और इसीलिए दि. आगमों में **'त्ता', 'ग'** आदि जैसे रूप (जो अर्धमागधी के हैं) पाए जाते हैं। पिशल के शब्दों में—

(क) **'क्त्वा** का **त्ता'** जो अर्धमागधीरूप है।—पैरा 121
(ख) 'जैन शौरसेनी का अर्धमागधी से अधिक मेल है।' —पैरा 21
(ग) **'क** का **ग** में परिवर्तन अर्धमागधी की विशेषता है।'—पैरा 19

स्मरण रहे भाषा सम्बन्धी यह आवाज हमारी ही नहीं, अपितु

पूर्वाचार्यों की भाषा से फलित और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड दिवंगत-विद्वानों से सम्मत है। पहिले भी आगम के रूप को बदलना घातक हुआ है और आगे भी घातक होगा, भले ही अर्थ में अन्तर न पड़ता हो। भविष्य में लोग भी अपनी बुद्धि से, संशोधन की परम्परा बना लेंगे और आगम का लोप होगा। इसे विचारिए—कुन्दकुन्द द्वि-सहस्त्राब्दी के समारोह में। धन्यवाद!

❑

कैन्सर में तब्दील होती शौरसेनी की गाँठ

हमने दो दशक पूर्व से सावधान किया था और अब तक करते रहे हैं कि कोई हमारे आगमों से खिलवाड़ न करे—न भाषागत सशोधन करे। सशोधन के नाम पर जो भी दिया जाए टिप्पण मे दिया जाए, जिसकी सम्पुष्टि अनेक विद्वानो द्वारा की गई। उक्त कथन हमने तब किया जब प्राकृत को व्याकरण पुष्ट मानकर दिगम्बर-आगमों की भाषा को शौरसेनी घोषित किया गया।

सभी जानते हैं कि श्वेताम्बरों ने अपने आगमों को भगवान महावीर और मूलाचार्य गणधर की भाषा को अर्धमागधी घोषित कर रखा है। हालाँकि वे आगम वास्तव में अर्धमागधी में नही अपितु जैन महाराष्ट्री भाषा में निबद्ध किए गए है और आचार्य हेमचन्द्र ने तदनुसार ही व्याकरण की रचना की है। वास्तव में तो दिगम्बर आगम ही अर्धमागधी के हैं और व्याकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यतः प्राकृत प्रकृति की बोली है—व्याकरणादि द्वारा सशोधित (संस्कारित) नही, जैसा कि ताण्डव रचा जा रहा है। क्योंकि सभी व्याकरण बाद की रचनाएँ है। आगम भाषा के विषय में हमारे आगमों में कहा गया है—

'अर्धं च भगवद्‌भाषाया मगधदेश भाषात्मकं अर्धं च सर्वभाषात्मकम्' —दर्शनपाहुड़ टीका, 35/38/13

'अट्ठारस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा'

—तिलोयपण्णत्ति/584/90

'ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव अट्ठारस सत्तसयभास कुभासप्पिय' —धवला 9/4/44 पृ.136

'तववागमृतं श्रीमत्सर्वभाषा स्वभावकम्।
प्रणीत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि।।

—बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र 97, अरहनाथस्तुति

परम्परित पूर्वाचार्यो के उक्त कथनों के आधार पर हम दावे के साथ, दिगम्बर-आगममों की भाषा को अर्धमागधी ही मानते हैं और जो लोग उक्त कथनों के आधार को झुठलाकर अर्धमागधी से मुँह मोड़कर आगमभाषा को मात्र शौरसेनी प्रचारित करते हैं वे उक्त आचार्यों को मिथ्या सिद्ध कर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का प्रयत्न कर रहे हैं। पूजा में भी कहा है—

'दश अष्टमहाभाषा समेत लघुभाषा सात शतक सुचेत।'

देवो के द्वारा किए गए अतिशयों में भी वर्णन है—**'देवरचित हैं चारदश अर्धमागधी भास'** जिसे अब शौरसेनी में व्याकरण की दुहाई देकर बदला जा रहा है, जो कि दिगम्बरत्व के लिए घातक होगा। यदि आगमभाषा शौरसेनी है तो किसी भी दिगम्बर-आगम में या अतिशयों में इसका उल्लेख होना चाहिए। क्या अतिशयों में कहीं ऐसा कहा है—**'देव रचित हैं चारदश शूरसेन की भास'** परन्तु हमारे देखने में तो ऐसा नहीं आया और जब आगम में ऐसा नहीं है तब हम किसी भाँति भी मानने को तैयार नहीं कि दिगम्बर आगमो की भाषा शौरसेनी है।

विगत में श्रुतपंचमी के अवसर पर पद्मपुराण के निम्नलिखित श्लोक के द्वारा शौरसेनी की यद्वा तद्वा पुष्टि की गई—

नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृताः।।27।। 11

उस समय भी हमने लिखा था "उक्त श्लोक तीर्थंकर मुनिसुव्रत के शासनकाल में उत्पन्न केकयी के भाषा ज्ञान के संबंध में है कि उक्त तीनों (संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी) भाषाओं को जानती थी। पर शौरसेनी

प्राकृत पोषकों को शौरसेनी शब्द से ऐसा लगा कि यह शौरसेनी प्राकृत है। जबकि वह भाषा प्राकृत से भिन्न शौरसेनी थी। यदि प्राकृत होती तो प्राकृत शब्द में गर्भित हो जाती उसका पृथक् कथन न होता। बस, इन्होंने उस शौरसेनी को अपनी अभीष्ट प्राकृत के भेद के रूप में प्रचारित कर दिया।" जबकि तीर्थकरों की देशना में एकरूपता का कथन शास्त्रों में मिलता है। क्या मुनिसुव्रतनाथ और बाद के किसी तीर्थकर ने शौरसेनी में देशना दी थी और वहाँ देवकृत 14 अतिशयों में अर्धमागधी के स्थान पर शौरसेनी का कहीं उल्लेख है? क्या देव अतिशय बदलते रहते हैं? अस्तु।

कुछ लोग शौरसेनी के व्यामोह में मूल को ही नष्ट करने की प्रक्रिया में जा रहे हैं। 'णमोकार मंत्र' मूल और अनादि.अनिधन मंत्र है। जिस पर हमारी अटूट श्रद्धा है और इसी पर जिनशासन टिका है। यदि शौरसेनी-करण का हम राग अलापते रहे तो वह मूलमंत्र भी खटाई में पड़ जायेगा क्योंकि दिगम्बर आगमों की मूल परम्परित प्राचीन भाषा को शौरसेनी घोषित करने वाले व्याकरण पक्ष व्यामोही व्यक्ति, अपनी मान्यता की कसौटी मंगलाचरण मूलमंत्र में ढूँढकर बतायें कि उक्त मंगलाचरण में कितने पद शौरसेनी व्याकरणसम्मत हैं और णमोकर मन्त्र क्यो दिगम्बरों द्वारा मान्य है? पाठक विचार करे–

'णमो अर (अरि) हंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

उक्त मूलमंत्र जैनियों के सभी सम्प्रदायों में मान्य है। प्रायः अन्तर केवल 'न' और 'ण' का है। जहाँ दिगम्बरों में 'णमो' प्रचलित है, वहीं श्वेताम्बरों में प्रायः 'नमो' बोला जाता है। व्याकरण मान्यता वालों की दृष्टि से देखा जाय तो उनकी दृष्टि में जितने भी प्राकृत व्याकरण हैं, उनमें 'संस्कृत शब्दों से प्राकृत बनाने के नियम दिए हैं'–(प्राकृत विद्या 6/3) के अनुसार ऐसा शौरसेनी व्याकरण का कौन-सा सूत्र है, जो 'न' को 'ण' कर देता हो? अन्य प्राकृतों में तो 'न' को 'ण' करने के हेमचन्द्र के सूत्र 'वाऽऽदौ' 8/1/229 और 'नो णः' 8/1/228 और प्राकृत प्रकाश का सूत्र 'नो ण. सर्वत्र' 2/42 हैं। क्या

शौरसेनी पक्ष व्यामोहियों को इनका हस्तक्षेप स्वीकार है?

'आइरियाणं' शब्द संस्कृत के आचार्य शब्द से बना है। शौरसेनी के विशेष सूत्रों में ऐसा कौन-सा सूत्र है जो 'चा' को 'इ' में बदल देता है? अन्य प्राकृत नियमों में हेमचन्द्र का 'आचार्ये चोऽच्च' 8/1/73 सूत्र है जो 'चा' को 'इ' में बदल देता है। क्या शौरसेनी में इसका दखल स्वीकार है?

तीसरा शब्द 'लोए' है (जिसे लोगे भी बाला जाता है) क्या शौरसेनी में 'क' को 'ग' करने का कोई सूत्र है? हाँ, अपभ्रंश में 'अनादौ स्वरादनुक्तानां क ग त थ प फां ग घ द ध बभाः– हेम. 8/7/399 सूत्र अवश्य है जो 'क' को 'ग' कर देता है। क्या शौरसेनी में उसका दखल स्वीकार है? व्याकरण के नियम से लोये बनने का तो प्रश्न ही नहीं। यतः लुप्त व्यंजन के स्थान पर 'य' श्रुति होने का विधान वहीं हैं जहाँ लुप्त व्यंजन के पूर्व में 'अ' या 'आ' हो, देखें–हेम. 8/1/180 'अवर्णो य श्रुति।' यहाँ तो लुप्त वर्ण से पूर्व ओ है।

चौथा शब्द 'साहूणं' है, जो संस्कृत के साधु शब्द से निष्पन्न है क्या शौरसेनी में कोई सूत्र है जो 'ध' को 'ह' में बदल देता हो? अन्य प्राकृतों में तो हेमचन्द्र का सूत्र 'ख घ थ ध भाम्' 8/1/187 है जो 'ध' को 'ह' में बदल देता है। क्या उक्त रूपों में शौरसेनी वालों को उक्त सूत्रों के दखल स्वीकार हैं? यदि हाँ, तो भाषा मिश्रित हुई और नहीं तो शौरसेनी के स्वतंत्र नियम कौन-से हैं जो वैयाकरणों ने विशेष रूप में दिए हों? उक्त विषय में विचार इसलिए भी जरूरी है कि उक्त मन्त्र को सभी जैन सम्प्रदाय वाले मान्य करते हैं और शौरसेनीकरण की मुहिम के कारण यह मंत्र विवाद में पड़ने वाला है। आगे चलकर हमारे बच्चे यह न कहने लगें कि चूँकि दिगम्बरों की भाषा शौरसेनी है और णमोकार मंत्र शौरसेनी में नहीं है अतः हम इसे क्यों बोलें? क्यों श्रद्धा करें? आदि-आदि प्रश्न शौरसेनी की जबरन मुहिम के कारण उठने की सम्भावना है।

श्वेताम्बर मुनि गुलाबचन्द्र निर्मोही ने 'तुलसी प्रज्ञा' के अक्टूबर-दिसम्बर 1994 के अंक में पृष्ठ 190 पर लिखा है 'जैन तीर्थंकर प्राकृत अर्धमागधी'

में प्रवचन करते थे। उनकी वाणी का संग्रह आगम ग्रन्थों में ग्रथित हुआ है। श्वेताम्बर जैनों के आगम........अर्धमागधी भाषा मे रचित हैं। दिगम्बर जैन साहित्य षट्खण्डागम, कसायपाहुड़, समयसार आदि शौरसैनी में निबद्ध हैं,' इसी लेख में पृ. 182 पर उन्होंने व्याकरण रचयिता काल (भाषाभेदकाल) भी दिया है जिसका प्रारम्भ 2-3 शताब्दी दिया है। यह सब दिगम्बर-आगमों को तीर्थंकरवाणी बाह्य और पश्चाद्वर्ती सिद्ध करने के प्रयत्न हैं। **श्वेताम्बर तो यह चाहते ही हैं कि दिगम्बरों में शौरसेनी विधिवत् महिमामण्डित हो क्योंकि इससे उनके अभीष्ट की सिद्ध होगी। और दिगम्बरों में शौरसेनी की बलात् स्वीकारोक्ति के प्रति बढ़ता दबाब कालिदास की याद दिलाता है जो जिस डाल पर बैठे थे उसी को काट रहे थे** और ये शौरसेनी के पक्षधर भी पूर्वाचार्यों को झुठलाकर श्वेताम्बर मत की पुष्टि कर रहे हैं। जबकि हमारे आगम गणधरवाणी **दृष्टिवाद** से उद्भूत हैं और उनके पश्चाद्वर्ती कोरी वाचनाओं से उत्पन्न हैं। यदि इस मुहिम को तुरन्त शान्त नहीं किया गया तो यह **शौरसेनी की छोटी-सी गाँठ कैन्सर का रूप धारण करने वाली है**। हालाँकि अनेकों डाक्टर उसे कैन्सर के बीभत्स स्वरूप होने से बचाने में जी जान से जुटे हुए हैं। काश वे सफल होते लेकिन हठधर्मिता ही सबसे बड़ी बाधा है। हालाँकि पुरस्कार की प्रत्याशा में अनेक वरिष्ठ और गरिष्ठ विद्वान् पंक्तिबद्ध कतार में खड़े होंगे। पुरस्कृत जिन डॉ. सा. से शौरसेनी भाषा के मूल होने की पुष्टि कराई थी वे लाडनूँ की 'प्राकृत भाषा संगोष्ठी' में उक्त स्वीकृति से सर्वथा मुकर गए और उन्होंने कहा कि आचारांग, सूत्रकृतांग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। डॉ. शशिकान्त जैन ने भी शोधादर्श अंक 36 पृष्ठ 291 पर ठीक ही लिखा है".......जून 1995 में शौरसेनी प्राकृत को ही मूल प्राकृत सिद्ध करने की हठधर्मिता ने श्वेताम्बर आम्नाय के साधु और विद्वानों की अर्धगामधी (जिससे श्वेताम्बर आगम निबद्ध हैं) को प्राचीनतर और महावीर की मूल प्राकृत सिद्ध करने में लामबन्द कर दिया।"

निःसंदेह डॉ. टाटिया की चाल काम कर गई। उन्होंने इन्हें शौरसेनी में

समर्थन दिया ताकि ये इसमें दृढ़ रहें—और श्वेताम्बर आगम पूर्ववर्ती सिद्ध हो। बस, उनका काम हो गया और लाडनूँ जाकर वे वचनों से बदल गए और ये शौरसेनी के गीत गाते रहे, जिसका परिणाम ये बदलता कैन्सर है।

वस्तु स्थिति को नकारने की हठधर्मिता का भयावह रूप अब सामने आने लगा है। लोगों ने सर्वज्ञ वाणी से परम्परित गुम्फित आगमों को शिलालेखों जैसे अस्पष्ट आधारों से प्रमाणित करना शुरू कर दिया है। कुछ दिन पहले हमें एक लेख संपादक—तुलसी प्रज्ञा का मिला था, जिसमें खारवेल के शिलालेख से आगमिक 'न' और 'ण' की सिद्धि का उल्लेख था। हमने सम्पादक महोदय को लिखा कि सभी के आगम सभी को स्वतःप्रमाण होते हैं—आगमों को पर से प्रमाणित करने की बात आगमों में अश्रद्धा करना है। आदि। हम ठीक नहीं समझते कि अल्पज्ञ से सर्वज्ञ की वाणी को प्रमाणित कराया जाए जैसाकि चलन बन गया है। काश! मान लें कि खारवेल सर्वज्ञ थे और उनकी वाणी शिलालेख पर ठीक से उत्कीर्ण हुई तो टंकित **सवसिधानं** को भी मान्यता देकर हमारे प्रचलित मंत्र में उक्त पद मान लेना चाहिए पर ऐसा सम्भव नहीं। इसे न श्वेताम्बर स्वीकारेंगे और न दिगम्बर। आखिर अपने-अपने ढंग में उक्त मंत्र दोनों का है। किसी खास भाषा या व्याकरण से इसका संबंध नहीं—यह तो अभेद प्राकृत का है। किसी विभक्त एक भाषा का नहीं और यही भाषा जिसे अर्धमागधी कहा जा रहा है दिगम्बर आगमों की भाषा है। वही हमे स्वीकार है और इससे ही हमारे परम्परित पूर्वाचार्यो में हमारी श्रद्धा जगती है।

❑

भाषा बदलाव का क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा?

ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा-शास्त्रियों ने प्राकृत भाषाओं के विकास काल को ईसापूर्व प्रथम शताब्दी (जो कुन्दकुन्द का काल है) को स्थिर किया है। उक्त काल में त् और थ् में परिवर्तन होते-होते प्रथम तो वे (क्रमशः) द् और ध् हुए, फिर क्रमशः द् का लोप हो गया और ध् के स्थान में ह् का प्रयोग होने लगा—ऐसी स्वीकृति समयसार (कुंदकुंद भारती) सम्पादक द्वारा लिखित प्राक्कथन (मुन्नुडि) में है और उन्होंने समयसार में थ् के ध् और ह् मे परिवर्तित दोनों रूपों के मिलने की पुष्टि भी गाथा 98 और 236 के द्वारा की है। पर, वे द् के लोप की स्वीकृति के बाद उसके लोप की पुष्टि में उदाहरण देने से चूक गए। जबकि समयसार तथा प्राकृत के दि. आगमों में द् लोप और अलोप दोनों भांति के शब्दों (रूपों) की बहुलता है। फलतः—उन्होंने होदि से होइ रूप में परिवर्तित (द् के लोप जैसे) रूपों का कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। शायद इसमें कारण यही हो कि उन्हें भाषा-विकास काल में द् का लोप स्वीकार करने पर भी "दस्तस्य शौरसेन्यामखावचोऽस्तोः" जैसे शौरसेनी के नियम में बँधे हैं। फलत. उन्हें इस बात का भी ध्यान न आया कि वे (डा. ए. एन. उपाध्ये और डा. हीरालाल जैन की भांति) यह भी स्वीकार कर बैठे हैं कि "जैन शौरसेनी में महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अनेक शब्द मिलते हैं"—(मुन्नुडि पृ. 9) उक्त संपादक अपने को प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक और क्रमबद्ध विकास के ज्ञाता भी मानते हैं। (जैन प्रचारक नवम्बर 88)

जो सम्पादक महोदय कुन्दकुन्द के समय की सिद्धि में डा. ए. एन.

उपाध्ये के कथन को प्रमाण मान रहे हैं वे ही जैन-शौरसेनी के रूप के सम्बन्ध में (अपनी प्रवृत्ति से) उन्हें झुठला रहे हैं—उनके कथन की अवहेलना कर रहे हैं। उपाध्ये का स्पष्ट कथन है—"In his observation on the Digamber texts Dr. Deneke Discusses various paint above some Digamber prakrit works, He remarks that the Language of there works is influened by Ardhamagadhi, Jain Maharashtri which approaches it and Shaurseni. —Dr. A. N. Upadhye. (Introduction Pravachansar P. 116)

उक्त कथन के अनुसार दि. आगमों में होइ, होदि, हवदि, हवइ जैसे सभी शब्द रूप मिलते हैं और लोए लोगे आदि भी मिलते हैं तब उनमें एक शुद्ध शब्द को बदलकर दूसरा शब्द रखने की क्या आवश्यकता थी? क्या इससे भाषा की व्यापकता नष्ट नहीं होती?

हाल ही में आ. श्री विद्यानन्द जी के सम्प्रेरकत्व में उदयपुर से प्रकाशित **'शौरसेनी प्राकृत व्याकरण'** जो कुंदकुंद भारती दिल्ली से भी प्राप्य है, में लिखा है—

"प्राकृत शब्द का अर्थ है—लोगों का **व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार**। उस वचन व्यापार से उत्पन्न अथवा वही वचन-प्रयोग ही प्राकृत भाषा है। इस लोक प्रचलित प्राकृत-भाषा को भगवान महावीर और बुद्ध जैसे क्रान्तिकारी महापुरुषों ने अपने विचारों के सम्प्रेषण की भाषा स्वीकार की थी।" ...."आज कोई भी ऐसी प्राकृत नहीं है, जिसमें अपनी समकालीन अन्य प्राकृतों का मिश्रण न हुआ हो...।"

इसमें यह भी लिखा है—'......और न ही शौरसेनी के सिद्धान्त ग्रन्थों अथवा नाटकों की शौरसेनी की भाषा के सम्पादन कार्य में मनमाने पाठ देने चाहिए। सम्पादनकार्य की जो पद्धति है एवं प्राचीन पाण्डुलिपियों में जो पाठ स्वीकृत हैं, उपलब्ध हैं। उनके अनुसार ही इन ग्रन्थों का सम्पादन होना चाहिए; सिद्धान्त मोह या सम्पादन मोह के कारण नहीं।"—हमारी दृष्टि से तो समयसारादि के शुद्धिकर्ता (?) उक्त व्याकरण ग्रन्थ को

अवश्य ही प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक और क्रमबद्ध ज्ञाताओं द्वारा लिखा गया मानते होंगे? ग्रन्थ को मुनिश्री का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त है।

उक्त स्थिति में भी यदि जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है और उसे व्याकरण-सम्मत बनाने का प्रयास किया जा रहा है, तब संशोधित-समयसार की गाथाओं और उक्त व्याकरण पुस्तक में उद्धृत पाठों में शब्दरूप-भेद क्यों? अब तो बदलाव की उपस्थिति में यह नया सन्देह भी हो रहा है कि उक्त व्याकरण-पुस्तक में दिये गए समयसार के पाठ ठीक है या कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित (संशोधित) समयसार के पाठ? यदि दोनों ही ठीक हैं तो बदलाव क्यों? क्या व्याकरण पुस्तक गलत है?

पाठकों की जानकारी के लिए दोनों ग्रन्थों के कुछ रूप नीचे दिए हैं:—

व्याकरण का पृष्ठ	समयसार का गाथा क्रम	उक्त व्याकरण में उद्धृत समयसार का शब्द रूप	समयसार (कुंदकुंद भारती) में शब्द रूप
55	27	इक्को	एक्को
61	5	चुक्किज्ज	चुक्केज्ज
34	34	मुणेयव्वं	मुणेदव्वं
4	82	एएण	एदेण
63	92	करिंतो	करंतो
61	99	करिज्ज	करेज्ज
63	154	हेउं	हेदुं
64	187	रुंधिऊण	रुंधिदूण
49	207	भणिज्ज	भणेज्ज
1	269	लोय-अलोयं	लोग-अलोगं
65	296	घित्तव्वो	घेत्तव्वो
1	302	कुणइ	कुणदि
1	304	होइ	होदि

55	315	विमुंचए	विमुंचदे
4	273	सुणिऊण	सुणिदूण
66	375-381	विणिग्गहिउं	विजिग्गहिदुं
64	406	सक्कइ	सक्कदि
64	406	घित्तुं	घेत्तुं
62	415	ठाही	ठाहिदि
2	415	होही	होहिदि

इसके सिवाय इस व्याकरण में एक-एक शब्द के अनेक रूप भी मिलते हैं, जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। तथाहि—

पृष्ठ 14	लोओ,लोगो। पृ. 36 लोअ।
पृष्ठ 88,90	लोए
पृष्ठ 25, 91, 88	पुग्गल। पृ.36 पोग्गल।
पृष्ठ 77	हवदि, हवेदि, हवइ, होदि। पृ. 83, 90 होइ।
पृष्ठ 77	ठादि, ठाइ, ठवदि, ठवेदि।
पृष्ठ 60, 76	भणदु, भणउ।
पृष्ठ 55	भणदि, भणइ, भणेदि, भणेइ।
पृष्ठ 63	गदो, गओ, गयो।
पृष्ठ 63	जादो, जाओ, जायो।
पृष्ठ 64	भणिऊण, भणिदूण।
पृष्ठ 93	जाण।

खेद तो तब होता है जब मीरा, तुलसी, सूर, कबीर जैसों की जन-भाषा में निबद्ध रचनाओं को सभी लोग मान देने—उनके मूल रूपों को संरक्षण देने में लगे हों, तब कुछ लोग हमारे महान् आचार्यों—कुन्दकुन्दादि द्वारा प्रयुक्त आगमों की व्यकरणातीत जन-भाषा को परवर्ती व्याकरण में बाँध आगम को विकृत, मलिन और संकुचित करने में लगे हों। गोया प्रकारान्तर से वे भाषा को एकरूपता देने के बहाने—यह सिद्ध करना चाहते हों कि दीर्घकाल से चले

आए भगवान महावीर व गणधर द्वारा उपदिष्ट और पूर्वाचार्यों द्वारा व्याकरणातीत जनभाषा में निबद्ध धवला आदि जैसे आगम भी भाषा की दृष्टि से अशुद्ध रहे हैं और उन्हें शुद्ध करने के लिए शायद किन्हीं नए गुणधर, कुंदकुंद, यतिवृषभ और वीरसेन जैसों ने अवतार ले लिया हो। जबकि जैनधर्म में 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' रूप अवतार सर्वथा निषिद्ध है। और जब जैन शौरसेनी का रूप जन-भाषा के रूप में पूर्व निर्णीत है–

"The Prakrit of the Sutras, The Gathas as well as of the commentary, is shaurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and this is exactly the nature of the language called 'Jain Shaurseni." –Dr. Heeralal

(Intrroduction to षट्खंडागम P IV)

हमारा अंतरंग कह रहा है कि स्वर्गों में बैठे हमारे दिवंगत दिगम्बराचार्य उनकी व्याकरणातीत जनभाषा मे किए गए परिवर्तनों को बड़े ध्यानपूर्वक देख रहे है और उन्हें सन्तोष है कि कोई उनकी ध्वनि-प्रतिकृतियों के सही रूप को बड़ी निष्ठा और लगन से निहार, उनकी सुरक्षा में प्राण-प्रण से संलग्न हैं। भला, यह भी कहाँ तक उचित है कि शब्द-रूपों की बदल में दिगम्बर-आगम-वचन तो गणधर और आचार्यो द्वारा परम्परित वाणी कहलाए जाते रहे और बदलाव-रहित दिगम्बरेतर आगमों के तद्रूप-वचन बाद के उद्भूत कहलाएँ? हमें भाषा की दृष्टि से इस बिन्दु को भी आगे लाकर विचारना होगा। भविष्य में ऐसा न हो कि कभी दिगम्बरत्व समाज को इस बदलाव का खामियाजा किसी बड़ी हानि के रूप में भुगतना पड़ जाय? ऐसा खामियाजा क्या हो सकता है, यह श्रद्धालुओं को विचारना है–

वैज्ञानिक पद्धति के हामी कुछ प्राकृतज्ञ तो सही बात कहकर भी किन्हीं मजबूरियों में विवश जैसे दिखते हैं। और वे आर्ष-भाषा से उत्पन्न उस व्याकरण के आधार पर विद्वान् बने हैं, जो बहुत बाद का है। और

शौरसेनी आदि जैसे नामकरण आदि भी बहुत बाद (व्याकरण निर्माण के समय) की उपज हैं। क्योंकि जन-भाषा तो सदा ही सर्वांगीण रही है। जो प्राकृत में डिगरीधारी नहीं हैं और प्राकृत-भाषा के आगमों का चिरकाल से मन्थन करते रहे हैं—उन्हें भी इसे सोचना चाहिए—हमें अपनी कोई जिद नहीं। जैसा समझे लिख दिया—विचार देने का हमें अधिकार है। और आगम-रक्षा धर्म भी। हमारी समझ से बदलाव के लिए जो व्यय अभी रहा होगा; वह अत्यल्प होगा—उसका पूरा मूल्य तो भाषा-दृष्टि से आगम के अप्रामाणिक सिद्ध होने पर ही चुकता हो सकेगा।

—पंडित प्रवर टोडरमल जी सा. प्रतिष्ठित ज्ञाता थे—उनके 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की पूर्ण ख्याति है। सम्पादक महोदय ने भी आचार्य कुन्दकुन्द की विदेहगमन चर्चा के प्रसंग में उन्हें प्रामाणिक मानकर ही उनके मत का उल्लेख किया होगा। इन्हीं पं. टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में दिगम्बर प्राकृत आगमों के गाथाओं के उद्धरण दिए हैं और उनमें [illegible], जाइ, अक्खेइ, थुणिऊण, हवइ, भणिऊण, भणइ और देइ जैसे दकारलोपी और लोओ जैसे ककार (गकार) लोपी शब्द मिलते हैं। क्या ये शब्दरूप, आगम में अप्रमाण हैं जो इनको बदला जाय? इसी मोक्षमार्ग प्रकाशन में 'इक्कं' शब्द का भी उद्धरण मिलता है। ऐसे में भी यदि लोग दिगम्बरत्व मूल आगमों की भाषा को बदल गई हुई मानते हैं; तो वे स्वयं ही सिद्ध करते है कि उपलब्ध आगम परम्परित-आगम-वाणी नहीं है, अपितु बदली वाणी है, और बदली होने से उसकी प्रामाणिकता में सन्देह है। क्या दिगम्बरों को ऐसा स्वीकार है? हमारा कहना तो यही है कि हमारे आगमों में व्याकरण की अपेक्षा किए बिना, जहाँ जो शब्दरूप मिलते हैं—भाषा की व्यापकता होने और अर्थभेद न होने से भी प्रतियों में वे ठीक हैं। क्योंकि बाद में निर्मित हुए व्याकरण की उनमें गति नहीं। जबकि हमारे आगमों की भाषा (व्याकरणादि के संस्कारों से रहित) भगवान् महावीर आदि की वाणी का स्वाभाविक वचन व्यापार है।

उक्त स्थिति के परिप्रेक्ष्य में हमें सावधान रहने की जरूरत है। कहीं ऐसा न हो कि जिनवाणी भीड़ में खो जाए और उसका क्रन्दन भी जयकारों की ध्वनि में सुनाई ही न पड़े। क्योंकि हमें भीड़ और जयकारे ही सबसे खतरनाक लगे जो धर्म को लुटवा रहे हैं—आत्म-चिन्तन में बाधक हो रहे हैं। आशा है सोचेंगे तथा विद्वान् इस बदलाव को रुकवाएंगे।

❑

आगमों के सम्पादन की 'घोषित-विधि' सर्वथा घातक है

'प्राकृत-विद्या' जून 1994 में प्रकाशित आगम-सम्पादन की निम्न विधि को पढ़कर हमें बड़ी वेदना हुई कि-**"उन्होंने-संपादक ने) अनेक ताड़पत्रीय, हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने सम्पादन के कुछ सूत्र निर्धारित किए और उन सूत्रों के अनुसार प्रचलित परम्परा की लीक से कुछ हट कर छात्रोपयोगी सम्पादन किया।"**

उक्त घोषणा से निःसन्देह विश्वमान्य सम्पादन-विधि के विपरीत-एक आत्मघाती, ऐसी परम्परा का सूत्रपात हुआ जिससे परम्परित प्राचीन मूलआगमो की असुरक्षा (लोप) का मार्ग खुल गया। क्योंकि ऐसे और व्यक्ति भी हो सकते हैं जो जब चाहे मनमानी किसी भी अन्य भाषा का सूत्र-रूप मे निर्धारण कर परम्परा की लीक से हटकर संपादन कर लें। ऐसे मे आगमों का मूल अस्तित्व सन्देह के घेरे में पड़ जायगा और किसी अन्य की कृति को बदलने का हर किसी को अधिकार हो जायेगा और ऐसा करना सर्वथा अन्याय ही होगा।

वस्तुतः आगमों की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में अभी तक किसी एक भाषा का निर्धारण या अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है और न निकट भविष्य में इसकी संभावना ही है। भाषा के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों के विभिन्न सन्देहास्पद मत ही रहे हैं।

उक्त अंक में ही प्राचीन परम्परित प्राकृत आगमों में व्याकरण का प्रयोग सिद्ध करने के लिए अनेक व्यर्थ के उद्धरण भी दिए गए हैं और वे भी परम्परा से हट कर। आखिर, गाड़ी लीक से उतर जाय तो दुर्घटना क्यों न हो? हमने इस लेख में उन लीक से हटे उद्धरणों को निरस्त करने के लिए आगम के प्रमाणों एवं युक्तियों का उपयोग किया है ताकि आगम श्रद्धालु वस्तुस्थिति को समझ सकें। तथाहि–

1. 'वागरण' का प्रसंग गत अर्थ : व्याख्या

आगम में कई प्रकार के सूत्र बतलाए गए हैं, जैसे–

1. 'सूचना सूत्र 2. पृच्छा सूत्र 3. वागरण सूत्र आदि।'

इनकी परिभाषा के सम्बन्ध में पं० कैलाशचन्द शास्त्री ने अपने 'जैन साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ प्रथम भाग के पृष्ठ 33 पर इस भाँति लिखा है–

सूचना सूत्र–'जिस गाथा द्वारा किसी विषय की सूचना दी गई हो उसे सूचना सूत्र कहते हैं।' जैसे–''केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च'' आदि–कसायपाहुड की 67वीं गाथा।

पृच्छा सूत्र– 'जिन गाथाओं में किसी विषय की पृच्छा की गई हो, कोई बात पूछी गई हो वे गाथाएं पुच्छा सूत्र कही गई हैं।' जैसे–'केवचिरं' उवजोगी कम्मिकसायम्मि' आदि कसायपाहुड की गाथा 63।

वागरण सूत्र–'जिसके द्वारा किसी विषय का व्याख्यान किया जाता है उसे वागरण यानी व्याख्या सूत्र कहते हैं। जैसे 'सव्वेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदओ' आदि कसाय पाहुड की 219वीं गाथा का उत्तरार्ध।

लेख में संशोधकों की ओर से उक्त गाथा के 'सब्बेसु चाणुभागेसु संकमो मज्झिमो उदयो त्ति एदं सव्वं **वागरण सुत्तं'** इत्यादि टीका गत भाग को शब्दशास्त्र सम्बन्धी व्याकरण सूत्र (ग्रामर) बतलाने का असाध्य प्रयास किया गया है, जबकि प्रसंग में **यह व्याख्या सूत्र है–ग्रामर जैसा कुछ नहीं है।**

संशोधकों की दृष्टि में यदि उक्त उद्धरण शब्द शास्त्र (ग्रामर) सम्बधी सूत्र है तो क्या कोई सम्मानित व पुरस्कृत बड़े से बड़े ज्ञाता यह बताने में समर्थ हैं कि यह सूत्र और सैनी आदि प्राकृतों में से किस प्राकृत के लिए निर्धारित है और इसका क्या प्रयोजन है तथा यह किस शब्द रूप की सिद्धि में उपयोगी है और कौन से आदेश, आगम या प्रत्यय आदि का विधान करता है और इसका क्या शब्दार्थ है? आगमों और आचार्यो के मत में तो उक्त प्रसंग में आया 'वागरण' शब्द व्याख्या के अर्थ में लिया गया है–व्याकरण सूत्र (ग्रामर) जैसे अर्थ में नहीं।

गाथा की उक्त पंक्ति 'कसाय पाहुड सुत्त' की है। और कसाय पाहुड भाग 16 पृ. 57 पर **'वागरण'** सूत्र के विषय में स्पष्ट लिखा है–

''एदं णज्जदि' एवमुक्ते एतत्परिज्ञायते किमिति वागरण सुत्तं ति, व्याख्यान सूत्रमिति, व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरणं **प्रतिवचनमित्यर्थः**। अर्थात् ऐसा कहने पर यह जाना जाता है कि यह व्याकरण (ग्रामर) सूत्र है या व्याख्यान सूत्र है? जिसके द्वारा व्याक्रियते अर्थात् विशेष रूप से–पूरी तरह से मीमांसा की जाती है उसे व्याकरण (**वागरण**) सूत्र कहते हैं, उसका अर्थ होता है–**प्रतिवचन**।''

उक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि यहां **वागरण का अर्थ शब्दशास्त्र संबंधी व्याकरण (ग्रामर) नहीं है,** अपितु व्याख्या है। खेद है, फिर भी अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए मूलाचार्यों की व्याख्या को भी बदलने का अनुचित कार्य किया गया। मूलभाषा तो इन्होंने बदल ही दी।

2. **'वड्ढउ. वायगवंसो जसवंसो अज्जणायहत्थीणं।
वागरण करणभंगिय-कम्मपयडी पहाणाणं।।**

–उक्त गाथा श्वेताम्बर ग्रंथ नन्दीसूत्र की है जिसे संशोधकों ने व्याकरण की सिद्धि में दिया है। इसमें वाचकवंश के ख्यात आचार्य नागहस्ती की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उनकी यश कामना की गई है। यहाँ भी **वागरण** का अर्थ, (आचार्य के वाचक होने से) शब्द शास्त्र सम्बन्धी व्याकरण न ग्रहण कर प्रश्न-व्याकरण नाम दशवें अंग के व्याख्याता (वाचक) के रूप में ग्रहण किया है।

गाथा के अर्थ के लिए नन्दी सूत्र की व्याख्या दृष्टव्य है। तथाहि–**'वागरण=प्रश्न व्याकरणं**, करण=पिण्डविशुध्यादि, भंगिय=चतुर्भंगिकाद्या, कम्मपयडि=कर्मप्रकृति प्रतीता एतेषु **प्ररूपणामधिकृत्य** प्रधानानामिति गाथार्थः।' पृ. 12

'वागरण' का एक अर्थ 'सद्दपाहुड' भी अंकित है। कोश में 'सद्द' का अर्थ ध्वनि और 'पाहुड' का अर्थ उपहार किया गया है। दोनों ही भाँति वागरण का प्रसंगगत अर्थ शब्दरूपी उपहार देने वाला–व्याख्याता ही ठहरता है और यही नागहस्ती में उपयुक्त भी है।

प्रश्न व्याकरण (दशम अंग) के वर्ण्य विषय मे कहा गया है कि "अंगुष्ठादि प्रश्न विद्यास्ता व्याक्रियन्ते अभिधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रश्न व्याकरणं" **"पण्हो त्ति पुच्छा, पडिवयणं वागरणं प्रत्युत्तरमित्यर्थः"**–पृ. 12

इसके अतिरिक्त 'सन्मति तर्क प्रकरण' में वागरण से व्युत्पन्न शब्द **'वागरणी'** आया है। विद्वानों ने मूल-वागरणी को निम्न अर्थो में लिया है–

(क) श्री अभयदेव सूरि=आद्यवक्ता ज्ञाता वा।
(ख) श्री सुखलाल जी=मूल प्रतिपादक।
(ग) श्री वेचरदास जी= „ „।
(घ) डा. देवेन्द्र कुमार=मूल व्याख्याता।
(च) क्षु. सिद्धसागर जी=मूल विवेचन करने वाला।
(छ) षट् खंडागम[1]=मूल व्याख्याता।
(ज) कसाय पाहुड (मथुरा)=व्याख्यान करने वाला।
(झ) लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञ)='तीर्थकर वचन संग्रह–विशेष प्रस्ताव मूल-व्याकरिणौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यो।'

संशोधको ने उक्त लेख में ही कसायपाहुड सुत्त (कलकत्ता) की हिन्दी प्रस्तावना पृ. 9 से जो यह उद्धृत किया है कि–**'जो संस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के वेत्ता हैं।'** वह अर्थ भी नन्दी सूत्र की उक्त गाथा से फलित नहीं होता। क्योंकि गाथा में संस्कृत व प्राकृत का कहीं उल्लेख

टिप्पण (1) 'तित्थयरवयणसंगह विसेस पत्थार मूलवागरणी'

नहीं और न ही उक्त गाथा की व्याख्या में कहीं ऐसा कहा गया है अतः— मात्र हिन्दी देख कर ऐसा लिखना प्राकृतज्ञों की शोभा नहीं देता। और न उक्त हिन्दी मात्र को देख कर उनका यह लिखना ही संगत है कि— "आचार्य नागहस्ती संस्कृत प्राकृत व्याकरणों के वेत्ता थे, तो यह निश्चित्त और असंदिग्ध तथ्य है कि उस समय इन भाषाओं के व्याकरण के ग्रन्थ भी विद्यमान थे।"

उक्त स्थिति में ज्ञाता स्वयं विचारें कि 'वागरण' के प्रसंगगत 'व्याख्या' अर्थ को तिलांजलि देकर उसे ग्रामर जैसे अर्थ में प्रसिद्ध करना कैसे उचित है? और प्रासंगिक आगम-व्याख्याओं में भी बदल करना कौन सी, कितनी बड़ी स्वच्छ प्रक्रिया है? क्या, आगमों के अस्थिर होने से जैन स्थिर रह सकेगा या परिवर्तन करने वालों का नाम अजर अमर रह सकेगा? सोचने और चिन्ता का विषय है।

3-4 आचार्य जयसेन की दुहाई :

हमें हँसी आती है उस परिकर पर, जहाँ से आचार्य जयसेन की टीकागत गाथा 27, 36, 37, 73, 199 के **'इक्क'** गाथा 17, 35, 373 के **'ऊण'** प्रत्ययान्त शब्द गाथा 5 के **चुक्किज्ज**। गाथा 33 के **'हविज्ज**। गाथा 300 के **'भणिज्ज'**। गाथा 44, 68, 103, 240 के **'कह'**। और अण्णाणमोहिदमदी, सब्बण्हुणाणदिट्ठो, जदि सोपुग्गल दव्वीभूदो, गाथाओं के **'पुग्गल'** शब्द आगम भाषा से बहिष्कृत किए गए हों वहीं से अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए अब आचार्य जयसेन की व्याकरण पंक्तियों की दुहाई दें, उन्हें वैयाकरण स्वीकार किया जाय? क्या, आचार्यश्री तब व्याकरणज्ञ नहीं दिखे जब उनके द्वारा स्वीकृत उक्त शब्द रूपों का बहिष्कार किया गया। और आगम भाषा को भ्रष्ट बताकर लगातार कई आगम बदल दिए गए।

हम स्पष्ट कर दें कि 'आचार्य श्री जयसेन ने व्याकरण सम्बन्धी जो भी पंक्तियाँ दी हैं वे प्राकृत से अनभिज्ञ संस्कृतपाठियों को दृष्टिगत कर दी हैं।

संस्कृत के नियम प्राकृत भाषा में लागू नहीं हैं। आचार्य ने प्राकृत शोधन में कहीं भी पश्चाद्वर्ती व्याकरण की अपेक्षा नहीं की और न ही कोई व्याकरण प्राकृत भाषा में बना है। जितने भी व्याकरण हैं वे संस्कृत भाषा के शब्दों के आधार पर बाद में बने हैं। प्राकृत भाषा तो स्वाभाविक भाषा है जो 'बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां' सभी के लिए सरल ग्राह्य है।

5. डा. नेमीचंद का मत अस्थिर :

संशोधकों के मत में यदि डा. नेमिचंद ने आगमों की भाषा को शौरसेनी लिख दिया है तो उन्हें कहीं यह भी तो लिख दिया है कि--"प्राचीन गाथाओं की भाषा शौरसेनी होते हुए भी महाराष्ट्रीपन से युक्त है। भाषा की दृष्टि से गाथाओं में एकरूपता नहीं है। अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्रभाव इन पर देखा जा सकता है।" प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'। पृष्ठ 217।

इसी में पृ. 17, 18 पर डा. नेमीचन्द ने यह भी लिखा है कि "प्राकृत भाषा में ईसवी सन् की दूसरी शती तक उप-भाषाओं के भेद भी प्रकट नहीं हुए थे। सामान्यतः प्राकृत भाषा एक ही रूप में व्यवहृत हो रही थी। इस काल में वैयाकरणों ने व्याकरण-निबद्ध कर इसे परिनिष्ठित रूप देने की योजना की।" स्मरण रहे, कि उक्तकाल आचार्य कुन्दकुन्द के बाद का है।

यदि उक्त डा. साहब का निश्चित मत होता कि दि. आगमों की भाषा शौरसेनी है तब न तो वे भाषा में उपभेदों की उत्पत्ति दूसरी शताब्दी से बताते और न ही तब तक के काल में प्राकृत भाषा के एक (अभेद) रूप में व्यवहृत होने की बात करते। इतना ही नहीं, उन्होंने तो शौरसेनी के 'त्' को 'द्' में परिवर्तित होने जैसे मुख्य नियम की भी उपेक्षा कर 'आगमों में (शौरसेनी भाषाहीन) अन्य भाषाओं के शब्द रूप भी स्वीकार किए हैं। जैसे--**गइ, रहियं, वीयराय, सव्वगय, सुयकेवलि, सम्माइट्ठी, मिच्छाइट्ठी** आदि। वही, पृष्ठ 45-46।

डॉ नेमीचन्द जी के अनुरूप उनके गुरुदेव डा. हीरालाल जी का भी यही मत था कि आगमों की भाषा मिली-जुली प्राकृत है। प्राकृत भाषा के धुरन्धर

विद्वान् डा. उपाध्ये भी इसे स्वीकार करते हैं।—देखें, हमारे पूर्व लेख अनेकान्त मार्च 94।

जैन आगमों के महान वेत्ता पं. कैलाश चन्द शास्त्री के मत में–'द्वादशांग श्रुत की भाषा अर्धमागधी थी। किन्तु उनका लोप होने पर भी महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाएँ, जो प्राकृत के ही भेद हैं, जैन आगमिक-साहित्य की रचना का माध्यम रहीं।'

—जैन साहित्य का इतिहास भाग 1, पृष्ठ 3।

हम इस प्रसंग में डा. मोहनलाल मेहता द्वारा 'श्रमण' जून 94 में प्रकाशित लेख के कुछ उन अंशों को उद्धृत करना भी उपयुक्त समझते हैं, जिनसे परम्परित प्राचीन आगमों की भाषा की विविधता और सम्पादन सम्बन्धी विश्वमान्य-विधि जैसी हमारी मान्यता की पुष्टि होती है। तथाहि–

1. 'प्राकृत का मूल-आधार क्षेत्रीय बोलियाँ होने से उसके एक ही काल में विभिन्न रूप रहे हैं। प्राकृत व्याकरण में जो 'बहुल' शब्द है वह स्वयं इस बात का सूचक है कि चाहे शब्द रूप हो, चाहे धातु रूप हो, या उपसर्ग आदि हो उनकी बहुविधता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।' पृ. 247।
2. 'यदि मूलपाठ मे किसी प्रकार का परिवर्तन किया भी जाता है। तो भी इतना तो अवश्य ही करणीय होगा कि पाठान्तरों के रूप में अन्य उपलब्ध शब्द रूपों को भी अनिवार्य रूप से रखा जाय। साथ ही भाषिक रूपों को परिवर्तन करने के लिए जो प्रति आधार रूप में मान्य की गई हो उसकी मूल प्रति छाया को भी प्रकाशित किया जाय क्योंकि छेड़-छाड़ के इस क्रम में साम्प्रदायिक आग्रह कार्य करेंगे, उससे ग्रन्थ की मौलिकता को पर्याप्त धक्का लग सकता है।' पृ. 248।
3. 'आगम सम्पादन और पाठ शुद्धिकरण के उपक्रम में दिए जाने वाले मूल पाठ को शुद्ध एवं प्राचीन रूप में दिया जाय, किन्तु पाद टिप्पणियों में सम्पूर्ण पाठान्तरों का संग्रह किया जाए। इसका लाभ यह होगा कि कालान्तर में यदि कोई संशोधन कार्य करें तो उसमें सुविधा हो।'' पृष्ठ 253। स्मरण रहे कि इन्होंने हमारे बारम्बार लिखने

पर भी टिप्पण नहीं दिए।

हमें आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति में भी कुछ लोग भ. ऋषभदेव के व्याकरण तक की बात उछालते हैं। हालांकि वे आचार्य कुन्दकुन्द तक का भी कोई प्राकृत-व्याकरण नहीं खोज सके। फिर यह भी प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि उनके व्याकरण यदि थे तो क्या वे प्राकृत भाषा के ही थे और क्या उनमें यह भी लिखा था कि दि. आगमों की भाषा शौरसेनी है? हमें तो विश्वास नहीं होता कि ऐसा हो।

अन्त में हम निवेदन कर दें कि इतने गम्भीर महत्त्वपूर्ण विषय पर– जिसमें विभिन्न विद्वानों के अब तक विभिन्न मत रहे हैं, आगमों के बारे में अल्पावधिक **चंद गोष्ठियाँ और पश्चाद्वर्ती विद्वान् किसी निर्णय करने के अधिकारी नहीं हैं।** हमारी परम्परित प्राचीन आगम भाषा-भ्रष्ट नहीं है जैसा कि उस पर लांछन लगाया गया है। परम्परित आगम हमें सर्वथा प्रामाणिक हैं। उन्हें संशोधन के नाम पर अनिर्णीत किसी एक भाषा में बदल देना आगमों की अवहेलना है। इस सम्बन्ध में हम पर्याप्त प्रमाण दे चुके हैं और 'वागरण' आपके समक्ष है। कृपया स्वच्छ मन से चिन्तन करें, इसी से आगम की रक्षा हो सकेगी।

एक बात और। हम संशोधकों की सभी मान्यताओं का विधिवत् निराकरण 'अनेकान्त' मार्च 1994 के अपने लेख में कर चुके हैं। उस ओर ध्यान नहीं दिया गया। अच्छा हो कि ये शौरसेनी की धुन छोड़ परम्परित दि. आगमों को पर-कालवर्ती सिद्ध करने जैसे (अन्जान) असफल प्रयास से विराम लें, ऐसी हमारी प्रार्थना है। वरना, ऐसा न हो कि इस भूल का खामियाजा भविष्य में समाज को भोगना पड़े। पिछली भूल का परिणाम शिखर जी का विवाद तो सामने है ही। आखिर, जब त्याग और ज्ञान ये दोनों संग्रह के पर्यायवाची बन गए हों और मिल बैठें तब सभी कुछ होना संभव है इसमें कोई सन्देह नहीं।

❑

आर्ष-भाषा को खण्डित न किया जाय

सर्व विदित है कि वेदों की भाषा आर्ष-भाषा है और उसमें संस्कृत व्याकरण के प्रचलित नियम लागू नहीं होते। पाणिनीय जैसे वैयाकरण को भी वेदों के मूल शब्दों की सिद्धि के लिए वेद-भाषा के अनुसार ही पृथक् से स्वर-वैदिकी प्रक्रियाओं की रचना करनी पड़ी और यास्काचार्य को वेद-विहित शब्दों की सिद्धि और अर्थ समझाने के लिए अलग से तदनुरूप निरुक्त (निघण्टु) रचना पड़ा।

वेदों की भांति दिगम्बर प्राचीन आगम भी आर्ष हैं और उनकी रचना व्याकरण से शताब्दियों पूर्व हुई है—उनमें पर-वर्ती व्याकरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। आर्ष में प्राकृत भाषा सम्बन्धी अनेक रूप पाए जाना भी इसकी साक्षी हैं और दिगम्बरों की आर्ष-भाषा का नाम ही जैन शौरसेनी है।

प्राकृत व्याकरण के रचयिता आचार्य हैमचन्द्र जी 12वीं शताब्दी के महान् प्रमाणिक विद्वान् थे और आर्ष का निर्माण उनसे शताब्दियों पूर्व हो चुका था और हेमचन्द्रादि ने उपलब्ध रचनाओं के आधार पर बहुत बाद में व्याकरण की रचना की। हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' में दो सूत्र दिए हैं—'आर्षम्' और 'बहुलम्'। उनका आशाय है कि आर्ष प्राकृत भाषा के सभी रूप 'बहुलम्' सूत्र के अनुसार पाए जाते हैं और बहुलम् का अर्थ—'क्वचित्प्रवृत्ति, क्वचिदप्रवृत्ति, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव।'—कहीं नियम लागू होता है कहीं लागू नहीं होता, कहीं अन्य का अन्य-रूप होता है।

स्व. डा. नेमिचन्द्र, आरा ने प्राकृत को दो विभागों में विभक्त किया गया माना है। वे लिखते हैं—

'हैम ने प्राकृत और आर्ष-प्राकृत ये दो भेद प्राकृत के किए हैं। जो प्राकृत अधिक प्राचीन है उसे 'आर्ष' कहा गया है।'

—आ. हैम. प्राकृत शब्दानु. पृ. 134

इसके सिवाय त्रिविक्रम द्वारा रचित प्राकृत 'शब्दानुशासन' के Introduction में पृ. 32 पर लिखा है—"Trivikram also makes reference to ARSHA. But he says that ARSHA and DESYA are rudha (रूढ़) forms of the language, they are quite independent; and hence, do not stand in need of grammar." इसी में पृ. 18 पर लिखा है—'The sutra' 'बहुलम्' occurrings in both Trivikram and Hemchandra, which means 'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव, And Hemchandra's statement 'आर्षे तु सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।'—आगम में सभी विधियां विकल्प्य हैं।

उक्त स्थिति में जब कि आचार्य हैमचन्द्र के 'बहुलम्' और 'आर्षम्' सूत्र हमारे समक्ष हों और हमें बोध दे रहे हों कि—आर्ष-आगमग्रन्थ सदा व्याकरण निरपेक्ष हैं प्राकृत व्याकरण के नियम अन्यत्र ग्रन्थों में भी क्वचित् प्रवृत्त व क्वचित् अप्रवृत्त होते हैं तथा क्वचित् शब्दरूप अन्य के अन्य ही होते हैं। इस बात को स्पष्ट समझ लिया जाय कि आगम आर्ष है और आर्ष-भाषा बन्धनमुक्त है। और जैन शौरसेनी का यही रूप है। दि. आगमों की भाषा यही है इसमें किसी एक जातीय प्राकृत व्याकरण से सिद्ध शब्द नहीं होते जब कि शौरसेनी इससे सर्वथा भिन्न और बन्धनयुक्त है। ऐसी दशा में आर्ष को व्याकरण की दुहाई देकर उसे किसी एक जातीय व्याकरण में बांधने का प्रयत्न करना या निम्न सन्देश देना कहाँ तक उपयुक्त है? इसे पाठक विचारें।

'"उपलब्ध सभी मुद्रित प्रतियों का हमने भाषा शास्त्र, प्राकृत व्याकरण और छन्द शास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म अवलोकन किया है। हमें ऐसा लगा कि उन प्रतियों में परस्पर में तो अन्तर है ही, भाषा शास्त्र आदि की दृष्टि से भी त्रुटियों की बहुलता है। अधिकांश कमियाँ जैन शौरसेनी भाषा के

रूप को न समझने का परिणाम है। प्राकृत व्याकरण और छन्द शास्त्र के नियमों का ध्यान रखने के कारण भी अनेक भूलें हुई जान पड़ती हैं।'

—मुन्नुडि. पृ. 12 (समयसार कुंदकुंद भारती प्रकाशन)

यदि उक्त संस्करण के प्रकाशकों, संयोजकों का आर्ष-भाषा और कथित जैन-शौरसेनी के स्वरूप पर तनिक भी लक्ष्य रहा होता तो वे न तो उक्त बात लिखते और न ही समयसार के वर्तमानकालिक क्रिया-रूपों और अन्य शब्दरूपों में परिवर्तन कर उन्हें मात्र शौरसेनी के रूप बना देते। संयोजकों का यह कैसा भयानक साहस है कि उन्होंने पूरे ग्रन्थ में कहीं भी होई, हवइ, हवेइ का नाम निशान नहीं छोड़ा—जब कि पूरे जैन आगमों में उक्त रूप बहुतायत से पाए जाते हैं। क्या संयोजकों को इष्ट है कि धवला आदि से भी उक्त रूपों का बहिष्कार करके उनके स्थान पर संयोजकों द्वारा निर्धारित होदि, हवदि, हवदि कर दिए जाय और पूरे आगमों को अशुद्ध मान कर बदला जाय? णमोकार मंत्र-माहात्म्य को ही लीजिए। क्या उसमें भी 'होइ या हवइ मंगलं' की जगह 'होदि या हवदि मंगल' कर दिया जाय? लोए को लोगे कर णमोकार मंत्र के बदलने का मार्ग तो वे खोल ही चुके हैं। क्या, श्रद्धालु चाहते हैं कि—जो अब 'णमो लोए सव्वसाहूणं' है वह 'णमो लोगे सव्वसाहूणं' हो जाय—मूल मंत्र बदल जाए? यह तो मूल का घात ही होगा। हम पूछते हैं कि क्या समयसार की गाथा 3 और 323 में 'लोए' गलत था जो उसे लोगे करने की जरूरत पड़ गई। हमारी ही नहीं, प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से भी लोए, लोगे और लोक के लिए लोग, लोय, लोओ आदि सभी रूप आगमों में प्रयुक्त हैं तब किसी जगह के परम्परित शुद्ध रूप की जगह दूसरा शब्दरूप बिठाने की क्या आवश्यकता थी? यदि संयोजक आगमों में, इसी भाँति शौरसेनी की भरमार करने लगें तो 'पढमं' के स्थान पर 'पधमं' होते देर न लगेगी। क्योंकि शौरसेनी में 'थ' को 'ध' हो जाने का भी नियम है—देखें सूत्र 'थो धः'—प्राकृत सर्वस्व 3।2।4। यद्यपि शब्दानुशासन में ऐसा नहीं है।

यदि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी में भेद न किया जायगा और आगमों के क्रियारूपों होदि, हवदि की भांति अन्य सभी रूप भी ठेठ शौरसेनी में किए जायँगे तो 'तम्हा के स्थान में ता', तहा के स्थान पर

तधा[2] तुज्झ के स्थान पर **ते-दे;तुम्ह**[3], **मज्झ** के स्थान पर **मे-मम**[4], जहां के स्थान पर **जधा**[5] चेव के स्थान पर **ज्जेव**[6] आदि भी करने पड़ेंगे—जबकि आगमों में तम्हा, तहा तुज्झ, मज्झ, जहा और चेव आदि जैसे सभी रूप मिलते हैं।

इसी भाँति आगमो में अन्य अनेक शब्दों के विभिन्न रूपों के और भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिन्हें शौरसेनी के नियमों में बदला जा सकेगा। जैसे आगम में 'भरत' के लिए कई जगह 'भरह' शब्द आया है, जो महाराष्ट्री का है; देखें—"भरहक्खेत्तम्मि, भरहम्मि—(ति. प. 4/100 व 4/102) इसे शौरसेनी में भरधक्खेत्तम्मि और भरधम्मि करना पड़ेगा क्योंकि शौरसेनी में त को ध होने का नियम है—'भरते धस्तस्य'—प्रा. स. 9/25 इसी प्रकार आगम में रत्न के लिए रयण शब्द है जो महाराष्ट्री का है—रयणप्पह, (ति. प. 2/168); रयणमया (3/135), रयणत्थंमा (3/138) यहाँ शौरसेनी के अनुसार 'य' की जगह 'द' होकर—'रदण' हो जायगा। (देखें पिशल पैरा 131) आदि। फलतः—

हमारा कथन है कि आगमों में (समयसार में भी) सभी रूप मिलते हैं और जैन-शौरसेनी में सभी समाहित हैं। समयसार में जिनरूपों को शुद्धि के नाम पर बदला गया है—जैन-शौरसेनी की दृष्टि से वे सभी ठीक थे। **संशोधकों ने शौरसेनी को जैन-शौरसेनी समझ लिया यही उनका भ्रम था**। हमें आश्चर्य है कि उन्होंने सभी शब्द शौरसेनी में क्यों न किए? खैर, गनीमत है कि उनकी मुख्य दृष्टि अपने अभीष्ट शब्दों तक ही सीमित रही, अन्यथा पूरा आगम ही अंशतः के स्थान पर पूर्णतः विलुप्त हो जाता। हम नहीं चाहते कि बाद में कभी नारा लगने की सम्भावना बने कि कभी कोई अमुक महान् हुए जिन्होंने आगम या कुन्दकुन्द को ठीक किया—भले ही वर्तमान में कुन्दकुन्द की जय बोल—बुलवाकर यह सब बदलाव किया जा रहा हो।

---

1 तस्माता, 2. थोध', 3 तेदे तुम्हा ङसा, 4 न मज्झ ङसा, 5. थोध', 6 एवार्थे ज्जेव स्यात्—सभी (प्राकृत सर्वस्य)।

जब कोई किसी की प्रशंसा करता हो, उसे बढ़ाता हो, तब हमें हर्ष होता है: पर, जब कोई व्यक्ति अतिशयोक्तियों में पूर्वाचार्यों–विद्वानों को पीछे धकेल झूँठी ठकुरसुहाती करता हो तब हमें कष्ट होता है। ऐसा एक ही क्यों; यदि मिलकर सभी विद्वान भी कहें कि मूल आगम गलत है और वे बदले जा सकते हैं–या वे किसी एक जातीय प्राकृत भाषा के हैं, हम तब भी नहीं मानेंगे। हमारी दृष्टि से तो वे उसी जैन-शौरसेनी के हैं जिसमें सभी रूप समाहित होते हैं और यही आर्ष-भाषा का स्वरूप है। इसे बदल कर शुद्ध करने के गीत गाना मिथ्या है।

समय ऐसा आ गया है कि अब अर्थ-दाता दानी को भी सोचकर सावधान होना होगा कि उसका द्रव्य आगमध्वंस में लग, कहीं प्रश्न तो नहीं पूछ रहा–कि क्या तेरी कमाई न्याय नीति की थी? क्योंकि अन्यायोपार्जित द्रव्य कभी सत्कार्य में नहीं लगता–ऐसा सुना गया है। लोगो को इन बातो पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

❑

आगम के प्रति विसंगतियाँ

क्या जनमत आगम से बड़ा है?

'सत्य क्या लोकतंत्र है जो लोगों की सहमति (वोटों) से काम चलेगा? क्या जिनवाणी जनवाणी है? आगम की प्रामाणिकता जनमत से सिद्ध हो जायेगी? आगम को सिद्ध करने के लिए आगम चाहिए, न कि जनमत संग्रह।'—उक्त विचार उपाध्याय श्री कनकनन्दी मुनिराज के हैं और इन विचारों से हम पूर्ण सहमत हैं।

स्मरण हो कि गत दिनो 'कर्मबन्ध और प्रक्रिया' पुस्तक के संबंध में कटनी में एक गोष्ठी अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के तत्वावधान में श्री देवेन्द्र कुमार शास्त्री की अध्यक्षता में हुई और उसमें पारित प्रस्ताव में स्पष्ट लिखा गया कि—'कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया' आगम वर्णित तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत की गई है।'—इस कथन से स्पष्ट है कि प्रस्ताव में मिथ्यात्व के अकिंचित्कर होने की पुष्टि को स्वीकार किया गया है। पं. प्रकाश हितैषी (जो गोष्ठी में सम्मिलित थे) ने गोष्ठी के विषय में लिखा है कि—''पं० जगन्मोहन लाल जी ने विपक्ष के प्रमाणों का समाधान करने का प्रयत्न भी किया किन्तु सही समाधान कुछ भी नहीं निकल सका।

विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष लिखते हैं कि—'अध्यक्ष, दि. जैन पंचायत कटनी की ओर से मिथ्या प्रचार किया जा रहा है कि संगोष्ठी में सभी विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि मिथ्यात्व अकिंचित्कर है।'—वे यह भी लिखते हैं कि 'प्रस्ताव पुनः ठीक से पढ़ें उसमें केवल बड़े पंडित जी (पं. जगन्मोहन लाल जी सिद्धान्त शास्त्री) के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की गई है अतः मिथ्या प्रचार न करें।'

हम नहीं समझे कि जब प्रस्ताव लिखा है कि 'पुस्तक आगम वर्णित तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत की गई हैं' तब विवाद कैसा? यदि उसमें तथ्य नहीं तो कृतज्ञता कैसी? क्या पंडित जी को आयु में बड़े मानकर बड़े पंडित जी लिखा गया है? और कृतज्ञता व्यक्त की गई है?

उक्त स्थिति में यह खुले रूप में स्पष्ट होता है कि गोष्ठियाँ गोटी बिठाने के लिए की जाती हैं जिनमें भाग लेने वाले कुछ व्यक्ति तो मुँह देखी कह ही देते हैं, जैसे कि डॉ. देवेन्द्र कुमार जी, जो मौके पर दस्तखतों से इन्कार की हिम्मत न जुटा सके। यदि वे प्रस्ताव से असहमत थे और उन्हे विरोध ही इष्ट था तो प्रस्ताव पर हस्ताक्षर क्यों किए, और बाद को विरोध में क्यों लिखने लगे। खैर। ऐसे में यह अवश्य सिद्ध हुआ कि जनमत एक ओर स्थिर नहीं होता जब कि आगम (सिद्धान्त) स्थिर और तथ्य है।

जब शंकित स्थलों में पूर्वाचार्य यह कह सकते हैं कि 'गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो' तब वर्तमान संशोधकों को यह कहने में लाज क्यों आती है कि 'कुन्दकुन्दाइरियो एत्थ पुच्छेयव्वो।' फलतः—वे अपने मत की पुष्टि कराने के लिए जनमत संग्रह (गोष्ठियों) द्वारा प्रयत्न करते हैं। क्या, वे नहीं जानते कि आगम का निर्णय आगम से होता है जनमत से नहीं?

यह पंचमकाल का प्रभाव ही है कि इस अर्थयुग में जिसे अपनी मान्यता की पुष्टि करानी होती है वह पैसा खर्च करके चन्द कथित विद्वानों को इकट्ठा कर अपने अहं की पुष्टि कराकर खुश होता है कि मैंने लंका की विजय कर ली। पर, समझदार एवं आगम श्रद्धालु यह भली-भाँति समझते हैं कि वर्तमान युग में पैसे का बोलबाला है, कौन सा ऐसा कृतघ्न होगा जो किराया और सम्मान देने वाले दाता का असम्मान कर चला जाय? वह सोचता है जिसमें तुम भी खुश रहो और हम भी खुश रहें ऐसा करो। फलतः वह गीत गाता चला जाता है और अवसर आने पर बदल भी जाता है। क्योंकि—

'सचाई छुप नहीं सकती बनावट के उसूलों से।
खुशबू आ नही सकती कभी कागज के फूलों से।।

ऐसा ही एक विवाद उठा है—आगम भाषा का। उसमें भी परम्परा की लीक से हटकर एक-रूपता की जा रही है—प्राचीन आगम—भाषा को अत्यन्त भ्रष्ट तक कहा जा रहा है। पाठक सोचें कि दिगम्बर आगमो की मूल भाषा कौन सी है? क्या उसमें प्राचीन आचार्य प्रमाण है या नवीन कुछ पंडित या नवीन कोई आचार्य?

दिगम्बर आगमों की मूल भाषा शौरसेनी नहीं

वास्तव मे शौरसेनी कोई स्वतंत्र सर्वांगीण भाषा नहीं और न महाराष्ट्री आदि अन्य भाषाएं ही सर्वांगीण हैं। सभी प्राकृतें 'दशअष्ट महाभाषा समेत, लघु भाषा सात शतक सुचेत' जैसी सर्वांगीण भाषा से प्रवाहित हुए झरने जैसी है। ये प्राकृत के ऐसे अंश रूप है जैसे शरीर में रहने वाले नाक-कान आदि अंग। इनमें केवल नाम भेद है, बनावट भेद है पर रक्त संचार खुराक आदि का साधन मूल शरीर ही है। जिस क्षण ये मूल शरीर को छोड़ देंगे उस क्षण ये उपांग स्वयं समाप्त हो जाएगे अथवा जैसे किसी स्त्री की मांग का सिंदूर और माथे की बिन्दी उसके सुहागिन होने की पहिचान मात्र होते है वे स्त्री को उसके लक्षणों से वियुक्त नहीं कर सकते उसका पूर्ण शरीर साधारण स्त्रीत्व को ही धारण करता है। ऐसी ही स्थिति शौरसेनी आदि उपभाषाओं की है। ये भी अन्य सहारे के बिना जी नही सकतीं। और न ही आगम का किसी उपभाषा—मात्र में सीमित होना शक्य है। ऐसे में केवल शौरसेनी के गीत गाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं।

परम्परित प्राचीन दिगम्बर आगमों के मूलरूप व दिगम्बरत्व के प्राचीनत्व को सुरक्षित रखने के उद्देश्य और परम्परित पूर्वाचार्यों की ज्ञान गरिमा को सम्मान देने हेतु हमने आवाज उठाई तब भावी सकट से अंजान कुछ अर्थ प्रेमियों ने दलील दी कि जब शब्द रूपों के बदलने से अर्थ में कोई अन्तर न पड़ता हो तब शब्दरूपो के बदलने में क्या हर्ज है? पर, हम कहते हैं कि जब फर्क ही नहीं पड़ता तो बदलने की आवश्यकता ही क्या है? कहीं, यह रूप-बदल दिगम्बरत्व और दिगम्बर आगमों को परवर्ती बनाने की अज्ञ-भूल तो नहीं? या कहीं कोई बड़प्पन दिखाने और आगम संशोधक रूप से प्रसिद्ध

होने की मनचीती भावना तो नहीं जो शुद्ध को अशुद्ध बताकर आगमिक बहुत से शब्दों को बहिष्कृत कर शुद्ध किया जा रहा है। कौन कहता है, हमारे आगमों की भाषा अत्यन्त भ्रष्ट है और हम उसे शुद्ध कर रहे हैं। दिगम्बरों के आगम-मूलतः सर्वथा शुद्ध और प्रमाणिक हैं और उनके शब्दों में एक रूपता लाने की जरूरत नहीं है। उसमें सामान्य प्राकृत जातीय सभी भाँति के शब्द रूप हैं जैसा कि लेख में आगे दर्शाया जायगा।

रही अर्थ-भेद न होने की बात। सो हम निवेदन कर दें कि आगमों के अर्थ उस लौकिक अर्थ की भाँति नहीं जो एक नम्बरी या दो नम्बरी (दोनों प्रकार का) होने पर भी सुख-सुविधा में समान अनुभव देता है। यदि अर्थ प्रेमियों की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं पड़ता तो क्यों न णमोकार मंत्र के 'णमों अरहंताणं' को जैनी लोग good morning to arihamatas या 'अस्सलामालेकुं अरिहन्ता' जैसी भाषा में पढ लेते और अब भाषा के प्रश्न को गहराई और ऐतिहासिक प्राचीनता की दृष्टि से भी सोचा जाय। अन्यथा ऐसा न हो कि हम शिखर जी के अधिकार पाने के लिए झगड़ते और दिगम्बरत्व का प्राचीनत्व सिद्ध करते रहें ओर अब हमारी भूल से एक नवीन बखेड़ा और खडा हो जाय और दिगम्बर आगम मूल बदलते रहने से अप्रामाणिक और अस्थायी माने जाएं। तथा कहा जाये कि जिसके मूल आगम ही शुद्ध नही वह दिगम्बरत्व प्राचीन कैसे? क्योंकि जिसके आगम जितने स्थायी और शुद्ध व प्राचीन होंगे वह धर्म उतना ही प्राचीन होगा यतः—आगम के बिना धर्म नहीं चलता। फलतः यदि आगम मूल रूप बदल गया तो दिम्बरत्व की प्राचीनता और आगम दोनों ऐसे खतरे में पड़ जाएँगे जो मिटै न मरि हैं धोय'। हाँ, इससे इतना तो हो जायगा कि एक नवीन झगड़ा शुरू हो और नेताओं को नेतागिरी के लिए नया काम मिल जाय।

दिगम्बर आगमों की मूल भाषा कौनसी?

मूल रूप में आगमों की भाषा अर्धमागधी रही है ऐसी दोनों सम्प्रदायों की मान्यता है। उस काल मे यह भाषा विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न शब्द रूपों को आत्मसात् करती रही और यह अर्धमागधी ही बनी

रही। अर्धमागधी से तात्पर्य है—आधी भाषा मगध की और आधी में अन्य भाषाएँ। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि को गणधरों और परम्परित आचार्यों ने इसी भाषा में अपनाया। क्योंकि आचार्य मुनि विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते थे और उन प्रदेशो की भाषा के शब्दों को प्रवचनों में प्रयोग करते थे ताकि जन सामान्य उनके उपदेशों को सरलता से ग्रहण कर सके। इस भाँति मूल भाषा अर्ध मागधी ही रही जिसे बाद में (शौरसेनी बहुल के कारण) जैन–शौरसेनी नाम दे दिया गया।

प्राकृत में महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि जैसे भेद तब हुए जब पश्चाद्वर्ती सस्कृत वैयाकरणों ने ई. सन् की दूसरी तीसरी शताब्दी में भाषा को देश–भेद की विभिन्न बोलियों में बाँधकर व्याकरण की रचना की। इन वैयाकरणों ने सस्कृत के शब्दों के आधार पर प्राकृत (महाराष्ट्री) को प्रधानता दी और अन्य प्राकृतो के मुख्य नियम पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट कर 'शेषं प्राकृतवत्' या महाराष्ट्रीवत् लिख दिया। इससे वैयाकरणों की दृष्टि में शौरसेनी आदि की गौणता सहज सिद्ध होती है। यदि उनकी दृष्टि मे शौरसेनी की प्रमुखता रही होती तो वे शौरसेनी को प्रधानता देते और अन्य भाषाओं के लिए 'शेषं शौरसेनीवत्' लिखते जैसा कि उन्होंने नहीं किया।

वचन से मुकरना : एक विडम्बना

लोक मे सच कबूल कराने के लिए त्रिवॉचा (तीन बार हॉ) भराने की प्रवृत्ति है। और लोग हैं कि त्रिवॉचा भरने के बाद वचन से नहीं मुकरते। पर संपादक समयसारादि (कुन्दकुन्द भारती) हैं कि सात त्रिवॉचा भरने, अर्थात् जैन-शौरसेनी को अनेक बार स्मरण करने के बाद भी वचन से मुकर गए हैं। स्मरण रहे कि उक्त संपादक ने सन् 1978 व 1964 के दोनों समयसारी सस्करणों में 2¹–21 बार जैन-शौरसेनी का स्मरण किया है और मुन्नुडि पृ. 9 पर स्पष्ट लिखा है कि 'कुन्दकुन्द की सभी रचनाएँ जैन–शौरसेनी में रची गई हैं।' इन्होंने नियमसार प्रस्तावना पृ. 12 पर इतना तक लिखा है—'कुन्दकुन्द की भाषा जैन–शौरसेनी है—उन्होंने (आ. कुंदकुंदने) अपनी भाषा में मगध और महाराष्ट्र में बोली जाने वाली बोलियों के शब्दों को भी सम्मिलित करके

भाषा को नया आयाम प्रदान किया।'–

अब उक्त संपादक ने दिनांक 23 अक्तूबर से 30 अक्तूबर 1964 तक दिल्ली के गुरुनानक फाउण्डेशन में, कुन्दकुन्द भारती द्वारा मनाई 'राष्ट्रीय शौरसेनी प्राकृत–संगोष्ठी में वितरित पत्रक में डा. प्रेम सुमन के साथ निम्न घोषणा की हैं–'दिगम्बर परंपरा के प्राकृत ग्रन्थों की जो भी भाषा उभर कर सामने आती है वह शौरसेनी प्राकृत है: उसे इसी नाम से पहिचाना जाना चाहिए–किसी जैन आदि विशेषण लगाने की इसमें आवश्यकता नहीं है।' अर्थात् उक्त घोषणा द्वारा ये जैन शौरसेनी भाषा की स्वीकृति से मुकर गए जबकि ये स्वयं मुन्नुडि में जैन–शौरसेनी की स्वीकृति की घोषणा कर चुके हैं और जब कि प्राकृत के ख्याति प्राप्त विद्वान् डा. हीरालाल जैन इस जैन–शौरसेनी (मिली जुली भाषा) से सहमत हैं और डॉ. ए.एन. उपाध्ये भी मिली जुली प्राकृत (जैन शौरसेनी) की स्वीकृति दे चुके हैं।

फिर भी यदि इनकी बदली दृष्टि से दिगम्बर आगमों की भाषा शौरसेनी ही है तो, क्यों इन्होंने नियमसार की प्रस्तावना में कुन्दकुन्द के विषय मे ये लिखा कि–'उन्होने (कुन्दकुन्द ने) अपनी भाषा में मगध और महाराष्ट्र की बोली को सम्मिलित कर भाषा को नया आयाम दिया।' और क्यों अब अपने उक्त पत्रक मे ही अन्य भाषाओं के मेल को दर्शाया इन्होंने उक्त पत्रक में लिखा है–

"डॉ. उपाध्ये ने प्रवचनसार की भाषा का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि इसमें अर्धमागधी की कई विशेषताएँ सम्मिलित है (इन पंक्तियों को डॉ. प्रेम सुमन ने सन् 1688 में प्रकाशित शौरसेनी प्राकृत व्याकरण की भूमिका में भी दिया है।) डॉ. हीरालाल जैन तो स्पष्ट ही कर चुके हैं कि–

"The praknt of the sutras. The Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharastri on the other and this is exactly the nature of the language called Jain saurseni" (In-

troduction of षट्खडागम p. IV)

उक्त स्थिति में संपादक क्यों जैन शौरसेनी की घोषणा कर अपने वचन से मुकर गए और क्यों डॉ. सुमन जी भी 'जैन' जैसे सबल विशेषण को हटाने लगे? जो विशेषण कि दिगम्बर जैनागमों की परम्परित मूल भाषा की प्रामाणिकता की सिद्धि में कवच है। भाषा से जैन–विशेषण हटाने के एकॉगी आग्रह ने ही तो इन्हें यह कहने के लिए मजबूर कर दिया है कि आगम भाषा अत्यन्त भ्रष्ट है, आदि।

प्राकृत महारथियों के दो ग्रन्थः

जैन आगमो की मान्य अर्धमागधी और बाद में दिगम्बरों में मान्य 'जैन शौरसेनी' से जैन शब्द उड़ाकर उस भाषा को मात्र शौरसेनी का रूप देने वाले दो महारथी विद्वान् प्राकृत के ग्रन्थो का संपादन भी करते रहे है और संपादनों मे सहायक भी रहे हैं। उन्होने ही 'शौरसेनी व्याकरण' तथा 'कुन्दकुन्द शब्दकोश' का निर्माण किया है। दोनों ग्रन्थो में दिए गए कुछ शब्द ही देखे जाएं और निश्चय किया जाय कि वे शब्द शौरसेनी व्याकरण के किन सूत्रों से निर्मित है और क्या वे शौरसेनी के है? यदि दिगम्बर आगमो की भाषा शौरसेनी है और वे शब्द शौरसेनी के हैं तो कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन से वे वहिष्कृत क्यो किए गए? और यदि शौरसेनी के नही तो क्यो कुन्दकुन्द की रचना में उपलब्ध हुए? निर्णय करना आप का कार्य है कि उक्त व्याकरण रचयिता गलत हैं या परमपूज्य आगम भाषा गलत है?

'शौरसेनी प्राकृत व्याकरण' (उदयपुर)

इक्को पृ. 55। चुक्किज्ज पृ 61। मुणेयव्वं पृ. 34।
करिज्ज पृ. 61। कुणई पृ. 1। होइ पृ. 33, 90।
सक्कइ पृ. 64। लोए पृ. 88, 90। पुग्गल पृ. 25, 88, 91।
हवइ पृ. 77। जाण पृ. 93। भणिऊण पृ. 64।
सुणिऊण पृ. 4। रूंधिऊण पृ. 64 आदि।

'कुंदकुंद शब्द कोश (विवेक विहार)

सुयं केवली पृ. 344। भणिय पृ. 235। इक्क पृ. 59।
धित्तव्वं पृ. 112। हविज्ज पृ. 350। गिण्हइ पृ. 107।
कहइ पृ. 87 । मुयइ पृ. 252। जाण पृ. 129।
करिज्ज पृ. 85। भणिज्ज पृ. 230।
पुग्गल पृ. 225। जाणिऊण पृ. 129। णाऊण पृ. 146।
चुक्किज्ज पृ. 123 आदि।

स्मरण रहे कि कुंदकुंद भारती के सम्पादनों में उक्त जातीय शब्दों का बहिष्कार कर दिया गया है। और हम उक्त शब्द रूपों और आगमगत सभी शब्द रूपों को सही मान रहे हैं तब हम पर कोप क्यों?

मीठा मीठा गप कड़ुआ कड़ुआ थू :

संपादक कुदकुंद भारती ने डॉ. सरजू प्रसाद के 'प्राकृत विमर्श' ग्रन्थ से 'मुन्नुडि पृ. 9 पर एक उदाहरण दिया है जिसमे जैन शौरसेनी की पुष्टि है। पर संपादक की मन चीती न होने से अब वे उसे ठीक नहीं मान रहे। 'प्राकृत विमर्ष' मे निम्न संदेश भी है। उन पर भी विचार होना चाहिए।

1. "शौरसेनी ग्रन्थ की स्वतत्र रचनाएँ तो उपलब्ध नही होती परन्तु जैन शौरसेनी में दिगम्बर संप्रदाय के ग्रन्थ उपलब्ध होते है। कुदकुंद रचित 'पवयणसार' जैन-शौरसेनी की प्रारम्भिक प्रसिद्ध रचना है। कुंदकुंदाचार्य की प्रायः सभी रचनाऍं इसी भाषा मे हैं।" प्राकृत विमर्श पृ. 43
2. "महाराष्ट्री स्टैण्डर्ड प्राकृत मानी जाती है—प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को ही मूल मान कर विस्तार से वर्णन किया है और अन्य प्राकृतों को उसी प्राकृत के सदृष्य बताकर कुछ भिन्न विशेषताऍं अलग अलग दे दी हैं।" वहीं पृ. 37
3. 'शौरसेनी प्राकृत के स्वतंत्र ग्रन्थ अभी (सन् 1953) तब उपलब्ध नहीं हो सके हैं। वही पृ. 41
4. 'महाराष्ट्री प्राकृत को ही वैयाकरणों ने प्रधान भाषा मानकर उसके आधार पर अन्य प्राकृतों का वर्णन किया है।' वही पृ. 75

5. 'उस काल में महाराष्ट्री स्टैण्डर्ड प्राकृत थी।' वही पृ. 75

हम यह भी स्मरण करा दें कि अब शौरसेनी की ओर करवट लेने वाले और 'शौरसेनी व्याकरण' तथा 'कुदकुंद शब्दकोश' में विविध भाषाओं के शब्द रूपो का पोषण करने वाले डॉ. प्रेम सुमन जैन हमें दिनांक 3. 4.1988 के पत्र में भी तत्कालीन भाषाओं के प्रयोग होने की स्वीकृति पहिले ही दे चुके हैं। तथाहि–

"कोई भी प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ आगम, किसी व्याकरण के नियमों से बंधी भाषा मात्र को अनुगमन नहीं करता। उसमें तत्कालीन विभिन्न भाषाओं, बोलियों के प्रयोग सुरक्षित मिलते हैं।"–"एक ही ग्रन्थ में कई प्रयोग प्राकृत बहुलता को दर्शाते हैं। अतः उनको बदलकर एक रूप कर देना सर्वथा ठीक नहीं है।"–"प्राचीन ग्रन्थों का एक-एक शब्द अपने समय का इतिहास स्तम्भ होता है।"–

नोट–इनके पूरे पत्र के लिए, देखें 'अनेकान्त अक मार्च 1994। ऐसे में यह चिन्तनीय हो गया है कि इनकी करवट का कारण क्या है?

हम पुन· स्पष्ट कर दें कि हममें इतनी क्षमता नहीं जो प्रामाणिक आचार्य गुणधर, पुष्पदंत, कुंदकुद, जयसेन, वीरसेन, जैसे पूज्य आचार्यों की भाषा का तिरस्कार कर किसी आधुनिक आचार्य या किसी बड़े से बड़े आधुनिक (प्रसिद्धि प्राप्त) विद्वान् या विद्वानो को ज्ञान में उनसे ऊँचा मानने की धृष्टता करें और आगम भाषा की परख के लिए उनसे परामर्श करे या सम्मेलन बुलाएँ। परख की बात उठाना भी घोर पाप और आगम अवज्ञा है। जरा सोचें कि क्या हमारे पूर्व ग्रन्थ भाषा भ्रष्ट है? यदि भाषा भ्रष्ट है तो वे आगम ही नहीं। और जिसके आगम ही ठीक नहीं वह धर्म (दिगम्बरत्व) भी प्राचीन कैसे? क्योंकि धर्म तो आगम से प्रामाणिकता पाता है। देखे–:प्राचीन आगमों के कुछ शब्द। **क्या ये भ्रष्ट जातीय शब्द हैं** जिनको कुंदकुंद भारती ने दिगम्बर आगमों से बहिष्कृत कर कसायपाहुड व षट्खण्डागम जैसे प्राचीन ग्रन्थों को गलत सिद्ध करने का दुःसाहस किया है? देखें–

1. कसाय पाहुड के शब्द

गाथा 23 'संकामेइ' गाथा 24, 27, 57, 62, 74, 79, 95, 99, 101, 103, 119, 120, 122, 125, 130, 136 में 'होइ'। गाथा 19, 99, 101, 104–106 भजि यव्वो। गाथा 59 'पवेसेइ'। गाथा 42 णिरय गइ।

गाथा 85 कायव्व गाथा 108 उवइ–अणुवइइ। गाथा 102, 109 मिच्छाइट्ठी। गाथा 102 सम्माइट्ठी।

2. **'खवणाहियार चूलिया'** गाथा 3 होई, गाथा 3, 6, 7, 8, 9, 12 होइ, गाथा 5 छुहइ, गाथा 11 खवेइ आदि।
3. **'षटखंडागम' के शब्द**–सूत्र 4, 177, गई। सूत्र 5 णायव्वाणि। सूत्र 49 वउव्विहो। सूत्र 20, 51, 132, 133 वीयराय। सूत्र 25 से 28, 83 सम्माइट्ठी। सूत्र 25 से 28, 71, 79 मिच्छाइट्ठी। आदि
4. **टीका**–पृ. 68 जयउ सुयदेवदा। पृ. 68, 71 काऊंण। पृ. 71 दाऊण। पृ. 103 सहिऊण। पृ. 74 संभवइ। पृ. 98, 109, 110, 113 कुणइ। पृ. 110 उप्पज्जइ। पृ. 120 गइ। पृ. 125 कायव्वा। पृ. 127, 130 णिग्गया। पृ. 68 सुयसायरपारया। पृ. 65 भणिया। आदि
5. कुंदकुंद अष्ट पाहुडों में ही एक एक पाहुड में अनेकों स्थानों पर–होइ, होई, हवइ, हवेइ, जैसे रूप हैं। और नियमसार आदि अनेक ग्रन्थों में ऐसे ही शौरसेनी से बाह्य अनेक शब्द रूप बहुतायत से पाए जाते हैं। ऐसे मे कैसे माना जाय कि दिगम्बर आगम शौरसेनी के हैं और वर्तमान में आगमों में जो जैन शौरसेनी रूप हैं वे अशुद्ध हैं? स्मरण रहे कि जैन शौरसेनी का तात्पर्य ही मिली-जुली प्राकृत है।

शौरसेनी करण का इनका नमूना

कुन्दकुन्द भारती वाले, शौरसेनी की घोषणा कर, आगमों को शौरसेनी में कर भी पा रहे हैं क्या? प्रस्तुत चन्द शब्द रूपों से इनके प्राकृत ज्ञान को सहज ही परखा जा सकता है। शौरसेनी प्राकृत व्याकरण और 'कुन्दकुन्द शब्दकोश' द्वारा इनके समर्थकों के प्राकृत ज्ञान का दिग्दर्शन तो हम करा ही चुके हैं। अब देखिए इनके व्याकरण सम्मत शौरसेनी के कुछ

शब्द रूप। इन रूपों को इन्होने अपने संपादनों में दिया है, जबकि ये शौरसेनी के गीत गा रहे है और पुष्टि मे समाज का प्रभूत धन व्यय करा विद्वानो को इकट्ठा करने में लगे हैं। देखें–

1. समयसार (कुंदकुंद भारती) गाथा 10, 34, 112, 127 से गाथा 129 और गाथा 147 तथा 'नियमसार गाथा 143, 144, 156 का 'तम्हा' शब्द रूप।
2. समयसार गाथा 1 का 'वंदितु' शब्दरूप।
3 समयसार गाथा 63 का 'तुज्झ' शब्दरूप।
4. समयसार गाथा 21, 23, 24, 25, 33, 279 से 300 तक का 'मज्झ' शब्द रूप।
5. समयसार गाथा 85 का 'चेव' शब्दरूप।
6. समयसार गाथा 27, 31, 38, 42 का 'खलु' शब्दरूप।

व्याकरण की दृष्टि से शौरसेनी के नियमानुसार उक्त शब्दो के क्रमशः निम्नरूप न्याय्य है, जिन्हे शौरसेनी समर्थक शौरसेनी में नहीं कर सके (क्रमश. देखें)

1. 'तम्हा' की जगह 'ता' होने का विधान है। देखें–प्राकृत शब्दानुशासन सूत्र 'तस्मात्ता 3.2.13 और हेमचन्द्र 8.4.278
2 'वंदितु' की जगह वंदिअ या वदिदूण होने का विधान है। देखें प्राकृत शब्दानुशासन सूत्र 'इयदूणौ क्त्वा' 3 2.10 हेम 'कत्वा इयदूणो 8.4.271
3 'तुज्झ' की जगह ते दे तुम्ह होने का विधान है। देखे 'प्राकृतसर्वस्व' सूत्र 'तेदे तुम्हा ङसा' 9/86
4 षष्ठी विभक्ति मे 'मज्झ' होने का विधान नहीं है। देखे 'प्राकृत सर्वस्व' सूत्र 'न मज्झ ङसा' 9/94
5. 'एव' की जगह 'एव्व' होने का विधान है। देखें: प्राकृत शब्दानुशासन सूत्र ' एवार्थे एव्व' 3.2.18
6. 'खलु' की जगह 'क्खु' होने का विधान है। देखें प्राकृत सर्वस्व सूत्र क्खु निश्चये 9/151

संशोधकों के सशाधनो में, निश्चय ही शौरसेनी के नियमों से विरुद्ध, अन्य भाषा के शब्द रूप होने से सिद्ध है कि–आगमों की भाषा जैन–शौरसेनी है और शौरसेनी के पक्षधर अथक प्रयत्नों के बाद भी 'जैन शौरसेनी' को नहीं मिटा सके हैं। स्मरण रहे कि जैन–शौरसेनी भाषा मिली-जुली भाषा है। और शौरसेनी मूलतः नाटकों की प्रमुख भाषा है। (साहित्य दर्पणकार ने तो इस भाषा को (6, 159, 165 में) सुशिक्षित स्त्रियों के सिवाय, बालक, नपुंसक, ज्योतिषी, विक्षिप्त रोगियो की भाषा तक कहा है। लक्ष्मीधर ने षड़भाषा चन्द्रिका (श्लोक 34) में इस भाषा को छद्मवेष धारी साधुओं की भाषा भी कहा है।) ऐसा डा. जगदीशचन्द्र ने पृ. 21 पर लिखा है।

दिगम्बर आगमों को शौरसेनी घोषित करने वाले और व्याकरण के गीत गाने वाले कृपा करके यह भी सोचें कि जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों के नामों मे जो पाहुड शब्द जोड़ा है। (जैसे कसाय पाहुड, दंसण पाहुड, सुत्तापाहुड आदि) वह शब्द शौरसेनी व्याकरण के किन विशेष सूत्रों से संपादित हुआ है? क्योंकि शौरसेनी के जो विशेष नियम सूत्र वैयाकरणों ने दिए हैं उनमें एक सूत्र भी ऐसा नहीं है जो पाहुड शब्द की सिद्धि कर सके। सभी सूत्र अन्य प्राकृतों के हैं। यतः–

पश्चाद्वर्ती सभी व्याकरण संस्कृत शब्दों के आधार पर निर्मित है और सस्कृत के 'प्राभृत' शब्द को मूल मानकर वैयाकरणों ने पाहुड शब्द की रचना की है तथाहि–

महाराष्ट्री नियम त्रिविक्रम सूत्र 'खघथधभाम्' 1.3.20 से 'भ' को 'ह' हुआ हैं। प्राकृत चन्द्रिका सूत्र 'जैवात्रिके परभृते परभूते संभ्रते प्राभृते तथा' सूत्र 3/108 से 'ऋ' को 'उ' और सूत्र' तो डः पताका प्राभृति प्राभृत व्यापृत प्रतेः' 2/17 से 'त' को 'ड' हुआ है। तब 'पाहुड शब्द बना है। ऐसे में 'जैन शौरसेनी को बहिष्कृत कर एकदेशीय संकुचित शौरसेनी की घोषणा करना कौनसी सद्बुद्धि है–जब कि पूर्वाचार्यों की भाषा सर्वजन सुबोध कही गई है–'बालस्त्रीमंदमूर्खाणां आदि। और वह भाषा अर्धमागधी व जैन–शौरसेनी है।

कितना बड़ा भ्रामक प्रचार :

दिगम्बर जैनाचार्यों की परम्परा (विद्वत्परिषद्) में श्रुत धारक भद्रबाहु आचार्य का काल वीर निर्वाण संवत् 162 बतलाया है और सम्राट् चन्द्रगुप्त इन्हीं आचार्य के साथ दक्षिण देश को गए हैं। वह काल उत्तर भारत में बारह वर्षीय दुष्काल का समय है। इसी काल में उत्तर भारत से दिगम्बर मुनियों का दक्षिण में बिहार हुआ बताया है। इस काल के लगभग 450 वर्ष बाद अर्थात् वीर निर्वाण संवत् 614 में धरसेन आचार्य का प्रादुर्भाव बतलाया है और इसके पूर्व आचार्य गुणधर का समय है। तथा आचार्य पुष्पदन्त का समय वीर निर्वाण संवत् 633 अर्थात् (आचार्य धरसेन के अस्तित्व में) 19 वर्ष के अन्तराल में बतलाया है। इस प्रकार आचार्य पुष्पदंत का काल श्रुतकेवली भद्रबाहु से लगभग 471 वर्ष बाद और आ. गुणधर का समय भद्रबाहु के 450 वर्ष बाद का ठहरता है।

दिगम्बरों की मान्यता में आचार्य गुणधर कृत 'कसाय पाहुड' व आचार्य पुष्पदन्त कृत 'षट्‌ खण्डागम' ग्रन्थराज दो ग्रन्थ ही ऐसे प्राचीनतम हैं, जो सर्वप्रथम प्रकाश में आए। इनसे पूर्व किन्हीं ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ। ऐसी अवस्था मे इस काल से 471 और 450 वर्ष पूर्व के मुनियों के लिए ऐसा लिख देना कि 'जब मौर्य युग में जैन मुनिसंघ दक्षिण की ओर गया तो उनके ग्रन्थों के साथ प्राचीन शौरसेनी का दक्षिण भारत में अधिक फैलाव हुआ। सम्राट् खारवेल ने अपने राजनैतिक प्रभाव से इस भाषा (प्राचीन शौरसेनी) को वहाँ संरक्षण प्रदान किया'। (राष्ट्रीय शौरसेनी प्राकृत सगोष्ठी में वितरित पत्रक) यह कितना बड़ा भ्रामक प्रचार है जबकि उक्त दोनों ग्रन्थों से पूर्व के कोई ग्रन्थ आज भी उपलब्ध नहीं हैं।

खारवेल के शिलालेख:

संगोष्ठी में वितरित पत्रक में कहा गया है कि 'सम्राट् खारवेल ने अपने राजनैतिक प्रभाव से इस भाषा (प्राचीन शौरसेनी) को वहाँ संरक्षण प्रदान किया'।

उक्त संरक्षण कार्य के विषय में कुंदकुंद भारती की ओर से कोई ऐतिहासिक प्रमाण या खारवेल के आदेश पत्र का कोई प्रमाण तो प्रस्तुत नहीं किया गया। हाँ, वहाँ के संपादक ने 'मुन्नुडि' पृ. 6 पर हाथी गुंफा के शिलालेख का उद्धरण देते हुए शिला में अंकित 'नमो सव सिधानं' शब्द का संकेत अवश्य दिया। यह शिलालेख खारवेल (मौर्यकाल के 165 वें वर्ष) का है। उक्त शिलालेख में णमोकार मंत्र के 'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं' का उल्लेख है और इसी शिलालेख में 'पसासित, पापुनाति, कारयति, पथापयति, वितापति आदि ऐसे बहुत से शब्द हैं जो प्राचीन या नवीन किसी भी शौरसेनी के नहीं हैं। क्योंकि शौरसेनी में 'त' के स्थान में 'द' करने का अकाट्य नियम है और यहाँ क्रियापदों में सर्वत्र 'त' का प्रयोग है। (देखें जैन शिलालेख संग्रह 2 भाग पृ. 4)

इसके सिवाय दिगम्बरों में णमोकार मंत्र का प्रचलन 'ण' प्रमुख है और इस मंत्र का सर्वप्रथम उल्लेख जो षट्खण्डागम के मंगलाचरण में उपलब्ध है उसमें भी मंत्र में सर्वत्र 'ण' का उल्लेख है। तो प्रश्न होता है कि 'न' और 'ण' इन दोनों में प्राचीन शौरसेनी कौन सी है और नवीन कौनसी है? खारवेल के शिलालेख की या षट्खण्डागम के पाठ की? यदि दिगम्बर आगमो की भाषा प्राचीन शौरसेनी है तो आगमों में 'ण' क्यों? और यदि 'ण' का पाठ है तो वह शौरसेनी क्यों? और शौरसेनी व्याकरण के किस विशिष्ट सूत्र के नियम से? मथुरा के प्राचीन अनेक शिलालेखों में भी 'नमो अरहंतानं' का उल्लेख है। (शिलालेख सं. भाग 2 पृ. 17, 18)

हम पुनः निवेदन कर दें कि यद्यपि हमें परंपरित प्राचीन प्राकृत आगमों की भाषा बंधनमुक्त इष्ट है—'सकल जगज्जन्तूनां व्याकरणदिभिरनाहित संस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव प्राकृतम्।' तथापि हमें प्राकृत में व्याकरण मान्यता वालों को इंगित करने हेतु उक्त प्रसंग दर्शाने पड़े हैं ताकि विज्ञजन भी संशोधकों की स्वमान्य शौरसेनी की व्याकरणज्ञालीलता का सहज की हृदयंगम कर सकें। इनके संशोधन पश्चाद्वर्ती व्याकरण से भी ठीक हैं क्या? खारवेल के शिलालेख किसी

कथन मात्र से शौरसेनी नहीं हो जाते--उनकी भाषा तो अभी विवादस्थ है, आदि।

कई लोग हमसे कहते हैं--इस अर्थयुग में आप ज्ञान की बात क्यों करते हैं? जैसा चलता है, वैसा चलता रहे। काल का प्रभाव तो होता ही है। सो हमारा कहना है कि--'कभी तो किसी के भनक पड़ेगी कान और नहीं तो हमारे दिवंगत आचार्य तो जान ही रहे हैं।

णमो अरहंताणं का अपमान क्यों?

कुन्दकुन्द भारती संस्था के अधिष्ठाता तथा कुंदकुंद साहित्य के वहाँ के संपादक पं. बलभद्रजी ने घोषणा की है कि (णमोकार मंत्र का) **"अरिहंताणं" पाठ ही शुद्ध है और 'अरहंताणं' पाठ खोटे सिक्के की तरह चलन में आ रहा है।"** प्राकृत विद्या दिसम्बर 94 पृष्ठ 10-11।

उक्त घोषणा से मूलमंत्र का अपमान तो है ही, साथ ही इससे लोगों में मंत्र के प्रति भ्रम की स्थिति होकर मंत्र के प्रति अश्रद्धा भी उत्पन्न हो सकती है।

स्मरण रहे कि उक्त संपादक को प्राकृत (स्वाभाविक भाषा) में भी व्याकरण इष्ट है। उक्त संस्था की पत्रिका द्वारा प्राकृत (स्वाभाविक भाषा) में भी व्याकरण इष्ट है। उक्त संस्था की पत्रिका द्वारा प्राकृत मे व्याकरण होने की पुष्टि में पहिले भी "वागरण" शब्द के 'व्याख्या' जैसे प्रासंगिक प्रसिद्ध अर्थ का विपर्यास करने का व्यर्थ प्रयास भी किया जा चुका है। (प्रतिवाद देखें--"अनेकांत 47/3) उक्त संपादक प्राकृत व्याकरण में कुंदकुंद के पश्चात्‌वर्ती बारहवीं सदी के वैयाकरण हेमचन्द्र का उल्लेख मान्य करते रहे है। अतः **अरहंताणं** के विषय में उन्ही आचार्य का मन्तव्य देखें--

हैमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के 8/2/111 में एक सूत्र "उच्चार्हति" दिया है। उसकी व्याख्या में उन्होंने लिखा है: "अर्हत् शब्दे हकारात् प्राग् अदितावुद भवंति च। **अरहो, अरिहो रूपमरुहो** चेति सिद्धयति। **अरहंतो, अरिहंतो, अरुहंतो** च पठ्यते।"

इसका शब्दार्थ है-अर्हत् शब्द में हकार से पहिले अ, इ और उ हो जाते हैं, इस प्रकार अरह, अरिह और अरुह रूप सिद्ध होते हैं-अरहंत, अरिहंत और अरुहंत पढ़े जाते हैं।

उक्त भांति व्याकरण की दृष्टि से सभी रूप सिद्ध किये गये हैं? स्मरण रहे कि भाषा पहिले होती है और तदनुसार व्याकरण की रचना बाद में होती है। सिद्ध है कि प्राकृत में ये शब्द पूर्व में प्रचलित रहे—बाद में व्याकरण ने उसकी पुष्टि की। धवलाकार ने स्पष्ट ही दोनों रूपों को मान्यता दी (देखें धवला 1 पृष्ठ 44 व टिप्पणी भी)

उक्त संपादक ने अपने कथन की पुष्टि में एकांगी जो प्रमाण दिये हैं उन्हीं आगमों में तथा अन्य स्थलों में भी इस **"अरहंताणं"** पद की भी पुष्टि की गई है। देखें:—

मूलाचार (संपादक पं. मनोहरलाल जी, संवत् 1976)

1. "तेलोक्कपुज्जणीए **अरहंते** वंदिऊण तिविहेण" (4/122)
2 "तिरदणपुरूगुण सहिदे **अरहंते** विदिद सयल सब्भावे" (6/420)
3 "वंदित्ता **अरहंते** सीलगुणे कित्तइस्सामि" (11/1016)
4. "काऊण णमोक्कारं **अरहंताणं** तहेब सिद्धाणं" (7/502)
5. "रजहंता अरिहंति य **अरहंता** तेण उच्चदे" (7/505)
6. **"अरहंत** णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी" (7/508)
7. "अरिहंति सिद्धिगमणं **अरहंता** तेण उच्चंति" (7/562)

2. भगवती आराधना

वंदित्ता **अरहंते** वोच्छं" 1.1.1

अरहंत सिद्ध चेइय सुदेय. 1.1.45

3. कसायपाहुड भाग 1

"णियमेण **अरहंत** णमोक्कारो कायव्वो 1 पृष्ठ 1 पंक्ति 7-8 "कीरउ अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण अरहंत णमोक्कारो। सव्वण्हु वीयराय-**अरहंत** जिणादि सण्णाओ।" पृ.31 पं. 3-4।

4. महाबंध 1

"अरहंत दिवायरो जयऊ। गाथा 2 पृष्ठ 2

5. प्रवचनसार

   "**अरहंताणंकाल** मायाचारोव्व इत्थीणं। गाथा 44

   "पुण्णफला **अरहंता**। गाथा 45

6. तिलोयपण्णत्ति

   "**अरहंताणं** सिद्धाणं–"। गाथा 19

7. धवल 1

   "अतिशय पूजार्हत्वाद्वार्हन्ता। गाथा पृष्ठ 44

   "अरहंता" अरहंताणं। गाथा टिप्पणी पृष्ठ 44

8. भगवती सूत्र

   "णमो **अरहंताणं**, णमोसिद्धाणं–"पंचमअंग, प्रथम खंड शतक 1 पृ. 3 प. 24 टीकाः पूयसक्कारं सिद्धिगमणं च अरहा **अरहंता** तेण वुच्चंति।"

9. भक्ति संग्रहः

   "अरहंते कित्तिस्से–" गाथा 2

10. अभिधान राजेन्द्र कोशः (पृष्ठ 755)

    "अरहंत-अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः।"

11. प्राकृतचन्द्रिका "के तृतीय प्रकाश के 53 वें श्लोक में भी हेमचन्द्र पोषित उक्त तीनों पदों के शुद्धत्व की पुष्टि की गई है। यथाहि– अर्ह-अरहो, अरिहो, अरुहो।"

वचन से मुकरना :

पं. बलभद्र जी ने जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग एक लिखा है जो वी. नि. सं. 2500 में छपा। उसमें पंडित जी ने पृष्ठ 13 पं. 5 पर स्वयं लिखा है– "अर्हन्त, अरहंत, अरिहन्त ये शब्द समानार्थक हैं।" क्या तब पंडितजी को "अरहताणं पद खोटा सिक्का नहीं दिखा, जो अब दिख रहा है? खेद है।

आश्चर्य कि उक्त पंडित जी खारवेल के शिलालेखों को सही मान रहे हैं और उनके उद्धरण भी शौरसैनी की पुष्टि मे दे रहे हैं, जबकि हम आगमिक सभी शब्दरूपों को मान्य कर रहे हैं।"

पुग्गल की प्रामाणिकता

उक्त संपादक "पुग्गल" शब्द रूप को भी खोटा सिक्का बता रहे हैं और उनकी दृष्टि में "पोग्गल" रूप ही शुद्ध है। इस सम्बंध में हम पहिले लिख चुके हैं- "यदि पोग्गल" रूप का निर्माण व्याकरण से हुआ तो पहिले उसका रूप क्या था? यदि उसका पूर्वरूप "पुग्गल" था तो वह शब्द का प्राकृतिक, जनसाधारण की बोली का स्वाभाविक रूप है और पोग्गल "रूप से प्राचीन भी।"

फिर भी यदि व्याकरण की जिद है तो उसमें भी तो पुग्गल और पोग्गल दोनों रूप सिद्ध हैं-दोनो में कोई भी खोटा सिक्का नहीं। देखें—व्याकरण से

1. आचार्य हैमचन्द्र ने "ओत् संयोगे" सूत्र की भांति "ह्रस्वः संयोगे" 8/1/84 भी दिया है और लिखा है कि "दीर्घवर्णस्य ह्रस्वत्वं, संयोगे परतो भवेत्" अर्थात् यदि पर में संयुक्त अक्षर हो तो पूर्व के दीर्घ वर्ण को ह्रस्व हो जाता है। इसके लिए हैमचन्द्र ने "नीलोत्पलं" का उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है कि इसमें "ओ" के बाद संयुक्त वर्ण होने से पूर्ववर्ती "ओ" को "उ" होकर "नीलोत्पलं" का रूप "नीलुप्पल" बन गया। यही स्थिति "पुग्गल" की है यदि वहाँ भी ओ के स्थान पर उ हो गया तो फिर ये उसे क्यों नहीं मानते?
2. प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ "प्राकृत सर्वस्व" में और त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण में भी इसी प्रक्रिया की पुष्टि की गई है। तथाहि "प्राकृतसर्वस्व-सूत्र 4/2 'युते ह्रस्व'" युते परे दीर्घो ह्रस्वः स्यात्। सामलंगो।
3. "त्रिविक्रमः प्राकृतव्याकरण" सूत्र 1/2/40 "संयोगे" संयोगे परे पूर्वस्य स्वरस्य ह्रस्वो भवति। "अधरोष्ठः = अहरुष्टो। नीलोप्पलं-नीलुप्पलं। पाठक व्याकरण से पुग्गल और पोग्गल दोनों रूपों की सत्यता को समझ गये होंगे। फिर भी हम आगमों में गृहीत पुग्गल रूप दर्शा दें। तथाहि—

आगमों में पुग्गल

1. प्रवचनसार (ए. एन. उपाध्याय संपादित)

   "फासेहिं **पुग्गलाणं**" -2/85

   "**पुग्गल** जीवप्पगो भणिदो" 2/85

   "तेसु पदेसु **पुग्गला** काया" 2/86

   "**पुग्गल** कार्येहि सव्वदो लोगो" 2/76

2. भगवती आराधना

   "ते चैव **पुग्गल** जादा" गाथा 4/10

3. पंचास्तिकाय

   (पं पन्नालाल सा. आ. संपादित)

   "**जीवापुग्गल** काया" गाथा 22

   "**पुग्गल** दव्वेण विणां" गाथा 26

4. समयसार (संपादन, वही)

   "**पुग्गल** कम्मं करोदि" गाथा 330

   "**तम्हापुग्गला** कम्मं मिच्छा" गाथा 331

5. नियमसार (संपादन, वही)

   "ठिदिजीव **पुग्गलाणं** च" गाथा 30

   "**पुग्गलं** दव्वं मुत्तं" गाथा 37

6. वारसाणुवेक्खा (संपादन, वही)

   "**पुग्गल** परियट्ट संसारे" गाथा 25

7. अभिधान राजेन्द्र कोशः

   पुग्गल– "पूरणगलन धर्माणः **पुद्गला**" पृष्ठ 968

   वन्नगंधरसाफासा **पुग्गलाणं**

   तुलक्खणं-पृष्ठ 1097

   पुग्गला अणंता पणत्ता- पृष्ठ 1097

गोपेन्द्र : गोविन्द

प्राकृत विद्या-दिसम्बर 1994 के पेज 20 पर एक लेख में शौरसेनी

की पुष्टि में लिखा है- 'आदि शंकराचार्य ने भी अपने संस्कृत ग्रन्थ में "गोपेन्द्र" इस संस्कृत पद की जगह "गोविन्द" इस शौरसेनी प्राकृत के पद का प्रयोग किया।' सोचने की बात है कि जब उक्त पद में संयुक्ताक्षर से पूर्व के 'ए' को शौरसेनी में इ होकर "गोविंद" रूप बन सकता है तब "पोग्गल" का पुग्गल रूप होना क्यों सिरदर्द बना हुआ है? हैमचन्द्राचार्य तो "ह्रस्व संयोगे" सूत्र में स्पष्ट कह रहे हैं कि संयोगी वर्ण से पूर्व के आ, ई, ऊ, ए, ओ, को क्रमशः अ, इ, उ, इ, उ हो जाते हैं और 'ओत् संयोगे' "सूत्र से उ को ओ भी हो जाता है। इस प्रकार पश्चाद्वर्ती व्याकरण से भी पुग्गल और पोग्गल दोनों रूप सिद्ध किए गए हैं। प्राकृत के व्याकरणातीत रूप में तो किसी प्रकार का बन्धन ही नहीं। वहाँ तो सभी प्राकृत रूप सही हैं, जिन्हें पश्चाद्वर्ती संस्कृत वैयाकरणों ने विविध रूपों में विभक्त कर प्राकृत मात्र की सार्वभौमिकता को स्वीकार किया है।

हाँ, गोविन्द शब्द शौरसेनी का है और शौरसेनी के किस विशेष सूत्र से निर्मित है तथा आदि शंकराचार्य ने इसे कहां शौरसेनी का घोषित किया है? इन गुत्थियों को लेखक ने अपने लेख में नहीं सुलझाया है। स्पष्टीकरण होना चाहिए था। खेद है, कि संपादक स्व-मान्य व्याकरण से सिद्ध रूपों को भी व्याकरणातीत बता रहे हैं। हम तो सभी को प्राकृत का स्वीकारते रहे हैं।

पाहुड शब्द की निष्पत्ति

यद्यपि उक्त संपादक ने इसी अंक के पृष्ठ 13 पर यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि "जितने प्राकृत व्याकरण हैं, उनमें संस्कृत शब्दों से प्राकृत शब्द बनाने के नियम दिए हैं,"—तथापि वे (प्राकृत में व्याकरण सिद्धि के मोह में अपना वचन भंग कर)" पाहुड शब्द की सिद्धि संस्कृत की बजाय "पदेहि फुंड" इस प्राकृत शब्द से बताने को उद्यत हुए। उन्हें नहीं मालूम कि उनके द्वारा प्रस्तुत व्याकरण संबंधी प्राकृत गाथाएँ भी ठेठ उस शौरसेनी की नहीं, जिसे वे दिगंबर आगमों की भाषा घोषित कर रहे हैं। देखें- उन गाथाओं के कुछ शब्द रूप। क्या वे शौरसेनी के हैं? जैसे-जइ, भणइ, कीरइ, आइ, एए,

कायब्बो, आई, तइअत्तणयं, दरिसेयव्वो, काऊण-आदि। जब मूल ही नहीं, तब शाखा कहां? फिर यह भी स्पष्ट नहीं कि क्या वे गाथाएं कुन्दकुन्द के पूर्व की हैं जिनके आधार पर कुन्दकुन्द चले हों और इसमें क्या प्रमाण है?

आगमों पर संकट

पं. बलभद्र द्वारा की गई घोषणा कि-**"अरहंताणं और पुग्गल शब्द रूप खोटे सिक्के की भांति चलन में आ रहे हैं,"** से तो वे सभी दिगम्बर शास्त्र संकट में आ गए हैं, जिनमें उक्त शब्दरूप विद्यमान हैं- और जिनके प्रमाणों को ऊपर भी दर्शाया गया है। पाठक सोचें कि, दिगम्बरों के कौन से शास्त्र पूरे खरे सिक्के हैं जिनमें उक्त शब्द रूपों में से एक भी रूप नहीं है। उक्त तथ्यों के सिवाय संपादक जी और भी खोटे सिक्कों का चुनाव करने की कृपा करें - क्योंकि कुन्दकुन्द भारती जैसा सुरक्षित स्थान और अवसर उन्हें फिर शायद ही मिले, वहाँ गुरु का वरदहस्त भी विद्यमान है। वे वहॉ बैठकर यह भी निश्चय करे कि दिगम्बर-आगमों मे ये खोटे सिक्के कब और कैसे प्रवेश कर गए? कहीं ऐसा तो नहीं कि कभी किसी अन्य को आप जैसा सुअवसर प्राप्त हो गया हो और उसने अवसर देख (आपकी दृष्टि में) इन खोटे सिक्कों को प्रश्रय दे दिया हो? हमारी दृष्टि से आगम के शब्दों में तो सभी सच्चे सिक्के हैं।

शौरसेनी मात्र कैसे, क्यों?

अंग और पूर्वों को दोनों सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं और उनकी भाषा अर्धमागधी दोनों को मान्य है। बाद में दिगम्बरों में इनका लोप घोषित करके दृष्टिवाद का कुछ अंश शेष मान लिया। पं. कैलाशचंद्र जी शास्त्री लिखते हैं कि- कसाय पाहुड और छक्खंडागम दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों का विकास पूर्वों से हुआ था- "पूर्व पीठिका पृष्ठ 609।

प्रश्न होता है कि जब पूर्वों की भाषा अर्धमागधी थी तो कसायपाहुड व छक्खडागम शौरसेनी कैसे बन गए जबकि उनका निकास अर्धमागधी

से हुआ? इसके सिवाय उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ताओं के सम्बंध में कहीं यह भी प्रमाण नहीं मिलता कि वे कभी उत्तरभारत के शूरसेन प्रदेश में आए हों जिससे उनकी भाषा शौरसेनी मानने की सम्भावना को बल मिले। दक्षिण प्रदेश में शौरसेनी के प्रचार होने का निराकरण तो हम खारवेल शिलालेख प्रसंग में कर चुके हैं। हम यह भी लिख चुके हैं कि भद्रबाहु काल में ग्रन्थ नहीं थे, जिन्हें मुनिगण साथ ले गये हों। ऐसे में शौरसेनी मात्र के गीत गाना मात्र छल है? हाँ, यह तो सम्भव था कि रचनाकार उभय महामुनि गुजरात में प्रवास करते रहे और पुष्पदन्ताचार्य का अंकलेश्वर (जो महाराष्ट्र के निकटस्थ है) में चातुर्मास हुआ, ऐसे में कदाचित् महाराष्ट्री का प्रभाव पड़ा हो। शौरसेनी मात्र तो सर्वथा असंभव है। कहीं ऐसा भी नहीं पढ़ा गया कि आचार्य कुन्दकुन्द भी कभी शूरसेन देश में विहार किये हों जो येनकेन प्रकारेण उनकी भाषा शौरसेनी मात्र स्वीकार की जा सके।

प्राकृत की दो रचनाएं

परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी की प्रेरणा और आशीर्वाद में एक 'कुन्दकुन्द शब्दकोश' डॉ. उदयचंद जी द्वारा संपादित हुआ है। उसमें अरहंत शब्द तो अनेक स्थलों पर बताया गया है जबकि अरिहंत शब्द का कहीं उल्लेख भी नहीं है। क्या कोशकार विद्वान् इस बात से अनभिज्ञ रहे जो पं. बलभद्र जी के ज्ञान में आ गयी? यदि वे ऐसा समझे होते कि अरहंत खोटा सिक्का है तो अवश्य ही कोश में उसका समावेश न करते। पूज्य आचार्य विद्यासागर भी यदि इसे खोटा सिक्का स्वीकारते तो संपादक को अवश्य वर्जन करते जैसाकि आचार्य श्री ने नहीं किया।

शौरसेनी व्याकरणकार इन्हीं डॉ. उदयचन्द ने अपने व्याकरण में पृष्ठ 25 पर "पुग्गली, पुग्गला और इसी व्याकरण की पाठमाला में पृष्ठ 81 पर पंचास्तिकाय की गाथा 136 में अरहंत शब्द का पाठ दिया है। क्या सहयोगी उक्त डाक्टर साहब इन दोनों को खोटा सिक्का नहीं मानते रहे जो प्रामाणिक ग्रन्थों में इन दोनों शब्दों का समावेश कर बैठे।

उपहार जो हमें मिले

बलिहारी है उपहार बांटनेवालों की कि वे सभी को उपकृत करने की कसम खाए बैठे हैं। जब उस परिसर से पवित्र "णमो अरहंताणं" तक को खोटे सिक्के जैसा उपहार मिल गया, तब हमें पल्लवग्राहिपांडित्यं, विकलांग मनःस्थिति वाले, व अपाहिज-विकलांग चिन्तन वाले जैसे उपहार मिलना कोई आश्चर्यकारी नहीं। हमारी क्या हानि है? कुछ मिला ही तो। क्या करें, हमारी अवस्था भी तो ऐसी ही है। इस अवसर पर हमें निम्न पंक्तियाँ याद आ गयीं—

'उन्हें यह फिक्र है हरदम, नई तर्जे जफा क्या हो।
हमें यह शौक है देखें सितम की इन्तहा क्या हो।।'

यह समय की ही बलिहारी है कि आगम भाषा तथा मूल णमोकार मंत्र के अरहंताणं जैसे पूज्य पद को खोटा सिक्का कहने वाले चैन की वशी बजाये और आगमों की प्रतिष्ठा मे रच-पच रहे जनों पर प्रहार हों, ठीक ही है. ..

रामचन्द्र कह गये सिया से..........

एक बात और। इन्दौर के विद्वान् श्री नाथूलाल जी शास्त्री में हमारी श्रद्धा रही है। वे सरल प्रवृत्ति के निर्लोभ, मुनियों जैसे हित-प्रिय वचनालापी हैं। हमें 'प्राकृत विद्या' में उनके अभिमत को पढकर आश्चर्य हुआ कि "इस अंक में णमो अरिहंताणं का विकल्प णमो अरहंताणं नहीं है। यह सप्रमाण स्पष्ट किया गया है।"

ऐसा प्रतीत होता है कि पंडित जी पूर्वापर विचार के बिना किसी इकतरफा प्रमाण के चक्कर में आ गये। अन्यथा उन्होंने सन् 1990 में छपे ग्रन्थ "प्रतिष्ठा प्रदीप" में स्वयं ही कम से कम 14 बार **"अरहंताणं"** पाठ दिया है। इसके सिवाय बीजरूप में बने विनायक और मोक्षमार्ग यंत्रों में दो बार **अरहंताणं** पाठ दिया है जबकि बीज मंत्र शुद्ध ही होता है। हमने भी अपने लेख में पंडित जी की भांति ही दोनों रूपों को प्रामाणिकता देकर

समान श्रेणी में रखा है और दोनों ही रूप चलन में हैं और इनके मान्य व्याकरण से भी सिद्ध है। यह भी हम इसी लेख में स्पष्ट कर चुके हैं। स्मरण रहे कि इन दिनों विद्वानों की दुहाई पर आगम-मूल बदले जा रहे हैं। आशा है कि पंडित जी हमारी स्पष्टवादिता को जिनवाणी की रक्षा के पक्ष में लेंगे क्योंकि हम जिनवाणी के परीक्षण में वोटों के पक्षपाती नहीं। आगम का निर्णय आगम से होता है इसके पक्षपाती हैं। आशा है कि पंडित जी दोनों पदो की प्रामाणिकता पर पूर्ववत् दृढ़ रहे मूलमंत्र के आगमिक दोनों रूपों को (जो प्राचीनतम ग्रन्थो में उपलब्ध हैं) बचाने में सहायी होंगे और स्पष्ट करेंगे। पंडित जी की "जैन संस्कार विधि" में भी 'अरहंताणं' पद सुरक्षित है।

एक नवीन उपलब्धि की आशा

डा देवेन्द्र कुमार जैन प्राकृत के ख्याति प्राप्त विद्वान् हैं। उन्होंने "रयणसार" का सम्पादन किया जो सन् 1974 में कुन्दकुन्द भारती दिल्ली से प्रकाशित हुआ। डा. साहब ने लिखा है कि 'रयणसार का प्रारम्भिक कार्य पूज्य मूनि श्री (विद्यानन्द जी महाराज) के निर्देशन में आरम्भ हुआ था.....हमने अपनी समझ से......जो पाठ निश्चित किये थे उनका मिलान स्वयं मुनि श्री जी ने श्री महावीर जी में कन्नड़ी मुद्रित प्रति के आधार पर किया था।'

इसके उपरांत पं. बलभद्र जी ने "रयणसार" का संपादन किया जो सन् 1979 में जयपुर से छपा। उसके आभार प्रदर्शन में पंडित जी ने लिखा है- "पूज्य महाराज श्री (विद्यानन्दजी) का सदा मुझे आशीर्वाद और विश्वास प्राप्त रहा है। इस ग्रन्थ की मार्गदिशा मुझे आपसे ही प्राप्त हुई है। आपने इसे आद्योपान्त देखकर आवश्यक संशोधन आदि के निर्देश भी दिये।"

पं. बलभद्र जी (जो अब कुन्दकुन्द भारती के अधिष्ठाता और वहां से प्रकाशित ग्रन्थों के संपादक हैं) ने उक्त ग्रन्थ के पुरोवाक् में लिखा है

कि **"कुन्दकुन्द साहित्य की भाषा अत्यंत भ्रष्ट और अशुद्ध है। यह वाक्य केवल रयणसार के मुद्रित संस्करणों के ही सम्बन्ध में नहीं कुन्दकुन्द के सभी प्रकाशित ग्रन्थों के बारे में है।"**

उक्त पंक्तियो को पढ़कर हमें ऐसा लगा कि डा. देवेन्द्रकुमार जी भी शायद कहीं स्खलित हुए हों। फलतः हमने दोनों प्रतियों का मिलान किया। हमें दोनों में परस्पर पर्याप्त अन्तर मिला। हम सोचते रहे कि कुंदकुंद भारती का प्रकाशन अशुद्ध कैसे हो सकता है? फिर वह डा. देवेन्द्रकुमार द्वारा संपादित भी तो है और देवेन्द्रकुमार जी प्राकृत निष्णात हैं।

बाद में हम जान पाये कि यह भाषा का अन्तर है। डा. देवेन्द्रकुमार के संपादन तक भाषा में एकरूपता नहीं थी, पूर्ववत् स्थिति थी और बलभद्र जी के सपादन में वह भाषा शौरसेनी का रूप धारण कर चुकी कही जा रही है। फलतः ग्रन्थ को दो रूप हमारे समाने आए और हम निश्चय न कर पाये कि दोनों के संपादनों में किसका रूप प्राचीन आगमो की भाषा से सम्मत है/क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय अंगपूर्वो की अर्धमागधी भाषा से सहमत रहे हैं और जैन आगमों के लिए वही प्राचीन है। शौरसेनी आदि भेद तो पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों द्वारा प्रकट किये गये हैं और वे भाषाएं सार्वभौमिक नहीं, अपितु क्षेत्रीय भाषाएं हैं। अभी तक भी उन क्षेत्रीय भाषाओं के एकाकी सार्वजनिक ग्रंथ कहीं सुनने व देखने में नहीं आये और न किसी तीर्थंकर या गणधर के ही किसी एक भाषा मे बंधकर बोलने का उल्लेख आया। सभी की अर्धमागधी भाषा रही और देवकृत अतिशय भी अर्धमागधी भाषा है जिसे दिगम्बरों में शौरसेनी बहुल (मिली-जुली) के कारण जैन शौरसेनी कहा गया। यदि ऐसे में भी शौरसेनी आदि में से मात्र क्षेत्रीय किसी एक भाषा को दिगम्बर आगमों की भाषा घोषित कर दिया जाय तो क्या दिगम्बर आगमों और दिगम्बरों की प्राचीनता को सिद्ध किया जा सकेगा, चिन्तनीय है। स्मरण रहे कि परम्परित आचार्य भी उसी भाषा (जैन-शौरसेनी) का अनुसरण करते रहे हैं और इसी से उनके वचनो को प्रामाणिकता मिली है।

डा. ए. एन. उपाध्ये एव डॉ. हीरालाल जैन दोनों मनीषियों ने प्राकृत भाषा के ग्रन्थों का सम्पादन किया तथा परंपरित प्राचीनतम दिगम्बर आगमों के व्यवस्थित प्रकाशनों के लिए नियत पं बालचन्द्र शास्त्री एवं हीरालाल शास्त्री प्रभृति अन्य विद्वानों को अपना पूरा दिशा निर्देश किया। हमारी दृष्टि में प्राकृत भाषा में आज शायद ही कोई दिगम्बर जैन विद्वान् ऐसा हो जो अपने को उनके समान विज्ञ घोषित कर सके। दोनों मनीषियों ने आगमिक प्राकृतों का गहन अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला कि दिगम्बर आगमों की भाषा कोई एक जातीय (शौरसेनी आदि) प्राकृत भाषा नहीं है, अपितु आगमों की मूलभाषा में अन्य जातीय भाषाएं भी गर्भित हैं। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि को सर्व-भाषा-मिश्रित कहा है। गणधर और परम्परित आचार्य उस भाषा को अर्धमागधी में प्रकट करते हैं। वह प्रमाणित होती है—आगम भी प्रामाणिक होते हैं। यदि उसमें बिन्दु मात्र का भी अन्तर हो जाय तो वह गणधर की वाणी नहीं कहलाई जायगी—किसी अन्य की वाणी होगी। फलतः आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं साक्षी दी कि "सुय केवली भणियं"—यानी मैं कुछ नहीं कह रहा अपितु जो श्रुत केवली ने कहा वही कह रहा हूँ आदि। जिन सहस्रनाम के तीर्थकृच्छतक के श्लोक 53 मे गृहीत् **'सर्वभाषामयीगीः'** का अर्थ आशाधर स्वोपज्ञवृत्ति में **'सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य'** अर्थात् जिनकी वाणी सर्वदेशों की भाषामयी थी-ऐसा किया है।

इसी स्तोत्र की श्रुतसागरी टीका श्लोक 50 में गृहीत **'अर्ध मागधीयोक्ति'** अर्थ **'अर्ध मगध देश भाषात्मकं। अर्धं च सर्व भाषात्मकं'** अर्थात् आधी मगध देश की भाषा और आधी (में) सर्वभाषाएँ (थीं) ऐसा किया है।

महापुराण 33/120 श्लोक में **'नाना भाषात्मिकां दिव्य भाषाम्'** और इसी पुराण के 33/148 में **'अशेषभाषा भेदानुकारिणी'** का अर्थ (भाव) भी यही है कि अर्धमागधी भाषा थी। इसी कथन की पुष्टि द. पा. टीका 35/28/12, चन्द्रप्रभ 18/1, क्रिया क. पृ. 247 में भी की गई है। इसके सिवाय हमारी दृष्टि में **कहीं किसी परम्परिताचार्य का कोई**

उल्लेख देखने में नहीं आया कि आगमवाणी शौरसेनी (शूरसेन देश की) भाषा मात्र में थी। और न ही आचार्यों द्वारा कथित कोई प्राचीन प्रमाण शौरसेनी पोषकों द्वारा मिला।

भ्रामक प्रचार :

गत श्रुतपंचमी के अवसर पर एक इश्तिहार शौरसेनी प्राकृत के प्रचार में प्रकाशित था, जिसमें पद्मपुराण का श्लोक अंकित था–

नामाख्यातोपसर्गेषु निपातेषु च संस्कृता।
प्राकृती शौरसेनी च भाषा यत्र त्रयी स्मृता:।।24।11

उक्त श्लोक तीर्थंकर मुनिसुव्रत के शासन काल में उत्पन्न केकयी के भाषाज्ञान के संबंध में है कि वह उक्त तीनों (सस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी) भाषाओं को जानती थी। पर शौरसेनी प्राकृत पोषकों को शौरसेनी शब्द से ऐसा लगा कि यह शौरसेनी प्राकृत है। बस, इन्होंने उस शौरसेनी को अपनी अभीष्ट प्राकृत के भेद रूप में प्रचारित कर दिया। वास्तव में वह शौरसेनी यदि प्राकृत होती तो वह प्राकृति शब्द में गर्भित हो जाती, अलग से उसका कथन न होता। और यदि कदाचित् **'संस्कृता'** शब्द को **'प्राकृती शौरसेनी'** का विशेषण मान लें तो संस्कृत भाषा के अभाव मे दो ही भाषाएँ रह जाती हैं–जबकि कर्ता को भाषात्रयी इष्ट है।

प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने स्पष्ट तीन भाषाओं का ही उल्लेख किया है तथाहि–

'प्रातिपदिक, तिङन्त, उपसर्ग और निपातों में संस्कार को प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी ये तीन प्रकार की भाषा जिसमें स्थित थीं।' पद्मपुराण 24।11। पाठक विचार करें कि नामाख्यातोपसर्ग निपात संस्कारित संस्कृत भाषा, प्रदत्त प्राकृत भाषा और प्राकृत से भिन्न कोई प्रादेशिक शौरसेनी भाषा है।

पिछले दिनों किन्हीं विद्वान ने 'प्राकृती शौरसेनी' दोनों शब्दों का मेल बिठाने के लिए लिखा है कि—"शौरसेनी प्रकृति" है। यानी ऐसा अर्थ वे अब समझ पाए। पर, हम स्पष्ट कर दें कि ये दोनों भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। स्मरण रहे कि यदि यहाँ शौरसेनी प्रकृति होती तो उस अर्थ के लिए यहाँ 'प्राकृती नहीं अपितु 'प्रकृति' शब्द होता। आचार्य हेमचन्द्र ने तो स्वयं ही व्याकरण संबंधी अपनी शब्द सिद्धियों में 'संस्कृत' को ही प्रकृति कहा है। वे तो 'शौरसेनी' संबंधी विशिष्ट 26 सूत्रो के अन्त में इतना तक कह रहे हैं कि **'शेषं प्राकृतवत्।'** इस भाँति 'शौरसेनी' प्राकृत की प्रकृति नहीं है। यदि सभी प्राकृतों की प्रकृति शौरसेनी होती तो उन्हें शौरसेनी को 'शेष प्राकृतवत' लिखने की आवश्यकता ही न होती। अस्तु।

ऐसे ही शौरसेनी प्राकृत की पुष्टि में बाल्मीकि रामायण और कुमार संभव के जो दो श्लोक उद्धृत किए हैं उनमें न तो शौरसेनी का नाम है और न ही कोई प्रसंग है। वैसे ही लोगों को भरमाया जा रहा है।

सर्वांगीण भाषा :

पहिले हम लिख चुके हैं कि शौरसेनी कोई स्वतंत्र सर्वांगीण प्राकृत भाषा नहीं है और न ही भेद को प्राप्त अन्य प्राकृतें ही सर्वांगीण हैं। और परम्परित प्राचीन जैन-आगम किसी एक भाषा से बँधे नहीं हैं। वे 'दशअष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात शतक सुचेत' के अन्तर्गत हैं—सर्वांगीण भाषा से पूर्ण हैं और शौरसेनी आदि भाषाएँ उसमें गर्भित हैं। जैसे मानव शरीर के उपांग—नाक, कान, आंख, हाथ आदि। ये सब अपने नाम, काम, बनावट आदि द्वारा अपनी अलग पहिचान कराते हुए भी मूल शरीर से पृथक् नहीं हैं और न ही पृथक् रहकर सत्ता में रह सकते हैं और न ही निर्धारित कार्य कर सकते हैं। उन्हें शरीर से भोजन, रक्त, मांस आदि की पूर्ति आवश्यक होती है। वैसे ही केवल एक भाषा-भेद में कोई प्राकृत कार्यकारी नहीं होती—अन्य प्राकृतों का सहयोग आवश्यक है। हाँ, कोई भी 'शब्द रूप' प्राकृत भाषा के अपने स्वरूप मात्र को इंगित करता है कि मैं

अमुक जातीय प्राकृत का शब्द हूँ। किसी गाथा या गद्य में यदि किसी भेद के एक-दो शब्द आ जाय तो पूरा गाथा या गद्य उसी भाषा मात्र का नहीं माना जा सकता। जैसे किसी ने कहा–**'मेरे पास अभी बात करने का 'टाइम' नहीं है'** तो इस वाक्य में एक शब्द 'टाइम' अंग्रेजी का आ जाने से पूरा वाक्य अंग्रेजी भाषा का नहीं कहलाया जा सकता–पूरा वाक्य अपनी भाषा हिन्दी में ही उसे समाहित कर लेगा। अतः वाक्य सामान्य हिन्दी का ही कहलाएगा। ऐसी ही स्थिति शौरसेनी की है कि उस जाति का कोई शब्द (सामान्य प्राकृत के मध्य आकर) किसी पूरे गाथा या गद्य का नामकरण शौरसेनी कराने में समर्थ न होगा। वाक्य की बात ही क्यों यहाँ तो कई शब्द स्वयं ही कई भाषा मिश्रित भी देखे जाते हैं।

यह तो माना ही जा रहा है कि 'जितने प्राकृत व्याकरण हैं, संस्कृत शब्दों से प्राकृत बनाने के नियम दिए हैं–'प्राकृत विद्या' वर्ष 6 अंक 3 पृष्ठ 13।' इसके सिवाय आचार्य हेमचन्द्र ने भी शब्द सिद्धि में **'प्रकृतिः संस्कृतम्'** का निर्देश दिया है। तदनुसार किसी एक शब्द को ही परख लिया जाय कि कैसे उस शब्द रूप में अनेक प्राकृतें समाहित हैं। प्रसग में हम प्राकृत के **भविस्सदि** शब्द पर विचार करते हैं। इस शब्द की संस्कृत की प्रकृति **भविष्यति** है और इसकी प्राकृत–रचना का प्रकार यह है–

इसमें **'प्राकृत प्रकाश'** के सूत्र 2/43 **'शषोसः'** से ष कोस, सूत्र 3/3 **'सर्वत्र लवराम्'** से य् का लोप और सूत्र 3/50 **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** से स को द्वित्व हुआ और ये सभी सूत्र महाराष्ट्री (प्राकृत) के हैं। अतः इतने अंश में उक्त शब्द महाराष्ट्री निष्पन्न है। इसमें **'ति'** को **'दि'** शौरसेनी के नियम से होता है अतः वह भाग शौरसेनी निष्पन्न है। ऐसे में इसे मात्र शौरसेनी का कैसे कहा जा सकता है? यह तो मिला-जुला भाषा रूप है। ऐसे ही पिछले दिनों कुन्दकुन्द भारती की ओर से एक शौरसेनी प्राकृत कवि गोष्ठी कराई गई थी। उसमें शौरसेनी कविता पाठ कराया गया। यद्यपि हमें वह कविता संग्रह अप्राप्त रहा। फिर भी 'प्राकृत विद्या'–वर्ष 7 अंक 1 में शौरसेनी नाम से प्रचारित एक रचना **'विज्जाणंद थुदि'** शीर्षक से हमने

देखी। उक्त शीर्षक ही मात्र शौरसेनी में नहीं है इसमें भी दो भाषाएँ गर्भित हैं। संस्कृत के **'विद्यानन्द स्तुति'** रूप से प्राकृत रूप **'विज्जाणंद थुदि'** बना है। तथाहि–प्राकृत प्रकाश के सूत्र 3/27 **'त्याध्या द्याम् चछजाः'** से 'द्य' को 'ज' हुआ और सूत्र 3/50 **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** से ज् को द्वित्व हुआ। उक्त दोनों सूत्र महाराष्ट्री (प्राकृत) के हैं। सूत्र 2/42 **'नोणः सर्वत्र'** से न का **ण** हुआ तब **'विज्जाणंद'** बना। **'स्तुति'** शब्द में हेम सूत्र 8/2/46 **'स्तवे वा'** महाराष्ट्री (प्राकृत) से **'स्त'** को **'थ'** हुआ। और केवल शौरसेनी के एक नियम मात्र से **ति** को **दि** होने से **'थुदि'** शब्द संपन्न हुआ। ऐसे में शौरसेनी का मात्र एक नियम प्रयुक्त होने से (शेष संपूर्ण शब्द रूपों में सामान्य प्राकृत होने) से पूरे **'विज्जाणंद थुदि'** रूप को मात्र शौरसेनी का कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् नहीं कहा जा सकता। इतना मात्र ही है कि 'दि' रूप शौरसेनी का स्वयं में बोध दे रहा है कि मात्र मैं शौरसेनी का रूप हूँ। ऐसे ही 'कुन्दकुन्द भारती' से प्रकाशित कथित शौरसेनी ग्रन्थ 'णियमसार' में 'कुन्दकुन्द आचार्य' के लिए प्राकृत में 'कोंडकुंड आइरिय' लिखा गया है। वह भी शौरसेनी प्राकृत का नहीं है। यदि शौरसेनी के सूत्र कोई हों तो 'द' को 'ड' और आचार्य को आइरिय करने के विशिष्ट सूत्र खोजें। इस भाँति प्राकृत की सभी रचनाएं मिली-जुली भाषा से ही संपन्न हैं–**यह निष्कर्ष व्याकरण की अपेक्षा करने वालों के बोध के लिए हैं**। हम तो प्राकृत को प्रकृति प्रदत्त भाषा मानने के सभी रूपों को ही मानते हैं। अस्तु।

णमोकार मंत्र की भाषा :

न्याय सम्मत उक्त दृष्टि की अवहेलना करने वालों और मात्र शौरसेनी के गीतगाने वालों से हमारा निवेदन है कि वे अपनी दृष्टि को मूलमंत्र णमोकार में ले जाएँ। यद्यपि उन्होंने 'अरहंताणं' पद को खोटा सिक्का लिखने तक में संकोच नहीं किया था और हमारे द्वारा स्पष्टीकरण दिए जाने पर उन्होंने दोनों रूपों को शुद्ध मान, अपनी भूल को, हम पर यह लांछन लगाते हुए (प्रकारान्तर से) स्वीकार कर लिया कि–"णमो अरिहंताणं पाठ के विषय में लिखे गए लेख को लेकर कई तरह के

विसंवाद फैलाये जा रहे हैं एवं समाज को उत्तेजित किया जा रहा है।'

हम लिख दें कि यह सब शास्त्रीय विषय है इसमें विधिपूर्वक सप्रमाण स्थिति, जन सामान्य को बताना आवश्यक है। सो हमने सप्रमाण स्पष्टीकरण किया था। यह समाज को भड़काने या उसमें विसंवाद फैलाने की बात नहीं थी। विसंवाद फैलाने और समाज को भड़काने की बात तो तब होती जब हम किसी को सत्याग्रह करने, घिराव करा देने अथवा कानूनी कार्यवाही करने की बात को उछालते। हमने तो साधारण रीति से न्यायोचित मार्ग समक्ष रखा। हम इन बातों को उछालना नहीं चाहते, जो लिखते हैं वह सप्रमाण लिखते हैं, बिना किसी आर्थिक सहयोग के।

अब हम **'अरहंताणं'** की बात ही नहीं लिखते वरन्, पूरे मूल मंत्र के प्रसंग को उठाते है कि–दिगम्बर आगमों की मूल परम्परित प्राचीन भाषा को शौरसेनी घोषित करने वाले **व्याकरणज्ञ व्यक्ति,** अपनी मान्यता की परख का मंगलाचरण मूलमंत्र के शब्द रूपों के चिन्तन से ही करें कि उसमें कितने पद शौरसेनी व्याकरण सम्मत हैं? और णमोकार मंत्र क्यो दिगम्बरों द्वारा मान्य है? (द्रष्टव्य- कैंसर में तब्दील होती शौरसेनी की गांठ पृष्ठ 170-175)

नम्र निवेदन :

हम निवेदन कर दें कि हम प्रारम्भ से ही ग्रन्थ सम्पादन की परम्परित और सर्वमान्य परिपाटी के पक्षधर रहे हैं और शब्द के किसी भी बदलाव को टिप्पण में देने की बात करते रहे हैं और विद्वानों की सम्मतियां भी प्रकाश मे ला चुके हैं। परम्परा की लीक से हटकर कोई सम्पादन करना मूल को बदलना ही है, जिसे कि **रचियता की स्व-हस्तलिखित प्रति के अभाव में कदापि बदला नहीं जा सकता।** उक्त विधि के अतिरिक्त अन्य विधि अपनाना मूल का सर्वथा अनिश्चय और घात है।

यह तो निश्चित है कि व्याकरणमान्य शौरसेनी के मात्र 26 सूत्रों की परिधि मे किसी स्वतंत्र शौरसेनी ग्रन्थ की रचना सर्वथा असंभव है और

पश्चाद्वर्ती भेद को प्राप्त सामान्य प्राकृतों का प्रयोग उनमें अवश्यंभावी है और इसीलिए अर्धमागधी (मिश्रित) भाषा की मुख्यता है। उदाहरण के लिए 'विज्जाणण्द' शब्द का उल्लेख हम कर ही चुके हैं। पाठक विचारें कि कैसे कोई ग्रन्थ मात्र शौरसेनी में निर्मित होना संभव है? धांधली और दुराग्रह का इस अर्थ युग में कोई इलाज नहीं, चाहे कोई भी किसी रचना को किसी भाषा की घोषित कर पुरस्कारों की घोषणा करता रहे। पैसे वालों को क्या रोक है। फिर पैसे के शैदाइयों की कमी भी तो नहीं। ऐसे ही में तो आचार में भी बदलाव परिलक्षित होता है। हम श्रावकों और मुनियों तक में मूलगुणों का पूर्ण अस्तित्व नहीं रह गया है। लोभ रूप परिग्रह जो भी अनर्थ करा दे वह थोड़ा है।

प्रसंग में यह तो संशोधकों को सोचना हैं कि वे कौन-सी नीति को अपना कर स्वयं पूर्वाचार्यो के अपमान पर कमर कसे हुए हैं और क्यों टिप्पण देने से कतरा रहे हैं। उनकी दृष्टि में जिन आचार्यों ने **'अरिहंताणं'** पाठ दिया है क्या उन्हीं आचार्यों ने अपनी रचनाओं में शौरसेनी–बाह्य से शब्द प्रयोग नहीं दिए? या अन्य प्रतिष्ठित आचार्यों ने 'अरहंताणं' का प्रयोग नहीं किया? क्या वे आचार्य मिथ्या हैं? उदाहरण के लिए पुष्पदन्ताचार्य, वीरसेनाचार्य के प्रयुक्त शौरसेनी–बाह्य निम्न शब्द रूप ही देखे जाय–

षट्खंडागम मूलसूत्र=1.1.12 में **'सम्माइट्ठी**। सूत्र 1.1.60 व 177 में **विग्गहगइ'**। सूत्र 1.1.27 व 176 में **'वीयराय'** सूत्र 1.1.4 'गइ'। **'सम्माइट्ठी' 'मिच्छाइट्ठी'** अनेक सूत्रों में।

षटखंडागम टीका=1.1 पृ. 171 **'उच्चइ' कुणइ, पडिवज्जइ, ढुक्कइ**। पृ. 98 **'अस्सिऊण'** पृ. 68 **'जयउ-सुय-देवदा', 'भणिऊण'** आदि। इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द है।

पाठक यह भी विचारें कि जब वीरसेनाचार्य णमोकारमंत्र की संस्कृत भाषा संबंधी व्याख्या में 'अर्हन्त' शब्द की वैकल्पित व्युत्पत्ति 'अतिशय पूजार्हत्वाद्वार्हन्तः' लिख रहे हैं, तो 'अर्ह' धातु निष्पन्न संस्कृत 'अर्हन्त' शब्द का प्राकृत रूप 'अरहंत' होगा या 'अरिहंत'? यदि शौरसेनी में 'इंकार' करने के लिए निर्धारित कोई सूत्र हो तो दृष्टिगत होना चाहिए।

सर्वविदित है कि दिगम्बरों को परवर्ती सिद्ध करने के लिए विपक्षियों के प्रयास दीर्घकाल से चले आ रहे हैं। वे इस उपक्रम में कुन्दकुन्द आचार्य को पाँचवी-छठवीं शताब्दी तक ले जाने के प्रयत्न करते रहे हैं। इसी प्रकार वे दिगम्बर आगमों को परवर्ती और तीर्थंकर व गणधर की वाणी से बाह्य सिद्ध करने के लिए उन्हें अर्धमागधी हीन बतलाकर शौरसेनी भाषा में निबद्ध होने की बात करते रहे हैं। जबकि स्वयं दिगम्बर लोग गणधर की वाणी को अर्धमागधी (मिली-जुली भाषा–जैन शौरसेनी) घोषित करते हैं।

मुनि गुलाबचन्द 'निर्मोही' ने 'तुलसी-प्रज्ञा' के अक्टूबर-दिसम्बर 1994 के अक में पृ. 190 पर लिखा है 'जैन तीर्थंकर' प्राकृत अर्धमागधी में प्रवचन करते थे। उनकी वाणी का संग्रह आगमग्रन्थों में ग्रथित हुआ है। श्वेताम्बर जैनों के आगम.....अर्धमागधी भाषा में रचित है। दिगम्बर जैन साहित्य षट्खंडागम, कसायपाहुड, समयसार आदि शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है, इसी लेख में पृ. 182 पर उन्होंने व्याकरण रचियता काल (भाषा भेद काल) भी दिया है जिसका प्रारम्भ 2-3 शताब्दी से लिखा है। यह सब दिगम्बर आगमों को तीर्थंकर वाणी बाह्य और पश्चाद्वर्ती सिद्ध करने के प्रयत्न हैं। दिगम्बरों को यह सोचना चाहिए कि क्यों (अनजाने में) वे दिगम्बरत्व को स्वयं ही पीछे धकेल रहे हैं?

हमारा तो इतना ही निवेदन है कि संशोधक टिप्पण दें और यदि प्राकृत में उनका प्रखर ज्ञान है तो अपने स्वतंत्र ग्रन्थ रचकर शास्त्राचार्यो की श्रेणी में बैठ जाएं। इस भांति उनकी प्रतिष्ठा भी होगी और प्राचीन आगम विरूप होने से भी बच जाएँगे। यह विषय अन्य विवाद में उलझने, उलझाने का नहीं–टिप्पण देकर सभी दिगम्बर आगमों के संरक्षण का है।

संपादन और संपादक

परम्परित-प्राचीनतम दिगम्बर आगम प्रायः सार्वजनिक प्राकृत-भाषा में निबद्ध हैं। उनके संपादन के लिए जब कोई अन्य व्यक्ति स्वयं सन्नद्ध होता है अथवा अन्य किसी को संपादन के लिए प्रेरित करता है तब हम सोचते हैं कि जब आगमों के मूलकर्ता उनका स्वयं संपादन कर चुके तब

अन्य किसी को उनके संपादक यानी संपादनकर्ता बनने का अधिकार ही कहाँ? हम नहीं समझ पाए कि प्राचीनतम आगमों के नए-नए संपादक बनने की परम्परा ने कब और कैसे जन्म लिया? या किसी मूलकर्त्ता ने कब किसी अन्य को संपादन के लिए अधिकृत किया? हमारी समझ से वेद, आगम, कुरान, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहिब जैसों का संपादन नहीं, अपितु छायानुकरण होता है। यदि कदाचित् दुर्भाग्यवश कालान्तर में छायानुकरणकर्ताओं की अज्ञानता या असावधानी से छायानुकरण में विभिन्न प्रतियों में भेद पड़ गया हो तो वहाँ किसी एक प्रति को आदर्श मानकर अन्य प्रतियों में उपलब्ध पाठ भेदों को यथाशक्य टिप्पण में देने की प्राचीन परम्परा है। इसके सिवाय किसी को ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं कि वह रचयिता की स्व-हस्तलिखित प्रति के बिना स्वेच्छा से किसी प्राकृत मूलपाठ का निश्चय कर सके या बदल सके। अन्यथा, पाठ में कोई परिवर्तन करने का तात्पर्य होगा कि अब तक का उपलब्ध मूल पाठ अप्रामाणिक था और अब कोई उसमें प्रामाणिकता ला रहा है- यानी आर्ष का संशोधन कर रहा है। यदि आगमों का उपलब्ध अद्यावधि अशुद्ध था तो वह आगम की श्रेणी में ही नहीं। यतः **आगम तो वेद आदि की भाँति अपरिवर्तनीय और सर्वथा शुद्ध ही होता है।**

पाठकों को स्मरण होगा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार आदि के अनुचित संपादन का विरोध करते हमें लगभग 15 वर्ष हो रहे हैं और अनधिकृत संपादक व प्रकाशक समूह तथा भ्रष्ट-परंपरा पोषक वैसे ही लोगों द्वारा आज तक अन्याय सम्मत मार्ग ही अपनाया गया है। बावजूद इसके हमें भी उक्त पाप में घसीटने के लिए पिछले दिनों दि. 25.8.1995 में कहीं संदेश पहुँचाया गया है–**"वे (पं. पद्मचन्द्र जी) स्वयं समयसार का संपादन कर प्रकाशित क्यों नहीं करा देते ताकि जो शुद्ध पाठ हैं, वे व्यवस्थित आ सकें।"**

हम निवेदन कर दें कि परम्परित पूर्वाचार्यों द्वारा संपादित (कृत) आगमों का संपादक बनने का हमें अधिकार नहीं। संपादन करना अनधिकार चेष्टा तो होगी ही और साथ में पूर्वाचार्यों की अवहेलना भी। यतः- न तो

हमें आगमकर्ता ने अधिकृत किया और न ही हममें उनसे अधिक योग्यता है। फिर पाठ-भेदों की उपलब्धि में आचार्य के मूलशब्द-रूपों को भी हम कैसे ग्रहण कर सकेंगे? हम तो आगम में जहाँ जैसा जो पाठ है (अर्थ भेद के अभाव में) उसे ही प्रमाण मानते रहे हैं और विवादित स्थलो पर **'आगम में शंका न धार'** का अनुसरण करते रहे हैं।

चूंकि उक्त आगम, प्राकृत भाषा बद्ध हैं अतः हम संपादक और संपादन की परिभाषा (अर्थ) के विषय में प्राकृत कोषों को ही प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं। तथाहि–

(1) **संपाडग (संपादक) कर्ता, निर्माता।**
संपाडण (संपादन) निष्पादन, करण, निर्माण।

–पाइअ सद्दमहण्णव (कोष)।

(2) संपाडग (संपादक) कर्ता, निर्माता, Author, Maker
संपाडण (संपादक) निष्पादन, Producing, causing,
करण, निर्माण, Formation, Creating.

–अर्धमागधी कोष

उक्त प्रसंगों से पाठक निर्णय करें कि उक्त आगम के **मूलकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द संपादक हैं या वर्तमान में उछल-कूद करने वाले हम ऐरे-गैरे चन्द लोग?** हम इसका निर्णय विचारकों पर छोड़ते है। हाँ, हमारी दृष्टि स्पष्ट है कि हम किसी भी भाँति संपादक बनने के लिए तैयार नहीं।

नई ही घटना है कि कुछ दिन पूर्व एक पत्रकार ने हमारे कार्यों पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपनी पत्रिका में छाप दिया–**"परमसाधुवृत्ति श्रावक, पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।**

बस, क्या था कुछ लोगों ने हमें टोकना शुरू कर दिया–वे बोले– आप तो अच्छे खासे घूम फिर रहे हैं–जीवित और स्वस्थ हैं और पत्रिका में आपको श्रद्धांजलि अर्पित (जो मृत्यु के बाद अर्पित होती है) होने के समाचार पढ़े हैं।

हमने कहा—श्रद्धांजलि का अर्थ श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़ना है और यह श्रेष्ठ शब्द है। पर, जलांजली शब्द के अनुरूप इसे मरण से जोड़ लिया गया मालूम होता है। लोक में मृत्यु के बाद जल-अंजली (पानी) देने का प्रचलन में हुआ हो और कालान्तर में किसी अन्य की कृति को छापने के योग्य बनाने को संपादन तथा छापने योग्य बनाने वाले को संपादक नाम से संबोधित किया जाने लगा हो। पर इससे संपादक और संपादन के कोष-सम्मत अर्थों में तो अन्तर नहीं पड़ता—मूलकर्ता सम्पादक होता है और सम्पादन भी उसी का, किसी अन्य का नहीं। ऐसे में कुन्दकुन्दादि की मूल कृतियों के संपादक बनने जैसी धृष्टता हम क्यों करें? स्मरण रहे कि आ. कुन्दकुन्द की कृति 'हिमालय मे दिगम्बर मुनि' जैसी कृति नहीं, जिसका चाहे जो संपादक बन बैठे और चाहे जो सर्वाधिकार सुरक्षित जैसी घोषणा कर दे। आचार्य कुन्दकुन्द तो आगम धुंरधर ऐसे संपादक हैं जिनका स्थान अन्य नहीं ले सकता। वे राष्ट्र के प्राणभूत धर्म-सन्त थे। और ज्ञान चारित्र संत भी।

क्या आपने देखा है?

उक्त पत्र में लिखा है—

"प गजाधर जी द्वारा संपादित एवं प्रकाशक नेमीचन्द महावीर प्रसाद पाण्ड्या द्वारा वी.नि.स. 2468 में कलकत्ता से प्रकाशित प्राचीन समयसार प्रतियों को **क्या आपने देखा है? उन विद्वानों नें जो मूलपाठ रखे हैं, हमने वही लिए हैं**। दोनों समयसारों का विवरण इस प्रकार है—

1. समय प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द) संपादक पं० गजाधरलाल जैन, सनातन जैन ग्रन्थ माला, बनारस, सन् 1914 में प्रकाशित।

2. समय प्राभृत (आत्मख्याति सहित) आचार्य अमृतचन्द्र कृत संस्कृत टीका, पं. जयचन्द जी छाबड़ा हिन्दी टीका सहित। प्रकाशक श्री नेमीचन्द महावीर प्रसाद पाण्डया, कलकत्ता, वी. निर्वाण संवत् 2468 में प्रकाशित।"

हम स्पष्ट कर दें कि हमने किसी भी मूल प्रति के मूल पाठ लेने का

सदा समर्थन किया है। ऐसे में 'हमने मूल पाठ वहीं रखे हैं' जैसी बात कहना इनका निष्फल प्रयास है। इन्हें तो यह बतलाना चाहिए था कि **इन्होंने उक्त प्रतियों के या अन्य प्रतियों के जिन पाठों का बहिष्कार किया है वे मूलपाठ कौन से हैं** और बहिष्कार क्यों? मुन्नुडि से जब हमें पता चला कि इन्होंने **उचित पाठों को रखा।** तब पढ़कर हमें ऐसा लगा कि इन्हें आगम में अनुचित पाठ भी दिखे, जिन्हें इन्होंने मूल पाठों से बहिष्कृत कर दिया। फलतः हमने अनेकों प्रतियों को देखा। उक्त प्रतियों में से भी जो शब्द इन्होंने बहिष्कृत किए, उनकी कुछ तालिका इस भांति है। ऐसे में तालिका देखकर ये ही बताएं कि **इन्होंने उक्त को देखा है क्या?** और यदि देखा है तो क्या इन प्रतियों में इन्हें निम्न पाठ नहीं देखे जो उन प्रतियों का उदाहरण अपनी प्रकाशित प्रति की सफाई में देने लगे? अस्तु। देखें: इनकी बतलाई दोनों प्रतियों के (इनके द्वारा) बहिष्कृत शब्दरूप। तथाहि–

समय प्राभृत (पं. गजाधर लाल) –सन् 1914–	**समय प्राभृत (कलकत्ता)** वी.नि 2468 (प्रकाशक : नेमीचन्द महावीर प्रसाद पाण्डया)
पुग्गल : गाथा 2, 28, 29, 30, 33, 49, 50, 60, 69, 71, 82, 84, 85, 86, 88, 90, 91 92, 93, 95, 98, 111 114, 118, 196, 302, 303, 314, आदि	गाथा 2, 25, 28, 44, 45, 55 (कर्ता कर्म अधिकार में) गाथा 10, 11, 12, 14, 17, 18, 20, 23,
चुक्किज्ज : गाथा 5	गाथा 5
अहमिक्को : गाथा41, 42, 43, 78, 218	गाथा 36, 37, 38 (कर्ताकर्म में 5)
जाणिऊण : गाथा 20	गाथा 17 पृ. 69
इक्को : गाथा 32	गाथा 27 पृ. 84
मणइ : गाथा 37	गाथा 32 पृ. 90

हविज्ज : गाथा 38	गाथा 33 पृ. 91
णाऊण : गाथा 40	गाथा 35 पृ. 95
परिणभई : गाथा 85	गाथा 11 पृ. 163
करिज्ज : गाथा 106	गाथा 31 पृ. 195
भणियं : 153	गाथा 75 पृ. 237
हवइ : गाथा 151	गाथा 73 पृ. 239
जाणइ : गाथा 153	गाथा 75 पृ. 237
इक्कट्ठ : 295	गाथा 35 पृ. 410
मुणेयव्वं : 433	गाथा 95 पृ. 581
सम्माइट्ठी : गाथा 110	गाथा 8 पृ. 320

पाठक विचारें। प्रश्न पाठो के लिये जानने का नहीं है अपितु इनके द्वारा उक्त आगम पाठों का बहिष्कार कर आगम पाठों को मिथ्या बताये जाने का है। और आगम को इस लाँछन से बचाने के लिए हम टिप्पण मात्र देने की बात करते रहे हैं और करते रहेंगे। स्मरण रहे कि हमारा मन्तव्य मूल पाठ की भाषा से ही रहा है अन्य प्रयोजनों से नहीं। जैनं जयतु शासनम्।

❑

आचार्य कुन्द-कुन्द की प्राकृत

प्रायः सभी मानते है कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने जैन शौरसेनी प्राकृत को माध्यम बनाकर ग्रन्थ निर्माण किए। कुछ समय से उनके ग्रन्थों में भाषा की दृष्टि से संशोधन कार्य प्रारम्भ हो गया है और कहा जा रहा है कि इसमें लिपिकारों की संदिग्धता या असावधानी रही है। ये कारण कदाचित् हो सकते हैं और इनके फलस्वरूप अनेक हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों में एक-एक शब्द के विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में जबकि आचार्य कुन्द-कुन्द की स्वय की लिखित किसी ग्रन्थ की कोई मूल प्रति उपलब्ध न हो, यह कहना बड़ा कठिन है कि अमुक शब्द का अमुक रूप ही आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपनी रचना में लिखा था तथा इसकी वास्तविकता में किसी प्राचीन प्रति को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। यत.—'पुराणमित्येव न साधुसर्वम्।'

जहाँ तक जैनशौरसेनी प्राकृत भाषा के नियम का प्रश्न है और कुन्दकुन्द की रचनाओं का प्रश्न है—उनको प्राकृत में उन सभी प्राकृतों के रूप मिलते है जो जैन शौरसेनी की परिधि में आते हैं। उन्होंने सर्वथा न तो महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी अथवा अर्धमागधी को ही अपनाया। अपितु उन्होने उन तीनों प्राकृतो के मिले-जुले रूपों को अपनाया जो (प्राकृत) जैन शौरसेनी में सहयोगी है—जैन शौरसेनी प्राकृत का रूप निश्चय करने के लिए हम भाषा-विशेषज्ञों के अभिमत जान लें ताकि निर्णय मे सुविधा हो—

'मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिताः।।'

यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने जैन शौरसैनी को प्राकृत के मूल भेदों में नहीं गिनाया, तथापि जैन साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता से पाया जाता है। दिगम्बर साहित्य इस भाषा से वैसे ही ओत-प्रोत है। जैसे आगम श्वेताम्बरमान्य अर्धमागधी से। सम्भवतः उत्तर से दक्षिण में जाने के कारण दिगम्बराचार्यों ने इस (जैन शौरसेनी) को जन्म दिया हो–प्रचार की दृष्टि से भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, पर यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है–उससे सिद्धान्त के समझने में सभी को आसानी अनुभव हुई होगी और सिद्धान्त सहज ही प्रचार में आता रहा होगा। यतः इस भाषा मे सभी प्राकृतों के शब्दों का समावेश रहता है–शब्द के किसी एक रूप को ही शुद्ध नहीं माना जाता अपितु सुविधानुसार सभी रूप प्रयोगों में लाए जाते हैं–जैसा कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने भी किया है।

जैनशौरसेनी के सम्बन्ध में निम्न विचार दृष्टव्य है और ये अधिकारी विद्वानों के विचार हैं–

'In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakrit works . ..He remarks that the language of there works is influenced by Ardhamagdhi, Jain Maharastri which approaches it and Saurseni'

—Dr. A.N. Upadhye

(Introduction of Pravachanasara)

'The Prakrit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and this is exectaly the nature of the language called 'Jain Saurseni.'

—Dr. Hiralal

(Introduction of षट् खंडागम P. IV)

'जैन महाराष्ट्री का नाम चुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। वही बात जैन शौरसेनी के बारे में और जोर देकर कही जा

सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोड़ी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा में ऐसे रूप और शब्द हैं जो शौरसेनी में बिल्कुल नहीं मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।'

–पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० 38

प्राचीन आगमों और आचार्य कुन्द-कुन्द की रचनाओं में इसी आधार पर विविध शब्द रूपों के प्रयोग मिलते हैं-दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत नियम को लेकर नहीं चले अपितु उन्होंने अन्य प्राकृतों के शब्द रूपों को भी अपनाया। अतः उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से संशोधन की बात सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। आचार्यों के द्वारा अपनाए गए विविध शब्दरूपों की झलक पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत है–

हमें आशा है कि पाठक तथ्य तक पहुंचेंगे।

दि० जैन आगमों में एक ही आचार्य द्वारा प्रयुक्त विविध प्रयोगः–

षट्खंडागम (1, 1, 1)

(महाराष्ट्री के नियमानुसार 'द' को हटाया)–

उप्पज**इ** (दि) पृ० 110, कुण**इ** पृ० 110, वण्णे**इ** पृ० 98, परुवे**इ** पृ० 99, उच्च**इ** पृ० 171, गच्छ**इ** पृ० 171 ढुक्क**इ** 171, भण**इ** पृ० 266, संभव**इ** पृ० 74।

मिच्छाइट्ठि पृ० 20, वारिसकालो क**ओ** पृ० 71–इत्यादि।

(शौरसेनी के अनुसार 'द' को रहने दिया)–

सुदपारगा पृ० 65, वण्णे**दि** पृ० 96, अच्च**दि** पृ० 76, परुवे**दि** पृ० 105, उपक्कमोग**दो** पृ० 82, स**दं** (तं) पृ०122, णिग्ग**दो** पृ० 127।

('द' लोप के स्थान में 'य' सभी प्राकृतों के अनुसार)

सु**य**सायरपारया पृ० 66, भणि**या** पृ० 65, सु**य**देव**या** पृ० 6 सुयदेवया पृ० 68, वरिसाकालोक**ओ** पृ० 71, णवयस**या** (ता) पृ० 122

कायव्वा पृ० 127, सुयणाणाइज्व (तिलोयपण्णति) पृ० 35 लोप में 'य' और अलोप (दोनों)

कुन्द-कुन्द 'अष्टपाहुड' के विविध प्रयोग–

ग्रन्थ नाम शब्द और गाथा का क्रम-निर्देश–

दर्शनपाहुड	होदि	होइ	होई	हवइ	हवदि	हवेइ
	26	11,27,31	14	20	—	—
सूत्रपाहुड	9, 20	11,14,17	—	19	22	—
		20,24		—	—	39
चरित्रपाहुड	—	16,45	—	34,36	—	—
बोधपाहुड	—	15,36	11,29			
भावपाहुड	—	—	48,65,73			
			127,140	116	20	—
			143,151			51,28,76
मोक्षपाहुड	70,83	52,90	हवई	14,18,38	51,84	87,100
	101,		50	47		
लिंगपाहुड	—	2,13,14	—	—	—	—
शीलपाहुड	—	6	21			
नियमसार	18,29,54	2,4,31	10,172			
	55,58,64	56,57	173,179	—	113,141	5,20
	82,83,94	166,168			161,162	150
	107,142	169,171				
		174,175				

इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द हैं जो विभिन्न रूपों में दि० जैन आगमों में प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे–

गइ, गदि। होइ, होदि, हवदि। णाओ, णादो। भूयत्थो, भूदत्थो। सुयकेवली, सुदकेवली। णायव्वो, णादव्वो। पुग्गल, पोंग्गल। लोए, लोगे। आदि।

1. 'जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन शौरसेनी में भी होता है'–षट्खंडागम भूमिका

पृ० 86

2. 'द' का लोप है 'य' नहीं किया।

उक्त प्रयोगों में 'द' का लोप और अलोप तथा लोप के स्थान में 'य' भी दिखाई देता है। स्मरण रहे केवल शौरसेनी को ही 'द' का लोप मान्य है—दूसरी प्राकृतों में 'क ग च ज त द य ब' इन व्यन्जनों का विकल्प से लोप होने के कारण—दोनों ही रूप चलते हैं। जैन शौरसेनी में अवश्य ही महाराष्ट्री, अर्धमागधी ओर शौरसेनी के मिले-जुले रूपों का प्रयोग होता है।

पुग्गल और पोंग्गल—

प्रवचनसार आदि मे उक्त दोनों रूप मिलते हैं। जैसे गाथा—2-76, 2-93 और गाथा 2-78, 2-93

पिशल व्याकरण में उल्लेख है—"जैन शौरसेनी में पुग्गल रूप भी मिलता है"—पैरा 124। इसी पैरा में पिशल ने लिखा है "संयुक्त व्यंजनों से पहले 'उ' को 'ओ' हो जाता है……………। मारकण्डेय के पृष्ठ 66 के अनुसार शौरसेनी मे यह नियम केवल 'मुक्ता' और 'पुष्कर' में लागू होता है। इस तथ्य की पुष्टि सब ग्रंथ करते है।" —पैरा 124

दूसरी बात यह भी है कि ओत्-संयोगे वाला (उ को ओ करने का) नियम सभी जगह इष्ट होता तो 'चुक्केज्ज' (गाथा 5) पुव्वकालह्मि (गाथा 21) वुच्चदि, दुक्खं (गाथा 45 समयसार) आदि में भी उकार को ओकार होना चाहिए। पर, ऐसा न करके दोनों ही रूपों को स्वीकार किया गया है—'क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिः।'

लोए या लोगे—

षट्खंडागम मंगलाचरण-मूलमंत्र णमोकार में 'लोए' अक्षुण्णरूप में लिखा गया है जो आवाल-वृद्ध में बिना किसी भ्रांति के श्रद्धापस्द बना हुआ है। पिशल ने स्वय लिखा है—प्राकृत में निम्न उदाहरण मिलते हैं—

'एति' के स्थान में 'एइ' बोला जाता है, 'लोके' को 'लोए' कहते हैं।— पैरा 179।

पैरा 179 ही—जैन शौरसेनी की प्राचीनतम हस्त-लिपियाँ अ, आ से पहले और सभी स्वरों के बाद अर्थात् इनके बीच में 'य' लिखती है'—

'वोत्तु' रूप जैन महाराष्ट्री का है और 'वत्तु' शौरसेनी का। पिशल ने लिखा है 'शोरसेनी में 'वच' की सामान्य क्रिया का रूप कभी 'वोत्तुं नहीं बोला जाता। किन्तु सदा 'वत्तुं ही रहता है।'—पैरा 570

उक्त पूरी स्थिति के प्रकाश में ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'जैन शौरसेनी' में अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी इन तीनों प्राकृतों के प्रयोग होते रहे हैं, अतः आगमों में आए (उक्त नियम से संबंधित) सभी रूप ठीक है। यदि हम किसी एक को ठीक और अन्य को गलत मानकर चलें तब हमें पूरे आगम और कुन्द कुन्द के सभी ग्रन्थों के शब्दों को (भाषादृष्टि से) बदलना पड़ेगा यानी हमारी दृष्टि में सभी गलत होंगे—जैसा कि हमें इष्ट नहीं और न जैन शौरसेनी प्राकृत को ही ऐसा इष्ट होगा। इसी सन्दर्भ में यदि सभी जगह शौरसेनी के नियमानुसार 'द' रखना इष्ट होगा तो—

'पढमं होइ' या 'पढमं हवइ मंगलं' के स्थान पर भी 'हवदि' पढ़ना होगा जैसा कि चलन जैन के किसी भी सम्प्रदाय में नहीं है, आदि। पाठक विचारें।

❑

प्राकृत भाषा

'जयदु जिणंदाण असेसभासपरिणामिणी वाणी'
-समस्त भाषाओं में परिणमन करनेवाली जिनेन्द्र की वाणी जयवंत होवे।
'देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी।।'
देश विशेषाणामनन्तत्वात्पुरुषायुषेणापि न सर्वसंग्रहः स्यात्।
तस्मादनादिप्रवृत्तप्राकृतभाषाविशेष एवायं देशी शब्देनोच्यते।'

-प्रदेश अनन्त है और पुरुष की पूर्ण आयु में भी सर्व (भाषाओं) का संग्रह नहीं हो सकता : इसलिए अनादिकाल से प्रवृत्त प्राकृत भाषा विशेष ही देशी (भाषा) शब्द से कही गई है। अर्थात् विभिन्न देशों की प्रकृति-प्रदत्त भाषाएँ ही प्राकृत हैं-सभी को अभेदरूप से देशी भाषा कहा गया है।। देसी नाममाला।। और 'देसी शब्दों के रूप बदलते नहीं हैं'-प्राकृत विद्या 8/1 पृ. 20

उक्त कथन से स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा के प्रचलित अन्य भेद–तद्भव और तत्सम आदि, मूल-प्राकृत के नहीं हैं और ये बाद की उपज हैं। क्योंकि अनादि प्राकृत भाषा–अन्यभाषाओं के उद्भव-पूर्व होने से किसी अन्यभाषा से उत्पन्न अथवा किसी भाषा के सम नहीं हो सकती। अतः प्राकृतभाषा में तद्भव या तत्सम भेद नहीं हो सकते और यदि भेद माने जाते हैं तो प्राकृत को अनादिप्रवृत्त भाषा नहीं माना जा सकता।

वस्तु स्थिति ऐसी है कि–उक्त 'तद्भव' और 'तत्सम' जैसे भेद संस्कृत वैयाकरणों द्वारा तब स्थापित किए गए जब उन्होंने प्राकृत से

अनभिज्ञ संस्कृतज्ञों को संस्कृत के शब्दों द्वारा प्राकृत शब्दों को निष्पन्न करने की विधि समझाने का प्रयत्न किया और इसी हेतु उन्हें संस्कृत भाषा में नियम देने पड़े। इस विधि में जो शब्द उन्हें संस्कृत से समान दिखे उन्हें 'तत्सम' कह दिया और जिन शब्दों को उन्होंने संस्कृत से निष्पन्न किया उन्हें 'तद्भव' कह दिया।

इसी दृष्टि से आचार्य हेमचंद ने 'प्रकृतिः संस्कृतम्' जैसा सूत्र दिया। अर्थात् हमारे द्वारा रचित व्याकरण में प्राकृत शब्दों के ज्ञान में संस्कृत-आधार भाषा है। ऐसा उनका मन्तव्य है। ऐसे कथन से उन लोगों के भ्रम का उच्छेद हो जाता है जो संस्कृत भाषा को प्राकृत भाषा से प्राचीन मानते हों।

विश्वहिन्दी कोशकार ने इस विषय को स्पष्ट ही कर दिया-

'तब प्राकृत के वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति क्यों कहा? इसका कारण उन व्याकरणों के रचे जाने के काल और उनके स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट समझ में आ जाता है। वे व्याकरण उस काल में लिखे गए जब विद्वत्समाज में प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का अधिक प्रचार और सम्मान था। वे लिखे भी संस्कृत भाषा में गए हैं तथा उनका उद्देश्य भी संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत का स्वरूप समझाना है, जिनका उपयोग उन्हें संस्कृत नाटकों में भी प्राकृतिकता रखने के लिए करना पड़ता था।..............अतएव उन वैयाकरणों ने संस्कृत को आदर्श ठहरा कर उससे जो विशेषताएँ प्राकृत में थीं उनका विवरण उपस्थित कर दिया और इसकी सार्थकता-संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहकर सिद्ध कर दी।'

—हिन्दी विश्वकोश, खंड 7 पृष्ठ 497

डॉ. नेमीचंद, आरा ने स्पष्ट ही लिखा है कि-'प्राकृत भाषा में ईस्वी सन् की प्रथम द्वितीय शताब्दी तक उपभाषाओं के भेद दिखलाई नहीं पड़ते।' मध्ययुगी प्राकृत का सबसे प्राचीन व्याकरण चण्डकृत 'प्राकृत लक्षण' है। यह अत्यंत संक्षिप्त है।'-प्रा.भा.आलोचनात्मक इतिहास।

स्मरण रहे कि इतिहासज्ञों ने चण्ड और वररुचि आदि वैयाकरणों का काल ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद का माना है और यही काल संस्कृत भाषा में रचित व्याकरणों की रचना का प्रारम्भिक काल है। इन वैयाकरणो ने जैसा कि हिन्दीविश्वकोशकार ने लिखा है– संस्कृतज्ञों के परिचितार्थ संस्कृत में प्राकृत व्याकरणो का निर्माण किया। सभी वैयाकरणों ने विस्तृत और अभेदप्राकृत को देश-भेद की अपेक्षा विविध रूपो में विभक्त कर दिया। यथा मगध में बोली जाने वाली शब्दावलि को मागधी, शूरसेन जनपद में बोली जाने वाली शब्दावलि को शौरसेनी व महाराष्ट्र की बोली को महाराष्ट्री प्राकृत आदि के नाम से संबोधित किया। इसका तात्पर्य ऐसा है कि उस काल से पूर्व प्राकृत भाषा सामान्य रूप मे व्यवहृत होती थी क्योंकि स्वाभाविक बोली से व्याकरण का संबंध नहीं है। बोली पहिले होती है और उसका व्याकरण बाद मे बनाया जाता है।

उक्त स्थिति में जो लोग प्राकृत सामान्य को किसी एकरूप में बाँधना चाहते थे, वे स्वयं ही स्व-निर्मित नियमों में संदेहशील थे। फलतः उन्होंने नियमों के लागू करने में 'प्रायः, बहुल, क्वचित्, वा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने 'बहुलम्' जैसे सूत्र देकर स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि हम जिन नियमों को दे रहे हैं वे नियम सर्वथा ही सर्वत्र नहीं होते अर्थात् चूंकि ऋषियों की भाषा आर्ष कहलाती है और आर्ष में शब्दरूपों की बहुलता होती है। यानी–

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्य एव।'

कहीं नियम प्रवृत्त होता है, कहीं प्रवृत्त नहीं होता, कहीं कोई नियम विकल्प से होता है और कहीं नियम के विपरीत भी होता है और यही आर्ष प्राकृत का प्राचीनतमरूप है। उक्त कथन से सिद्ध है कि प्राकृत भाषा किसी व्याकरण से बद्ध नहीं है-वह स्वाभाविक बोली है। नमि साधु ने कहा भी है–

'सकलजगज्जंतूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सहजो वचन व्यापार, प्रकृतिः तद्भवं सैव प्राकृतं।..... प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं

सकलभाषनिबंधनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादित्तविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति।'

—व्याकरणादि के संस्कार से विहीन समस्त जगत् के प्राणियों के स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक महिला आदि की समझ में यह सरल से आ सकती है और समस्त भाषाओं की यह कारणभूत है। मेघधारा के समान एकरूप और देश-विशेष के कारण या संस्कार के कारण जिसने विशेषता प्राप्त की है और जिसके सत् संस्कृत आदि उत्तत विभेद हैं-उसे संस्कृत कहते हैं।'

जो लोग ऐसी आवाज उठाते रहे हैं कि व्याकरण पढ़े बिना अर्थ का अनर्थ हो सकता है, वे भाषा-विज्ञान के नियमों से अनभिज्ञ हैं। भाषाओं के अपने अपने विभिन्न नियम है, वे सब नियम विकसित हैं। प्राकृत भाषा तो प्राणी की जन्मजात बोली है, उसमें—

'यद्यपि बहुनाधीषे, तथापि पठ पुत्र व्याकरणं।
श्वजनो स्वजनो माभूत् शकलं सकलं सकृत शकृत्।।'

जैसी आपत्तिया खड़ी नहीं होतीं। क्योंकि आगमिक भाषा अर्धमागधी (और कथित शौरसेनी में भी) उक्त शब्दों के रूपों में (उनके देशी होने के कारण) कदापि परिवर्तन नहीं होता। यतः उक्त प्राकृतों में शकार को स्थान ही नहीं है, उनमें सदा ही सकार का प्रयाग होता है-'श्वजन' को सदा 'स्वजन', 'शकल' को सदा 'सकल', और 'शकृत् को सदा 'सकृत' ही बोला जाता है। ऐसे में अर्थ के अनर्थ होने की सम्भावना ही नहीं होती। ऐसे में स्पष्ट है कि-व्याकरण सदा संस्कार की गई यानी संस्कारित भाषा में ही प्रयुक्त होती है और यह नियम है कि संस्कृत यानी संस्कार की गई भाषा सदा ही मूलभाषा की पश्चाद्वर्ती होती है जब कि प्राकृत अनादि और देशी भाषा है जिसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता-सभी शब्दरूप यथास्थिति में ही रहते हैं।

कुछ लोगों का ख्याल है कि दिव्यध्वनि मागध जाति के देवों द्वारा भाषातिशय को प्राप्त हुई। अतः उसको मागधी कहा गया। परन्तु पं. प्रवर आशाधर तथा सहस्रनाम की श्रुतसागरी टीका से स्पष्ट है कि इस भाषा का नामकरण 'सर्वभाषामयीगी' तथा 'अर्धमागधी' देश विशेषों के आधार पर हुआ तथाहि-'सर्वेषां देशानां भाषामयी गीर्वाणी यस्य,' 'अर्धमगधदेशभाषात्मकं अर्धं च सर्वभाषात्मकम्।' फलतः हम अर्धमागध ी को समस्त देशों की मिश्रित भाषा मानने के पक्ष में हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि अर्धमागधी नाम की कोई भाषा होती तो आचार्य हेमचन्द्रादि ने उसका भी व्याकरण बनाया होता। उक्त तर्क स्वयं ही सिद्ध कर रहा है कि 'अर्धमागधी' सर्वभाषामयी होने से ही व्याकरणबद्ध न हो सकी, भला, सर्वभाषागर्भित भाषा को किसी एक व्याकरण नियम में बांधना कैसे शक्य होता? यही कारण है कि प्रकृति प्रदत्त प्राकृत-भाषा अथवा मेघवर्षण की भांति स्वच्छन्द बिहार करती है। ऐसे में हम कैसे मान लें कि पं. प्रवर आशाधर जी व सहस्रनाम के टीकाकार श्रुत सागर जी महाराज वर्तमान शोधक विद्वानों से ज्ञान अथवा खोज में हीन थे? हमें तो आगम और पूर्वाचार्यों के वाक्य ही प्रमाण हैं। और इसलिए भी कि वे ख्याति लाभ पूजादि की चाह से निर्लिप्त थे और तब मनमाने परिवर्तन करने-कराने में कारण-भूत आर्थिक-पुरस्कारों का युग भी नहीं था। कोई पुरस्कृत तो वचन बदलते हुए भी प्रकाश में आ चुके हैं-जैसी कि समाचार पत्रों में चर्चा है।

माना जाय कि यदि मागध देवों के कारण मागधी नाम पड़ा तो 'अर्ध' कहां से आ गया? क्या वह भाषा अर्धरूप में मागध देवों की थी और अर्धरूप में जिनवर की थी? देव तो सर्वज्ञ होते नहीं तो उनकी भाषा को प्रमाण कैसे माना जाय? वे वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी भी नहीं होते।

हेमचन्द एवं वररुचि आचार्यों ने अपने व्याकरणों में कई स्थानों पर शब्दों की रचना में स्वीकृत उस भाषा को 'प्रकृति' कहा है, जिसके सूत्रों

से उन्होंने प्राकृत शब्दों की सिद्धि की है। जैसे 'वृश्चिक' शब्द बिच्छुओं से बनाने के लिए उन्होंने 'वृश्चिके ञ्छः' सूत्र का निर्माण किया। इस सूत्र में मूलभूत संस्कृत भाषा का शब्द है, उस संस्कृत भाषा को प्रकृति कहा-न कि किसी प्राचीन परम्परा रूप ऐसी प्रकृति को, जिससे इंगित मूल भाषा का जन्म हो।

हेमचन्द ने तो प्रारम्भ में ही प्राकृत-शब्द सिद्धि में स्वयं के द्वारा अपनाई जाने वाली संस्कृत-भाषा को प्राकृत का मूल घोषित कर दिया। यानी उन्होंने संस्कृत को मूल-प्रकृति मानकर रचना की-इससे अन्य भाषाओं का परिहार हो गया। यदि कोई हिन्दी के 'बिच्छू' शब्द को मूल मानकर 'बिच्छुओं बनाना चाहे तो वह उपर्युक्त सूत्र से नहीं बना सकता। वररुचि ने 'प्रकृतिशौरसेनी' जैसे जो सूत्र पैशाची और मागधी के संबंध में दिए हैं, वे भी इसी भाव में दिए हैं कि लोग अधिक प्रयास से बच जाएँ और संस्कृत व्याकरण से सिद्ध शौरसेनी शब्दों के आधार पर शब्दों की रचना कर लें, यतः दोनों भाषाएँ शौरसेनी की निकटवर्ती हैं।

यदि उक्त विधि को अमान्य कर देंगे तो 'शौरसेनी' के प्रसंग में उन्होंने 'प्रकृतिः संस्कृतं' ऐसा कहा है, उसे भी मानना पड़ेगा और शौरसेनी की अपेक्षा संस्कृत प्राचीन ठहरेगी और शौरसेनी का जन्म संस्कृत से मानना पड़ेगा। जो हमें व जैन शासन को मान्य नहीं है। आशा है विज्ञजन 'प्रकृतिः शौरसेनी' की रट को छोड़ेंगे-यतः शौरसेनी परवर्ती और प्राकृत का एक भेद है और प्रसंग में प्रकृति का अर्थ उस मूल भाषा शब्द से संबंधित है जिससे प्राकृत शब्द साधा गया है।

❑

समयसार या समयपाहुड?

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्दाचार्य ख्याति प्राप्त बहुश्रुत विद्वान माने गए हैं और उनकी गणना प्रमुख दिगम्बराचार्यों में है। उनके द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है, इनमें पाहुडों की संख्या अधिक है। कहते हैं कि इन्होंने चौरासी पाहुडों की रचना की। उनमें कुछ ही पाहुड उपलब्ध हैं और वे पाहुड नाम से ही प्रसिद्ध हैं। 'समयपाहुड' उनका ऐसा ग्रंथ है जिसमें सभी पदार्थों के माध्यम से जीव को मुक्ति प्राप्त करने का उपाय बतलाया गया है।

यद्यपि 'समयपाहुड' के पठन-पाठन की परम्परा पहिले के उच्चकोटि के गिने चुने कुछ ही विद्वानों में रही, परन्तु वर्तमान में इसकी गाथाओं के पठन-पाठन के प्रचार का श्रेय श्रीकानजी भाई को प्राप्त है। आज स्थिति यह है कि हर व्यक्ति इसके स्वाध्याय के प्रति लालायित है। जहाँ हमें इसके स्वाध्याय के प्रति लोगों की रुचि तुष्टिदायक है, वहीं हमें कुत्रचित् इसके पठन-पाठन की विधि में अनेकान्त दृष्टि की अवहेलना किया जाना अनिष्टं भी है।

जो लोग 'समयसार' शब्द का आत्मा अर्थ करते हैं वे ही कुंदकुंद की **'सव्वणयपक्खरहिदो भणियो जो सो समयसारो**। (समयसार सर्वनय पक्षों से रहित है) गाथा की अवेहलना करते दिखते हैं। क्योंकि वे आत्मा की पहिचान में **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं'** की उपेक्षा कर, केवल निश्चयनय द्वारा आत्मा के स्वरूप को बतलाने की चेष्टा करते हैं और व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ बतलाते है—अग्राह्य कहते है जबकि आचार्य का उद्देश्य आत्मा को सभी नयों से अतिक्रान्त—सर्वनय निरपेक्ष बतलाना है। आचार्यों ने नय के प्रयोग में **'निरपेक्षनयोमिथ्या'** भी कहा

है जबकि कुछ लोग निश्चयनय का निरपेक्ष रूप से प्रयोग कर रहे हैं।

सोचना यह भी होगा कि ऐसे एकान्तवादियों के कथनानुसार यदि आचार्य का व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ इष्ट होता तो वे कदापि ऐसे असत्यार्थ **व्यवहार नय से भेद-रूप में दर्शाए गए** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र के सेवन का उपदेश साधु को नहीं देते। उन्होंने कहा है–

"दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।।"

–(साधु को नित्य ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए।) व्यवहार नय को असत्यार्थ बताने की जगह वे मात्र इतना ही कहते– **'ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणो जाणगो सुद्धो।"**–(ज्ञायक शुद्ध है उसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र कुछ भी नहीं है।) परन्तु उन्होंने मात्र एक को ही न कहकर व्यवहार–निश्चय दोनों की पुष्टि की है। इस सत्य कथन से मुख मोड़ना आचार्य और आगम दोनों का अपमान तो है ही, साथ ही अनेकान्तवाद पोषक जैनधर्म को भी एकान्त की खाई में ढकेलना है।

हम क्या कहें, कहाँ तक कहें? हम तो देख रहे हैं कि आगम की व्याख्या और मूलभाषा में बदलाव के साथ आगमों के मूलनामों में बदलाव की प्रक्रिया भी स्वीकृत की जाती रही है। हमारी जानकारी में तो 'समयपाहुड' का नाम भी 'समयसार' के रूप में प्रसिद्धि पा गया है। बदलाव की ऐसी प्रक्रियाओं को देखकर ऐसा भी संदेह होने लगा है कि कहीं जैनधर्म के स्वरूप में ही बदलाव न आ जाए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मूलग्रंथ का नाम 'समयपाहुड' रखा है। उन्होंने ग्रन्थ के आद्यन्त की दोनों गाथाओं में इसके नाम का उल्लेख किया है–

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं'।।1।।

–(मैं श्रुतकेवली द्वारा कथित इस समयपाहुड को कहूँगा)।

'जो समय पाहुडमिणं पढिदूण'।।415।।

(जो इस 'समयपाहुड–को पढ़कर।)

ऐसी स्थिति में ग्रन्थ के मूल नाम में परिवर्तन होकर इसका नाम 'समयसार' कब से और क्यों हो गया? 'पाहुड' और 'सार' दोनों शब्द

पर्यायवाची भी नहीं हैं। यदि दोनों शब्द पर्यायवाची होते तो कुन्दकुन्द के अन्य पाहुडों में भी 'पाहुड' के स्थान पर 'सार–हो जाना चाहिए था। और उस भाँति 'दंसणपाहुड' को 'दंसणसार', 'सुत्तपाहुड' को 'सुत्तसार', 'बोधपाहुड को बोधसार', चरित्तपाहुड को चरित्तसार, भाव पाहुड को भावसार, मोक्खपाहुड को मोक्खसार, लिंगपाहुड को लिंगसार और सीलपाहुड को 'सीलसार' नाम हो जाना चाहिए था– जैसा कि नहीं हुआ। इसी भाँति आचार्य श्री गुणधर कृत 'कसायपाहुड' का नाम भी 'कसायसार' हो गया होता।

प्राकृतकोष 'पाइअसद्दमहण्णव' में पाहुड' शब्द के अर्थ इस भांति दिए हैं– 'जैन ग्रंथांशविशेष, परिच्छेद, अध्ययन, प्राभृत का भी एक अंश। इस प्रकार 'पाहुड' और 'सार' दोनों में काई साम्य नहीं बैठता जो कि एक दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकें। फिर ये नाम परिवर्तन कैसे हुआ? यह विचारणीय है।

हमें स्मरण है कि पहिले कभी पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'रत्नकरण्डश्रावकचार' का अनुवाद कर उसे 'समीचीन धर्मशास्त्र' के नाम से छपवा दिया था– तब किसी ने बड़ा भारी विरोध किया था जबकि स्वामी समन्तभद्र ने ग्रन्थ में स्वयं 'समीचीन धर्म' कहने की बात कही थी–

'देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।'–'समयपाहुड' में तो 'समयसार' नामकरण का कहीं प्रसंग ही नहीं आया। जहाँ भी 'समय' शब्द का उल्लेख है, वहाँ आगम, पदार्थ और काल के भाव में है। समय का अर्थ आत्मा है ऐसा कोष में भी शायद ही हो? फिर समय शब्द का अर्थ आत्मा कैसे किया जाने लगा?

टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने स्वयं ही सस्कृत टीका में **'समयप्राभृत'** को **'आगम'** कहा है–

'शास्त्रमिदमधीत्य' (इस शास्त्र को पढ़कर) इसी भांति जयसेनाचार्य ने भी ''समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पठित्वा' (समय प्राभृत नामक इस शास्त्र को पढ़कर) कहकर इसे शास्त्र कहा है– आत्मा नहीं कहा। 'पढिदूण' शब्द से तो यह और भी स्पष्ट होता है कि यह शास्त्र ही है

और उसे ही पढ़ा जाता है। आत्मा को पढ़ा नहीं जाता उसकी अनुभूति मात्र (वह भी ऊँची अवस्था में जाकर) की जा सकती है।

कालान्तर परम्परा में कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने प्राकृत ग्रन्थ समयपाहुड पर गाथाओं की संस्कृत में टीका लिखी और संस्कृत में स्वतंत्र कलश भी लिखे। उन्होंने मंगलाचरण के प्रथम कलश में 'नमः समयसाराय' लिखकर उसे–'चित्स्वभावाय' से विशिष्ट कर दिया। इस भाँति वह शास्त्र न होकर चेतन मात्र हो गया। ऐसा सब उनके भाव में संस्कृत व्युत्पत्ति 'सम्यक्प्रकारेण–स्वगुणपर्यायान् गच्छति इति समयः' के अनुसार पदार्थ सूचक हो गया। और पदार्थों में सार भूत आत्मा है। इस प्रकार संस्कृत कलश का नाम 'समयसार' हुआ, न कि 'समय पाहुड' का नाम 'समयसार' हुआ– जो कि वर्षों से चला आ रहा है और धड़ाधड़ आचार्य कुन्दकुन्द के मूलग्रंथ पर अच्छे-अच्छे प्राकृतज्ञों द्वारा भी प्रचारित किया जा रहा है। इसमें किसी को कभी आपत्ति नहीं हुई।

हमारी दृष्टि में पूर्व के प्रकाशनों में कहीं-कहीं 'समयप्राभृत' (वह भी संस्कृताधार पर) छपता रहा है। अब आगे प्रकाशनों में समय पाहुड नाम ही छपाकर, मूलनाम को सुरक्षित रखना चाहिए। ऐसा हमारा मन्तव्य है।

हम पाठकों को यह सन्देश भी दे दें कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पद्मप्रभाचार्य के शिष्य श्री देवनन्दाचार्य विरचित, एक प्राकृत ग्रन्थ 'समयसार पगरण' नाम का स्वोपज्ञटीका सहित श्वेताम्बरों में भी उपलब्ध है जिसका प्रकाशन आत्मानन्द सभा भावनगर से वि.स. 1971 में हुआ। इसकी रनचा वि.स. 1469 में हुई बतलाई है।

इस ग्रन्थ में दश अध्ययन हैं, जो दिगम्बर सम्प्रदाय के समयपाहुड की भांति जीव, अजीव आदि सात तत्वों, ज्ञान दर्शन चरित्र आदि के वर्णन से पूर्ण हैं। यह ग्रन्थ भी आगम के सार रूप में ही लिखा गया प्रतीत होता है। इसे भी केवल आत्मा के वर्णन में लिखा गया नहीं माना जा सकता।

❑

मनमानी व्याख्याओं का रहस्य क्या है?

जैनियों की परम्परा में 'देव-शास्त्र-गुरु' इस क्रम के उच्चारण का प्रचलन रहा है और वीतराग-देव की देशना को आगम, शास्त्र, सिद्धान्त आदि नाम दिए जाते रहे हैं और गुरु को भी ऐसा आदेश रहा है कि वह जिनवाणी के अनुकूल आचरण करे। इसका भाव ऐसा है कि देव पहले नम्बर पर, आगम दूसरे नम्बर पर और गुरु तीसरे नम्बर पर हैं। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि समोसरण में वीतराग देव का आसन नीचे होता है और बीच में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रवाहित होकर गुरु तक पहुंचती है और इस भांति आगम का स्थान मध्य मे ही ठहरता है। अतः 'देव-शास्त्र-गुरु' यही क्रम सुसंगत है।

सभी जानते है कि गुरु-चारित्र के प्रतीक हैं और 'सम्यक् साथै ज्ञान' के बाद ही चारित्र का क्रम आता है और इसी क्रम मे 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' सूत्र की रचना है। अतः गुरु का क्रम हर हालत में ज्ञान (आगम) के बाद ही आता है। फिर, आचार्यों ने यह भी कहा है कि **आगमचक्खू साहू'** अर्थात् साधु की आँखें शास्त्र हैं। इसका भाव भी यही है कि गुरु से आगम का स्थान पहले है और इसीलिए गुरु (मुनि) की समस्त चर्या आगम के अनुरूप होने जैसा विधान है।

यह बात तो विवादरहित है कि आगम 'आप्तोपज्ञ और अनुल्लंघ्य है, क्योंकि वह सर्वज्ञ-प्रणीत है–छद्मस्थ प्रणीत नहीं है। जब कि सभी आचार्य छद्मस्थ होते है, उनकी वाणी स्वतः प्रामाणिक भी नहीं मानी गई है–उन्हे सर्वज्ञ की देशना के अनुरूप ही कथन करने का आगम में विधान है। कुदकुंद जैसे आरातीय आचार्य भी **'चुक्किज्ज'** जैसा शब्द

कहकर आगम को गुरु से ऊपर मानने का आदर्श दे गए हैं। फलतः– सभी भांति शास्त्र को मुनि से बड़ा दर्जा दिया गया है और शास्त्र को मूल-ग्रन्थ संज्ञा दी गई है। ग्रन्थ इसलिए कि उसमें ज्ञान-रूप जिनवाणी को द्वादशांग रूप में ग्रथित किया गया है–गूंथा गया है–'गणधर गूंथे बारह सुअंग'। मूल में तो वह सर्वज्ञ की ही वाणी है–'मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः।'–अतः जिन वाणी का क्रम वीतरागदेव के बाद का ही क्रम है तथा गुरु का क्रम तीसरा है।

हमें (जैसा कि श्री रतनलाल कटारिया भी यह कह रहे हैं) 'अकिंचित्कर' पुस्तक में पृ०70, 74 तथा 'प्रवचनपारिजात' पुस्तक द्वितीय संस्करण सन् 1981, पृ०15, 66, 108 पर और हाल ही में जुलाई 1989 की 'बावनगजा सन्देश' नामक पत्रिका, पृ० 9 पर प्रकाशित 'शान्ति का मार्ग शास्त्रों मे' शीर्षक में 'देवगुरुशास्त्र' जैसा क्रम देखकर आश्चर्य और खेद हुआ कि जहाँ शान्ति का मार्ग शास्त्रों में बताया जा रहा है वहीं शास्त्र को गुरु के बाद स्मरण किया जा रहा है। ऐसे में शीर्षक होना चाहिए था– 'शान्ति का मार्ग गुरुओं से'। भले ही यह बाद को सोचना रह जाता कि कौन से गुरुओं से? वर्तमान के या भूत के? कहीं यह कोई योजनाबद्ध प्रक्रिया तो नहीं–जिसका विरोध श्री कटारिया जी और जैन-सन्देश के सम्पादक डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन भी कर रहे हैं? कहीं शास्त्रों को गुरुवाणी सिद्ध करने के लिए तो यह सब नहीं किया जा रहा? शास्त्रों के मूल शब्दरूपों को बदलने की क्रिया तो पहले एक विद्वान् कर ही चुके है–हालांकि उसका जमकर विरोध हुआ और चोटी के विद्वानों के भी विरोध प्रदर्शित किया और कर रहे हैं। इसके सिवाय कई जगह आगमों की कई व्याख्याएँ परंपरित व्याख्याओं से विपरीत यद्वा-तद्वा रूप में करने की परिपाटी चल पड़ी है और स्वतन्त्र रूप में आगम-विरुद्ध लेखन भी हो रहे हैं।

हमें यह भी सन्देह है कि कहीं कुछ लोग स्व-प्रतिष्ठा की चाह में नित नई-नई बातें गढ़कर धर्म-मार्ग का लोप ही न कर दें। शास्त्र की व्याख्या में एक वाचक का कहना है कि–'तीर्थंकर की वाणी को गुरु

अपनी भाषा में लिपिबद्ध करते हैं, वह शास्त्र कहलाता है।' यानी जैसे, उनकी दृष्टि से लिपिबद्ध काल से पूर्व–जब उस देशना का लिपिबद्ध नहीं किया गया था, तब शास्त्र ही नहीं हों? केवल देव और गुरु ही हों। जब कि आगम, सिद्धान्त, शास्त्र, ग्रन्थ कुछ भी कहो, जैन मान्यतानुसार ये सभी ज्ञान और दिव्य ध्वनि-रूपों में अनादि विद्यमान रहे हैं और तीर्थकरों द्वारा ध्वनित होते रहे हैं।

आगम की परिभाषाएँ जो उपलब्ध हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं–

1 'तस्स मुहग्गद वयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं। आगममिदि परिकहियं ...(नियमसार; 8)
2. 'अरहतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।' सुत्त पा०-1
3. 'सुत्तत्थं जिणभणियं'–सुत्तपाहुड 5
4. 'जं सुत्तं जिण उत्तं'– „ 6
5. 'उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि'10
6. 'जिणमग्गे जिणवरिंदेहि जह भणियं'–बो०पा०2
7. 'केवलिजिणपण्णत्तं एयादस अंग सयल सुयणाणं' –भाव पा० 52
8. 'आगमो हि णाम केवलाणाणपुरस्सरो पाएण अणिंदियत्थविसओ अचिंतियसहाओ जुत्ति गोयरादीदी'–धव० पु० 6, पृ०151
9. 'आप्त वचनं ह्यागमः'–रत्न०-टी-5
10. 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य'–रत्नक०
11. 'आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः'

–भगवती आरा० विजय 23

12. 'आप्तवचनादि निबंधनमर्थज्ञानमागमः'

–परीक्षणपु० 3/99 न्याय दी०,पृ०117

1. –तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित पूर्वापर दोषों से रहित और शुद्ध वचनों को आगम कहा जाता है।
2. अरहंत द्वारा कथित, गणधर द्वारा ग्रथित आगम है।
3. सूत्रार्थ (आगम) जिनेन्द्र द्वारा कथित है।
4. जो सूत्र जिनेन्द्र ने कहे हैं, वे आगम हैं।

5. जो जिनेन्द्र ने कहा है वह आगम है।
6. जिन मार्ग में जैसा जिनेन्द्र ने कहा है, वह आगम है।
7. केवली जिन से कहे गये ग्यारह अंग पूर्ण श्रुतज्ञान हैं।
8. जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है; प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला है, अचिंत्यस्वाभावी है और युक्ति से परे है, उसका नाम आगम है।
9. आप्त के वचन आगम हैं।
10. आगम आप्त का कहा हुआ और अनुल्लंघ्य है।
11. रागद्वेष रहित सर्वज्ञ से कहा गया आगम है।
12. आप्त वचनादि द्वारा निबंधित पदार्थ ज्ञान आगम हैं।

उक्त लक्षण आगम के हैं और 'आगमसिद्धान्तः ग्रंथः शास्त्रम्'–(नाममाला) ये सभी नाम भी आगम के हैं और आगम परम्परा तथा स्वरूपतः अनादि है। ऐसे में प्रसिद्ध कर देना कि 'गुरु अपनी भाषा में लिपिबद्ध करते हैं, वह शास्त्र कहलाता है' बड़े महान् साहस की बात है।

स्मरण रहे मूलतः—आगम, सिद्धान्त, ग्रन्थ और शास्त्र (और श्रुत भी) सभी नाम ज्ञानमयी उसी दिव्यध्वनि के सूचक हैं, जिसके मूलकर्ता सर्वज्ञदेव (तीर्थंकर) हैं—अन्य कोई नहीं। इस भांति पूरे आगमों का अवतरण तीर्थंकर से ही होता है और पूरा आगम ज्ञानरूप है। फलत —लिपिबद्ध होने के बाद उसकी संज्ञा 'शास्त्र' होती है यह कथन निःसार और लोगों में भ्रान्ति उत्पादक है।

चूंकि जनसाधरण गहराई में न जाकर लोकानुकरण करता है और आज आगम के लिए प्रायः 'शास्त्र' शब्द अधिक प्रचलित है। जब लोग जानेंगे कि लिपिबद्ध होने पर शास्त्र बनता है—तो लिपिरूप में बनाने को सर्वज्ञ तीर्थंकर तो आते नहीं, उसे तो गुरुगण ही अंकित करते हैं। फलतः—लोगों की आम धारणा सहज ही बन बैठेगी कि शास्त्र 'गुरुवाणी' है। फलतः—वे शास्त्रों को जिनवाणी के स्थान पर 'गुरुवाणी' प्रसिद्ध कर

बैठेंगे और तब योजकों की (ईप्सित?) योजना 'देव-गुरु-शास्त्र' क्रम की सार्थकता भी कारगर हो जायेगी अर्थात् छद्मस्थ गुरुओं को शास्त्र से ऊँचा दर्जा मिल जायगा और प्रचार में आ जायगा कि गुरु बड़े और शास्त्र छोटे है और ऐसा प्रचार मूल आगम को विपरीत सिद्ध करने और जिन-मार्ग के अपवाद मे कारण होगा।

क्या कहें, कहां तक कहें? हमने तो यहां तक अनुभव किया है कि आज जो गुरु-देशनाएँ हो रही हैं, और लेखन चल रहे हैं, उनमें कितनों मे ही तो ऐसे तत्त्व निहित हो रहे या निहित किए जा रहे हैं, जिनसे जिनवाणी का निश्चित ही घात हो रहा है। जैसे—एक संकलन छपा है—'प्रवचन पारिजात' के नाम से। और इसके संस्करण पर संस्करण छप चुके हैं और इसे सभी पढ़ते और सराहते रहे हैं। सराहना इसलिए कि यह गुरुवाणी है और आज गुरु जो कहे या करे, उसे सच माना जा रहा है। गुरुओं में कोई-कोई तो गर्हित आचरण करके भी पुज रहे हैं—समय की बलिहारी है। लोगों को सोचना चाहिए कि गुरु छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) होते हैं, उनकी वाणी अन्यथा भी हो सकती है; आदि।

पहले एक पुस्तक मिली थी—'अकिंचित्कर!' उसमें मिथ्यात्व को बन्ध के प्रति अकिंचित्कर बताया गया था, जबकि मिथ्यात्व संसार का मूल है। अब कहा जा रहा है वह कथन स्थिति और अनुभाग बंध को लक्ष्य करके था और कुछ विद्वान् अब भी उसके पोषण मे लगे हैं—वे अनेकान्त सिद्धान्त की तोड-मरोड़ में लगे हैं। हालांकि यह विषय जनसाधारण का नहीं। वह तो भ्रमित ही होगा कि 'जब मिथ्यात्व से बन्ध ही नहीं होता तो कुदेवी-कुदेवों की खूब पूजा करो।' आखिर, उनकी दृष्टि में देवी-देवता सांसारिक सुख प्रदाता तो हैं ही—जिसकी लोगों को चाह है। भले ही वे परमार्थ का सुख न दिला सकें। साधारणजन 'अकिंचित्कर' के प्रभाव से 'कुदेवागमलिंगिनां प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः', इस समंतभद्र के वाक्य से सहज विरक्त होंगे, इसमें संदेह नहीं।

हम समझते हैं—अपेक्षावाद से अनेकों विरुद्ध-धर्म भी सिद्ध किए

जा सकते हैं। यह वाद बड़ा लचीला है, इसे चाहे जिधर मोड़ ले जाओ—जैसा कि आज हो रहा है। पर स्मरण रहे कि यह 'वाद' तथ्य उजागर करने हेतु प्रयुक्त होने पर सत्य-वाद है और आगमिक तथ्य को मरोड़ने पर विवाद है जैसे कि लोग आज तोड़-मरोड़ कर रहे हैं। अस्तु।

हां, हम कह रहे थे **'प्रवचन-पारिजात'** की बात। इसमें लिखा है—

"यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में सुख होता तो (सिद्धत्व में) उनके अभाव करने की क्या आवश्यकता थी, सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए इनका अभाव परम अनिवार्य बताया है।" पृ०24

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र में भी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं....इनका अभाव भी अनिवार्य आवश्यक है।....जहां उन्होंने (उमास्वामी ने) "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" कहा है वहीं उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप परिणत, जो भव्यत्वभाव है, उस भव्यत्व पारिणामिकभाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय में मात्र जीवत्व भाव रह जाता है।"—पृ०20

प्रसंगवश हम यहा कुछ उन अन्य विचारकों के प्रति भी संकेत दे दें, जो सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन में सर्वथा भेद डालकर भ्रमित हो रहे हों और उक्त कारण से वे मोक्ष में सम्यक्त्व को तो मानते हों और सम्यग्दर्शन को नहीं मानते हों। इसी प्रसंग में दो शब्द—

कुछ लोगों को भ्रम है कि सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न-2 हैं। वे कहते हैं कि—सम्यक्त्व आत्मा का गुण है और सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है तथा गुण स्थायी है और पर्याय विनाशीक। एतावता मुक्त जीव में सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय का अभाव रहता है और वहां सम्यक्त्व गुण शेष रह जाता है—**'अन्यत्र केवल—सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।'** ऐसे लोगों को 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' सूत्र पर चिन्तन करना चाहिए कि क्या गुण कभी पर्यायरहित भी हो सकता है? आचार्यों के मत में तो द्रव्य सदा काल गुण-पर्याय युक्त होता है तथा गुण-पर्याय भी सदा समुदित ही रहते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उनके कथन के अनुसार

सारा मुक्त जीव में सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय का अभाव माना जाय तो प्रश्न खड़ा होता है कि यदि मुक्त जीव में सम्यग्दर्शन रूपी पर्याय नहीं है तो वहां कौन-सी पर्याय सम्यग्दर्शन का स्थान ले लेती है? क्योंकि गुण के साथ पर्याय का होना अवश्यम्भावी है तथा आचार्यों की दृष्टि से गुण और पर्याय सदाकाल द्रव्य के आत्मभूत लक्षण है और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त अर्थात् परिवर्तनशील है। कहा भी है–

'अनाद्यनिधने द्रव्ये स्व-पर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जंति निमज्जंति जलकल्लोलवज्जले।।'

अर्थात् जैसे जल और उसकी कल्लोलरूपी पर्यायें अभिन्न हैं–लहरें जल से उत्पन्न होकर जल में ही लीन होती हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन-रूप से कथित पर्याय को भी सम्यक्त्व से पृथक् नहीं माना जा सकता। वास्तव में तो सम्यक्त्व कहो या सम्यग्दर्शन कहो, दोनों एक ही हैं–मात्र नाम-भेद हैं। अतः जहां आचार्य ने मुक्तात्माओं में सम्यक्त्व की घोषणा कर दी, वहां उन्होंने सम्यग्दर्शन के अस्तित्व की स्वीकृति दे ही दी, ऐसा समझना चाहिए। जो लोग कहते हैं कि मोक्ष मे सम्यग्दर्शन नहीं रहता' वे भूल में है। वस्तुतः वहा रत्नत्रय अभेद रूप में है और मोक्ष-मार्ग प्रदर्शित करते हुए उसे तीन भेद-रूप में कहा समझाया चिन्तन किया जाता है। क्योंकि वस्तु के समस्त गुण और पर्यायों को युगपत् कथन और हृदयंगम करना छद्मस्थ जीव के वश की बात नहीं।

प्रश्न उठता है कि क्या सम्यक्त्वादि (जिन्हें व्यवहार भाषा में भेद-रूप व्यवहृत होने से सम्यग्दर्शनादि कह दिया जाता है) आत्मा के स्वभाव नहीं हैं? यदि स्वभाव नहीं हैं तो मोहनीय कर्म को सर्वघाती और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक क्यों कहा? और क्यों ही उसे ससारभ्रमण के प्रमुख कारणों में गिनाया? क्या मोहनीय कर्म आत्मा के जिनगुणों का घात करता था, उस मोहनीय कर्म के क्षय से सिद्धों में वे गुण उजागर नहीं होते? यदि उजागर नहीं होते तो मोहनीय कर्म को घातक क्यों कहा, और मोक्ष के लिए उसके क्षय को अनिवार्य क्यों

बतलाया? बड़ा आश्चर्य है कि एक ओर तो माना जाय कि भव्यत्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप परिणत होता है (यद्यपि यह कथन आगम-विरुद्ध है) और भव्यत्व के समाप्त होने के साथ ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान चरित्र को भी समाप्त माना जाय और दूसरी ओर माना जाए कि मोहनीय के क्षय पर आत्मा के सम्यक् और चारित्र गुण प्रकट होते हैं। यदि भव्यत्व के साथ इनका अभाव मानना ही इष्ट था तो मोहनीय के क्षय का उपदेश ही क्यों दिया होता? इससे तो संसार-दशा ही श्रेष्ठ थी, जहां कम-से-कम औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सम्भव थे। स्मरण रहे कि मोहनीय कर्म घातिया कर्म है और वह दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय जैसे दो भेदों में विभक्त है, उसके क्षय होते ही आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। भेद इतना है कि जो संसार में भेदरूप में अनेक कहे जाते थे, वे मुक्त दशा में अभेदरूप से विद्यमान है। कहा भी है–'तत्तियमइयो णिओ अप्पा।' 'ताणि पुण जाण तिणिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो'। समयसार गाथा 428 की तात्पर्यवृत्ति में आगत 'सम्यक्त्व' शब्द का अर्थ श्री आ० ज्ञानसागर जी ने 'सम्यग्दर्शन' किया है। अतः नामभेद होने पर भी दोनों को एक ही समझना चाहिए। तथाहि–**'सम्माइट्ठी** : सम्यग्दृष्टिरभेदेन **सम्यक्त्वं** जीवगुणं'–**'सम्यग्दृष्टिः** जीव के गुणस्वरूप **सम्यग्दर्शन** को।' यहां इसे जीव का गुण ही कहा गया है। जब सम्यग्दर्शन जीव का स्वभाव है, तो मुक्त-जीव में इसका अभाव कैसे?

उमास्वामी या अन्य आचार्यों ने न तो सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र में सुख का अभाव बतलाया और न ही उन्होंने कहीं भव्यत्व भाव के सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप में परिणत हो जाने जैसा कोई निर्देश ही दिया। भला, जब संसारी जीव में रहने वाला भव्यत्व भाव सर्वथा कर्म आदि से निरपेक्ष और जीव की मौक्तिक योग्यता को इंगित करने मात्र से सम्बन्धित है, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों कर्म के उपशम, क्षयोपशम, क्षय की अपेक्षा रखने वाले व जीव की स्व-शक्ति रूप हैं अतः दोनों के एक रूप परिणत होने की बात निराधार

ठहरती है। क्योंकि दोनों ही भिन्न स्वभावी हैं—एक व्यक्तत्त्व की योग्यता-परिचायक रूप है और दूसरे—यानी रत्नत्रय—जीव के स्व-स्वभाव रूप हैं। एक संसार दशा तक सदाकाल और अपरिवर्तित रहने वाला और दूसरे तीनों शक्ति या व्यक्तित्वरूप में संसार और मुक्त दोनों अवस्थाओं में सदाकाल रहने के स्वभाव वाले हैं। तथा जीव का त्रिकाली-स्वभाव न होने से भव्यत्व-भाव का अन्त होता है और जीव के स्व-गुण-पर्याय होने से सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) ज्ञान और चारित्र का जीव में त्रिकाल भी (शक्ति अपेक्षा भी) अभाव नहीं होता; हां, संसारी दशा में इनकी कर्म-सापेक्ष सु-रूपता अथवा वि-रूपता अवश्य होती है। ऐसी स्थिति में लिख देना कि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्ररूप परिणत जो भव्यत्व भाव है'—पृ० 20, सर्वथा आगम के विरुद्ध है जबकि भव्यत्वभाव अन्य किसी रूप में भी परिणत नहीं होता।

यहां हमें ब्र० श्री राकेश की वे पंक्तियां भी याद हैं, जो उन्होंने 'समयसार' द्वितीय संस्करण के प्रारम्भिक 'सम्प्रति' शीर्षक में 25-6-98 में लिखी है। इनमें वर्तमान आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा का संकेत-सा है कि उनके गुरु-प्रामाणिक हैं। तथाहि—ब्र० जी ने लिखा है—"मैंने कई लोगों से कहते सुना, आचार्य विद्यासागर जी को, कि—'समयसार' वह भी हिन्दी में पढ़ना है तो आचार्य ज्ञानसागर महाराज की टीका से पढ़ो'—(आदि) फलतः—हम उसी को पढ़ रहे हैं।

उक्त ग्रंथ में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृति का भाषानुवाद (आ० ज्ञानसागर महाराज कृत) है। पाठकों की जानकारी के लिए हम दोनों को उद्‌धृत कर रहे है। पाठक देखें कि वहां भव्यत्व-भाव के रत्नत्रय रूप में परिणत होने की बात कही है, या जीव के भावों को रत्नत्रय रूप परिणत होने की बात कही है? हम निर्णय उन्हीं पर छोड़ते हैं। तथाहि—

तात्पर्यवृति—तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं **जीवः** सहजशुद्धपारिणामिक भावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्य-

सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण **परिणमति**। तच्च परिणमना-गमभाषयौपशमिक क्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते'।

—तात्पर्यवृत्ति गाथा 343 में

भाषानुवाद—"जब काल आदि लब्धियों के वश से भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह **जीव** सहजशुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे निज आत्म-द्रव्य के सम्यग्श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप में परिणम न करता है। उस ही परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव इन तीन नामों से कहा जाता है।"

—समयसार, गाथा 343, पृ० 303-4

उक्त टीका की पुष्टि अन्य आगमों से भी होती है। सभी में जीव के भावों के रत्नत्रय रूप में परिणत होने की ही पुष्टि की है, न कि भव्यत्वभाव के रत्नत्रयरूप परिणत होने की। जैसे—

1. 'सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्यः'(जीवः)

—सर्वार्थसि 2।7

2. 'सम्यग्दर्शनादि पर्यायेण य **आत्मा** भविष्यतीति भव्यः'(जीवः)

—तत्वार्थरा-2।7।7

3. 'सिद्धत्तणस्स जोग्गा **जे जीवा** हवंति भवसिद्धा।'

ध०1,पृ०150

4. 'मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणंस्यतीति भव्यः'(जीवः)

—लघीय० अभयवृ० पृ० 99

अब रह जाती है रत्नत्रय में सुख न होने की बात। सो इस पर हम विशेष न लिखकर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि जब सिद्धात्माओं में पूर्ण शुद्ध-ज्ञान का सद्भाव निश्चित है तब उस ज्ञान से उसकी सुखरूप पर्याय को पृथक् कैसे माना जा सकता है? आचार्यों ने सुख को ज्ञान की पर्याय माना है—'सुखं तु ज्ञानदर्शनयोः पर्यायः तत एव सुखस्यापि क्षयो न भवति।'—तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागरी-10/4। इसे पाठक

विचारें कि क्या ज्ञान से उसकी सुखपर्याय पृथक् हो सकती है या क्या रत्नत्रय में सुख नहीं है।

निष्कर्ष–

1. आगम-जिनवाणी है, जो गुरु को मार्ग बताती है, इसलिए उसका दर्जा गुरु से ऊपर है और इसलिए 'देवशास्त्र-गुरु' क्रम ठीक है।
   'णिच्छित्ती आगमदो, **आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा।**

   –प्रव० सार 232'

   'आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं वियाणादि।।'

   –प्रव० सार 233

2. 'शास्त्र' यह नाम ज्ञान से सम्बन्धित है और उस दिव्यध्वनि से सम्बन्धित है जो बोध देती है। अतः इसे लिपि वर्ण-माला मात्र से नहीं जोड़ा जा सकता और न यह ही कहा जा सकता है–'गुरु अपनी भाषा में लिपिबद्ध करते हैं वह शास्त्र कहलाता है।' एतावता इस युग में भी शास्त्रकार वीतराग देव ही हैं इसीलिए– इसे वीतराग वाणी कहते हैं। तथाहि–**"शिष्यते शिक्ष्यतेऽनेनेति शास्त्रं तच्चाविशेषितं सामान्येन सर्वमपि मत्यादिज्ञानमुच्यते, सर्वेणपिज्ञानेन जन्तूनां बोधनात्। अतो विशेषेस्थापयितुमाह– आगमरूपंशास्त्रमागम–शास्त्रं श्रुतज्ञानमित्यर्थः।**

   –अभि० रा० पृ० 985

   सासिज्जइ जेण तहिं सत्थं ति चाऽविसेसियं नाणं।
   आगम एव य सत्थं, आगमसत्थं तु सुयणाणं।।"

   –विशेषा० 559

3. भव्यत्वभाव रत्नत्रयरूप में परिणत नहीं होता, अतः भव्यत्व के अभाव होने पर रत्नत्रय का भी अभाव मान लेना मिथ्या है, क्योंकि मुक्तात्मा में सम्यक्त्व और ज्ञान-गुण सदाकाल ही विद्यमान रहते हैं। इसी प्रसंग से ज्ञानदर्शन की पर्याय होने से सुख भी रत्नत्रय में गर्भित है–ऐसा सिद्ध होता है।

❑

आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है

द्रव्यों की पहिचान के लिए आगम में पृथक्-पृथक् रूप से द्रव्यों के गुणधर्मों को गिनाया गया है, सभी द्रव्यों के अपने-अपने गुण-धर्म नियत हैं। कुछ साधारण है और कुछ विशेष। जहां साधारण गुण वस्तु के अस्तित्वादि को इंगित करते हैं वहां विशेष गुण एक द्रव्य की अन्य द्रव्यों से पृथक्ता बतलाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व ये जीव द्रव्य के साधारण गुण हैं और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये विशेष गुण हैं। कहा भी है–

"लक्षणानि कानि" अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तत्वं अमूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्" ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्वं अवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनमचेतनत्वं मूर्तममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणाः।

प्रत्येक जीवपुद्गलयोर्षट्।"–(आलापपद्धति गुणाधिकार)

जीव में निर्धारित गुणों को जीव कभी भी किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता। इतना अवश्य है कि कभी कोई गुण मुख्य कर लिया जाता है और दूसरे गौण कर लिये जाते हैं। यह अनेकान्त दृष्टि की अपनी विशेष शैली है। द्रव्य में गौण किए गए गुण-धर्मों का द्रव्य में सर्वथा अभाव नहीं हो जाता–द्रव्य का स्वरूप अपने में पूर्ण रहता है। यदि गौण रूप का सर्वथा अभाव माना जाय तो वस्तु-स्वरूप एकांत-मिथ्या हो जाय और ऐसे में अनेकान्त दृष्टि का भी व्याघात हो जाय। अनेकान्त तभी कार्यकारी है जब वस्तु अनेक धर्मा हो– "अनन्तधर्मणस्तत्त्वं", "सकलद्रव्य के गुण अनन्त-पर्याय अनन्ता।"

अनेकान्त दृष्टि प्रमाण नयों पर आधारित है और एक देश भाग की ज्ञाता होने से नय दृष्टि वस्तु के पूर्ण रूप की ज्ञाता नहीं हो सकती– इसलिए नयाश्रित ज्ञान छद्मस्थ के अधीन होने से वस्तु के एक देश को जान सकता है। वह अंश को जाने-कहे, यहां तक तो ठीक है। पर, यदि वह वस्तु को पूर्ण वैसी और उतनी ही मान बैठे तो मिथ्या है। यतः वस्तु, ज्ञान के अनुसार नहीं होती अपितु वस्तु के अनुसार ज्ञान होता है। अतः जिसने अपनी शक्ति अनुसार जितना जाना वह उसकी शक्ति से (सम्यग्नयानुसार) उतने रूप में ठीक है। पूर्ण रूप तो केवलज्ञानगम्य है जैसा है वैसा है। नय ज्ञान उसे नहीं जान सकता है। फलतः–

आत्मा के स्वभाव रूप असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अवस्था में नकारा नहीं जा सकता। स्वभावतः आत्मा निश्चय-नय से तो असंख्यात प्रदेशी है ही, व्यवहार नय से भी जिसे शरीर प्रमाण कहा गया है वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है। यत. दोनों नयों को द्रव्य के मूल स्वभाव का नाश इष्ट नहीं। असंख्य प्रदेशित्व आत्मा का सर्वकाल रहनेवाला गुण-धर्म है, जो नयों से कभी गौण और कभी मुख्य कहा या जाना जाता है। ऐसे में आत्मा को अनेकान्त दृष्टि से अप्रदेशी मान लेने की बात ही नहीं ठहरती। क्योंकि "अनेकांतवाद" (छद्मस्थों को) पदार्थ के सत्स्वरूप में उसके अंश को जानने की कुंजी है, गौण किए गए अशों को नष्ट करने या द्रव्य के स्वाभाविक पूर्ण रूप को जानने की कुंजी नहीं। यदि इस दृष्टि में वस्तु का सर्वथा एक अंश-रूप ही मान्य होगा तो "अनेकान्त सिद्धान्त" का व्याघात होगा।

यदि आत्मा में असंख्य प्रदेशित्व या अप्रदेशित्व की सिद्धि करनी हो तो हमें जीव की उक्त शक्ति को लक्ष्य कर 'प्रदेश' के मूल लक्षण को देखना पड़ेगा। उसके आधार पर ही यह संभव होगा। अतः यहां सिद्धांत ग्रन्थों से "प्रदेश" के लक्षण उद्धृत किए जा रहे हैं :

1. **"सः (परमाणु) यावतिक्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश।"**
   –परमाणु (पुदगल का सर्वसूक्ष्म भाग–जिसका पुनः खंड न हो सके) जितने क्षेत्र (आकाश) में रहता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं।

2. **"प्रदेशोनामापेक्षिकः सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाहः।"**

—त. भा. 5-7

—प्रदेश नाम आपेक्षिक है वह सर्वसूक्ष्म परमाणु का अवगाह (क्षेत्र) है।

3. **तैर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभागः प्रदिश्यते।"**

—त. वा. 2, 38,

—प्रदेशों के द्वारा आकाशादि (द्रव्यों के) क्षेत्र आदि का विभाग इंगित किया जाता है।

4. **"जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।**
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।।"

—जितना आकाश (भाग) अबिभागी पुद्गल अणु घेरता है, उस आकाश भाग को प्रदेश कहा जाता है।

5 **"जेत्तियमेत्तं खेत्तं अणुणारुद्धं।"** —द्रव्यत्व. नयच. 140

—अणु जितने (आकाश) क्षेत्र को व्याप्त करता है उतना क्षेत्र प्रदेश कहलाता है।

6. **"परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशः।"** —प्र. सा. जयचंद वृ.

—परमाणु जितने क्षेत्र को व्याप्त करता है, उतना क्षेत्र प्रदेश कहा जाता है।

7. **"शुद्धपुद्‌गलपरमाणुगृहीतनभस्थलमेव प्रदेशः।"**

—शुद्ध पुद्‌गल परमाणु से व्याप्त नभस्थल ही प्रदेश कहलाता है।

8. **"निर्विभाग आकाशावयवः प्रदेशः।"**

—निर्विभाग आकाशावयव प्रदेश होता है।

9. **"प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः ।।3।। प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः। कथं प्रदिश्यन्ते? परमाण्ववस्थान परिच्छेदात् ।।4।। वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणु सः यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। ते धर्माधर्मैकजीवा तुल्यासंख्येयप्रदेशा।"**—

—तत्वा. राव. 5/8/3

10. **"प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं अविभागिपुदगल. परमाणुनावष्टब्धम्।"**

—आलाप पद्धति,

आगमों के उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि "प्रदेश" और अप्रदेश शब्द आगमिक और पारिभाषिक हैं और आकाशभाग (क्षेत्र) परिमाण में प्रयुक्त होते हैं। आगम के अनुसार आकाश के जितने भाग को जो द्रव्य जितना जितना व्याप्त करता है वह द्रव्य आकाश के परिमाण के अनुसार उतने ही प्रदेशों वाला कहा जाता है।

शंका—यदि "शब्दानामनेकार्थः" के अनुसार "प्रदेश" का "खंड" और "अप्रदेश" का "अखण्ड" अर्थ मानें तो क्या हानि है?

समाधान—शब्दों के अनेक अर्थ होते हुए भी उनका प्रासंगिक अर्थ ही ग्रहण करने का विधान है। जैसे सेन्धव का अर्थ घोड़ा है और नमक भी। पर, भोजन प्रसंग में इस शब्द से "नमक" और यात्रा प्रसंग में "घोड़ा" ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के गुण-स्वभाव में "प्रदेश" "अप्रदेश" को आगमिक परिभाषा के भाव में लिया जायगा। अन्यथा शुद्धोपयोगी आत्मा के संबध में— "अप्रदेश" का अर्थ "एक प्रदेश" करने पर शुद्धात्मासिद्ध भगवान् में एक प्रदेशी होने की आपत्ति होगी जब कि उन्हें "अपदेश" न मान कर सपदेश—असंख्यात प्रदेशों वाला स्वाभाविक रूप से माना गया है। उनकी स्थिति "किंचिदूणाचरमदेहदोसिद्धाः के रूप में है। प्रदेश का परिमाण आकाशक्षेत्रावगाह से माना गया है। आत्मा को अखण्ड भानने में कोई बाधा नहीं—आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखण्ड है ही।

आगम में एक से अधिक प्रदेश वाले द्रव्य को "अस्तिकाय और मात्र एक प्रदेशी द्रव्य को "अस्तिकाय" से बाहर रखा गया है। कालाणु और अविभाज्य पुद्गल परमाणु के सिवाय सभी द्रव्यों (आत्मा को भी) को अस्तिकाय कहा है। कहीं आत्मा को अस्तिकाय से बाहर (एक प्रदेशी) द्रव्यों में गिनाया हो ऐसा पढ़ने और देखने में नहीं आया।

आत्मा को अप्रदेशी कहने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं कि "प्रदेशित्व" "अप्रदेशित्व" का आधार आकाश की अवगाहना का क्षेत्र माना गया है—परमपारिणामिक भाव नहीं। यदि इनका मापदण्ड भावों से किया गया होता तो आचार्य अरहंतों और सिद्धों को भी "अप्रदेशी" घोषित करते, जबकि उन्होंने ऐसा घोषित नहीं किया।

उक्त विषय में अन्य आचार्यों के वचन ऊपर प्रस्तुत किए गए। आचार्य कुन्दकुन्द ने संबंधित विषय को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे भी देखना आवश्यक है। क्योंकि "समयसार" उन्हीं की रचना है। "समयसार" के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में कहा गया है–

"अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कई तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे।।"

–समयसार 342

"जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्यो, असंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।" –टीका, अमृतचन्द्राचार्य (आत्मख्याति)

"आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चाऽसंख्यातप्रदेशो देशितः समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्ध चैतन्यान्वयलक्षण द्रव्यत्वं तथेवाऽसंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति।"

–टीका जयसेनाचार्य, (तात्पर्यवृत्ति)

उक्त सन्दर्भ को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं स्पष्ट है। गाथा में "नित्य", आत्मख्याति में **"द्रव्यरूपेण"**, और तात्पर्यवृत्ति में **"द्रव्यार्थिकनयेन"**, ये तीनों विशेष-निर्देश द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय के कथन को इंगित करते हैं। एतावता इस प्रसंग में आत्मा के असंख्यात प्रदेशित्व का कथन निश्चय नय की दृष्टि से ही किया गया है, व्यवहार नय की दृष्टि से नहीं।

आगम में व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के यथेच्छ रीति से प्रयोग करने की हमें छूट नहीं दी गई। इनके प्रयोग की अपनी मर्यादा है। निश्चय नय के कथन में वस्तु की स्वभाव शक्ति एवं गुण धर्म की मुख्यता रहती है और व्यवहार नय में उपचार की। इसके अनुसार आत्मा का बहुप्रदेशित्व निश्चय नय का कथन है, व्यवहार नय का नहीं।

इसका फलितार्थ यह भी निकलता है कि जो कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के स्वभावरूप-परम पारिणामिक भाव-रूप-सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा को

नित्य एवं असंख्यप्रदेशी घोषित करते हैं, वे ही आचार्य आत्मा को कथमपि किसी भी प्रसंग में अप्रदेशी नहीं कह सकते।

"जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेसत्ति कालस्स।।

—कुन्दकुन्द, प्रवचनसार 43

"अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्याऽसंख्येय-प्रदेशापरित्यागात् जीवस्य।" —वही, अमृतचन्द्राचार्य-तत्वदीपिका

"तस्य तावत संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत् प्रदेशानां हानिवृद्धयोरभावात् व्यवहारे देहमात्रोऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽसंख्येय प्रदेशत्वम्।" —वही, जयसेनाचार्य, तात्पर्यवृत्ति

जीव के असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अपेक्षा से उपचार या व्यवहार का कथन नहीं माना जा सकता। प्रदेश व्यवस्था द्रव्यों के स्वाधीन है और वह उनका स्वभाव ही है और स्वभाव में उपचार नही होता। तत्त्वार्थ राजवार्तिक (5/8/13) का कथन है कि—

हेत्वपेक्षाभावात् ।।3।। पुद्गलेषु प्रसिद्ध हेतुमवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचारः न क्रियते तेषामपि स्वाधीन प्रदेशत्वात्। तस्मादुपचार कल्पना न युक्ता।"

स्वर्गीय, न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार जी का यह कथन विशेष द्रष्टव्य है—

"शुद्ध नय दृष्टि से अखण्ड उपयोग स्वभाव की विवक्षा से आत्मा में प्रदेश भेद न होने पर भी संसारी जीव अनादि कर्म-बन्धनबद्ध होने से सावयव ही है।" —त. वा. (ज्ञानपीठ) पृ. 666

एक बात और। अपेक्षाश्रित होने से नय-दृष्टि में वस्तु का पूर्ण त्रैकालिकशुद्धस्वभाव गम्य नहीं होता। पूर्ण ग्रहण तो सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा ही होता है। इसीलिए आचार्य पदार्थज्ञान को नय-दृष्टि से अतीत घोषित करते हैं। वे कहते है—

"णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।"
"सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।"

—समयसार, 142, 144

मूर्त द्रव्य में तो परमाणु की प्रदेश सज्ञा मानी जा सकती है, पर प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की वहाँ भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पुद्गल द्रव्य के सिवाय सभी अमूर्त द्रव्यों में प्रदेश का भाव आकाश क्षेत्र से ही होगा उपयोग के अनुसार नहीं।

मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंताणूनां पिण्डा स्कंधस्त एव त्रिविधा प्रदेशा भण्यंते न च क्षेत्रप्रदेशाः–(शेषाणां क्षेत्राऽपेक्षेति फलितम्) —बृ. द्रव्य सं. टीका गाथा 25

सिद्धत्वपर्याय में उस पर्याय के उपादान कारणभूत शुद्धात्मद्रव्य के क्षेत्र का परिमाण–चरमदेह से किंचित् न्यून है जो कि तत्पर्याय (अंतिम शरीर) परिमाण ही है, एक प्रदेश परिमाण नहीं।

'किंचिदूणचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्यापादानकारण-भूतशुद्धात्मद्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव।' —वही

द्रव्यसंग्रह में शंका उठाई गई है कि सिद्ध-आत्मा को स्वदेहपरिमाण क्यों कहा? वहाँ स्पष्ट किया है कि–

'स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति।'

—वही गाथा 2 टीका

स्मरण रहे कि कोई आत्मा को अणुमात्र (अप्रदेशी) कहते हैं और कोई व्यापक। उनकी मान्यता समीचीन नहीं, यहाँ यह स्पष्ट किया है।

पंचास्तिकाय में आत्मा के प्रदेशों के संबंध में लिखा है–

'निश्चयेन लोकमात्रोऽपि। विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वात नामकर्म निवृत्तमणुमहत्तशरीरमधितिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रो।'

—(त. ही.)

'निश्चयेन लोकाकाशप्रतिमाऽसंख्येयप्रदेशप्रमितोऽपि व्यवहारेण शरीरनामकर्मोदय जनिताणुमहच्छरीर प्रमाणत्वात् स्वदेहमात्रो भवति।'

–(तात्पर्य वृ.) 27,

यदि उपयोगावस्था में आत्मा अप्रदेशी माना जाता है तो आत्मा के अखंड होने से यह भी मानना पड़ेगा कि आत्म प्रदेश बृहत् शरीर में सिकुड़ कर प्रदेशमात्र-अवगाह में हो जाते हैं और शेष पूरा शरीर भाग आत्महीन (शून्य) रहता है–जैसा कि पढ़ने-सुनने में नहीं आया।

छद्मस्थ का ज्ञान प्रमाण और नयगर्भित है और केवली भगवान् का ज्ञान प्रमाणरूप है। नय का भाव अंशग्राही और प्रमाण का भाव सर्वग्राही है। दोनों में ही अनेकान्त की प्रवृत्ति है, अनेकान्त की अवहेलना नहीं की गई–'अनेकान्तोऽप्यनेकान्त'। प्रसंग में भी इसी आधार पर आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व का विधान किया गया है। तथाहि–

अनेकान्त की दो कोटियां हैं। एक ऐसी कोटि जिसमें अपेक्षादृष्टि से अशों को क्रमशः जाना जाय और दूसरी कोटि वह जिसमें सकल को युगपत् प्रत्यक्ष जाना जाय। प्रथम कोटि में रूपी पदार्थों को जानने वाले चार ज्ञानधारी तक के सभी छद्मस्थ आते हैं। इन सभी के ज्ञान परसहायापेक्षी आंशिक और क्रमिक होते हैं। प्रत्यक्ष होने पर भी वे 'देश-प्रत्यक्ष' ही कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में इन सभी को एक समय में एक प्रदेशग्राही भी माना जा सकता है यानी ये एक प्रदेश (ऊर्ध्वप्रचय) के ज्ञाता होते हैं। दूसरी कोटि में केवली भगवान् को लिया जायगा। यतः ये एक और एकाधिक अनंत प्रदेश (तिर्यक्प्रचय–बहुप्रदेशी द्रव्य) के युगपत् ज्ञाता है। आचार्यो ने इसी को ध्यान में लेकर ऊर्ध्व प्रचय को 'क्रमाऽनेकान्त' और तिर्यक् प्रचय को 'अक्रमाऽनेकान्त' नाम दिए हैं–

'तिर्यक्प्रचयः तिर्यक् सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति **'अक्रमाऽनेकान्त'** इति च भण्यते। ...... ऊर्ध्व प्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति 'क्रमाऽनेकान्त' इति च भण्यते।'

–प्रव. सार (त. वृ.) 141 ।200 ।9

'वस्तु का गुण समूह अक्रमाऽनेकान्त है क्योंकि गुणों की वस्तु में युगपद्वृत्ति है और पर्यायों का समूह क्रमाऽनेकान्त हैं, क्योंकि पर्यायों की वस्तु में क्रम से वृत्ति है'–

–जैनेन्द्र सि. कोष पृ. 108

स्पष्ट है कि क्रमाऽनेकान्त में वस्तु का स्वाभाविक पूर्णरूप प्रकट नहीं होता, स्वाभाविक पूर्णरूप तो अक्रमाऽनेकान्त में ही प्रकट होता है और बहुप्रदेशित्व का युगपद्ग्राही ज्ञान केवलज्ञान ही है। अतः केवलज्ञानगम्य–प्रदेशसम्बन्धी वही रूप प्रमाण है, जो सिद्ध भगवान् का रूप है–

'किंचिदूणा चरम देहद सिद्धा।' अर्थात्–

–असंख्यात प्रदेशी।

आगम में द्रव्य का मूल स्वाभाविक लक्षण उसके गुणों और पर्यायों को बतलाया गया है और ये दोनों ही सदा कालद्रव्य में विद्यमान हैं। द्रव्य के गुण द्रव्यार्थिक नय और पर्यायें पर्यायाथिक नय के विषय हैं। जब हम कहते हैं कि 'आत्मा अखंड है' तो यह कथन द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और जब कहते हैं कि 'आत्मा असंख्यात प्रदेशी है' तो यह कथन पर्यायार्थिकनय का विशष होता है। दोनों ही नय निश्चय में आते हैं। जिसे हम व्यवहार नय कहते हैं वह द्रव्य को पर-संयोग अवस्थारूप में ग्रहण करता है चूंकि आत्मा का असंख्यप्रदेशत्व स्वाभाविक है अतः वह इस दृष्टि से व्यवहार का विषय नहीं-निश्चय का ही विषय है। द्रव्यायार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों में एक की मुख्यता में दूसरा गौण हो जाता है–द्रव्यस्वभाव में न्यूनाधिकता नहीं होती। अतः स्वभावतः किसी भी अवस्था में आत्मा अप्रदेशी नहीं है। वह त्रिकाल असंख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

आत्मा को सर्वथा असंख्यातप्रदेशी मानने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव भी नहीं होगा। यतः अर्थक्रियाकारित्व का अभाव वहां होता है जहां द्रव्य के अन्य धर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर उसे एक धर्मरूप में ही स्वीकार किया जाता है। यहां तो हमें आत्मा के अन्य सभी धर्म स्वीकृत हैं केवल

प्रदेशत्वधर्म के सम्बन्ध में ही उसके निर्धारण का प्रश्न है—यहां अन्य धर्मों के रहने से स्वभावशून्यता भी नहीं होगी और ना ही द्रव्यरूपता का अभाव। यदि एक धर्म के ही आसरे से (अन्य धर्मों के रहते हुए) अर्थक्रियाकारित्व की हानि होती हो तब तो एक प्रदेशी होने से कालाणु, पुद्गलाणु में और असंख्यात प्रदेशी होने से सिद्धों में भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा—पर ऐसा होता नहीं।

राजवार्तिक में आत्मा के अप्रदेशपने का भी कथन है पर वह आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व के निषेध में न होकर शुद्धदृष्टि को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है अर्थात् आत्मा यद्यपि परमार्थ से असंख्यातप्रदेशी अवश्य है तथापि शुद्धदृष्टि की विवक्षा में बहुप्रदेशीपने को गौण कर अखण्डरूप से ग्रहण करने के लिए अभिप्रायवश उसे अप्रदेशरूप कहा गया है प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा को लक्ष्य कर नहीं।

प्रकृत में उपसंहाररूप इतना विशेष जानना चाहिए कि जहां तक मोक्षमार्ग का प्रसंग है, उसमें निश्चय का अर्थ करते समय, उसमें यथार्थता होने पर भी अभेद और अनुपचार की मुख्यता रखी गई है। इस दृष्टि को साधकर जब अप्रदेशी का अर्थ किया जाता है, तब प्रदेश का अर्थ भेद या भाग करने पर अप्रदेश का अर्थ अखण्ड हो जाता है। इसलिए परमार्थ से जीव के—स्व-स्वरूपशक्ति से असंख्यातप्रदेशी होने पर भी दृष्टि की अपेक्षा उसे अखण्डरूप से अनुभव करना आगम सम्मत है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से आत्मा असंख्यातप्रदेशी और अखण्ड है ही और एक प्रदेशावगाही होकर भी उसके असंख्यप्रदेशी हो सकने में कोई बाधा नहीं। इसका निष्कर्ष है कि आत्मा अप्रदेशी तथा अखण्ड नहीं, अपितु असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

❑

परिग्रह : मूर्च्छाभाव

कहते हैं सत्य बडा कड़वा अमृत है। जो इसे हिम्मत करके एक बार पी लेता है वह अमर हो जाता है और जो इसे गिरा देता है वह सदा पछताता है। हम एक ऐसा सत्य कहने जा रहे हैं जिसे जन-मानस जानता है—मानता नहीं और यदि मानता है तो उस सत्य का अनुगमन नहीं करता। उस दिन एक सज्जन मेरे हस्ताक्षर लेने आ गए। दूर से आए थे, कह रहे थे—आपके सुलझे और निर्भीक विचारों को 'अनेकान्त में पढ़ता रहता हूं। कारणवश दिल्ली आना हुआ। सोचा आपके दर्शन करता चलूं। उनके आग्रहवश मैंने हस्ताक्षर दे दिए। वे पढ़कर बोले—आप तो जैन हैं, आपने अपने को जैन नहीं लिखा—केवल पद्मचन्द्र शास्त्री लिखा है। मैंने कहा—हाँ, मैं ऐसा ही लिखता हूं। इससे आप ऐसा न समझें कि मै इस समुदाय का नहीं। मैं तो इसी में पैदा हुआ हूं, बड़ा भी इसी में हुआ हूं और चाहता हूं मरूँ भी यहीं। काश! लोग मुझे जैन होकर मरने दें! यानी 'ये तन जावे तो जावे, मुझे जैन-धर्म मिल जावे।' मैंने कहा—पर अभी मुझे जैन या जिन बनने के लिए क्या कुछ, और कितना करना पड़ेगा, यह मैं नहीं जानता। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि मैं मूर्च्छा—परिग्रह को कृश कर सकूं तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जब मैं अपने को जैन लिख सकूं।

'जिन' और 'जैन' ये दोनों शब्द आपस में घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। जिन्होंने कर्मो पर विजय पाई हो, वे 'जिन' होते हैं और 'जिन' का **धर्म 'जैन'** होता है। मुख्यतः धर्म के लक्षण-प्रसंग में **'वत्थु सहावो धम्मो'** और **'यः सत्वान् संसार दुःखतः उद्धृत्य उत्तमे (मोक्षे) सुखे धरति सः धर्मः'** ये दो लक्षण देखने में आते हैं। जहाँ तक प्रथम लक्षण का सम्बन्ध

है, वहां हमें कुछ नहीं कहना। क्योंकि वहां तो 'जिन' का अपना स्वभाव ही 'जैन' कहलाएगा। जैसे अग्नि का अपना अस्तित्व है वह उसके अपने धर्म उष्णत्व से है। न तो अग्नि उष्णत्व को छोड़ेगी और न ही उष्णत्व अग्नि को छोड़ेगा। ऐसे ही जिनका यह धर्म 'जैन' है, वे 'जिन' भी इसे न छोड़ेंगे और ना जैन ही छोड़ेगा। मोह रागादि परिग्रह को छोड़ने से 'जिन' हैं ओर उनका धर्म 'जैन' उन्हीं में रहेगा। और जो 'जिन' बनता जाएगा उसका धर्म जैन होता जाएगा। यह बात बड़ी ऊँची और अध्यात्म की है अतः हम इसे यहीं छोड़ते हैं। प्रसंग में तो जैन से हमारा आशय 'जिन' द्वारा प्रसारित उस धर्म से है जो जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर 'जिन' बना सके—मोक्ष सुख दिला सके। क्योंकि इस धर्म का माहात्म्य ही ऐसा है कि जो इसे धारण करता है उसी को 'जैन' या 'जिन' बना देता है। कहा भी है–'जो अधीन को आप समान, करै न सो निन्दित धनवान।'

वर्तमान में अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली-परिपाटी प्रचलित है, यदि उसमें सुधार आ जाय तो लौकिक-मानव बना जा सकता है। प्राचीन समय की सुधरी परिपाटी ही आज तक समाज और देश को एक सूत्र में बांधे रह सकी है। निःसन्देह उक्त नियमों के बिना न तो समाज सुरक्षित रह पाता और ना ही देश का उद्धार हुआ होता। लौकिक सुख-शान्ति भी इन्हीं नियमों पर आधारित हैं। इसीलिए भारत के विभिन्न मतमतांतरों ने भी इन पर ही विशेष बल दिया ताकि मानव, मानव बन सके और लौकिक सुख-शान्ति से ओत-प्रोत रह सके। **पर जैन तीर्थंकरों की दृष्टि पारलौकिक सुख तक भी पहुंची।** उन्होंने जीवों को शाश्वत-परलोक—मोक्ष का मार्ग भी दर्शाया। उनका बताया मार्ग ऐसा है जिससे दोनों लोक सध सकते हैं। वह मार्ग है—मानव से 'जैन' और 'जिन' बनने का **पूर्ण परिग्रह के छोड़ने का अर्थात् जब स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का त्याग किया जाता है तब मानव बना जाता है और जब परिग्रह की सीमा बांधी या परिग्रह का त्याग किया जाता है तब 'जैन' बना जाता है।** जैनियों में जो दश धर्मों का वर्णन

है, उनमें भी पूर्ण-अपरिग्रह धर्म ही साध्य है, शेष धर्म उस अपरिग्रह के पूरक ही हैं। कहा भी है–

'क्षमा मार्दव आर्जव **भाव** हैं, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग **'उपाय'** हैं। आकिंचन ब्रह्मचर्य **धर्म** दश सार हैं...।'

जब सत्य, शौच, संयम, तप और त्यागरूपी उपायों से **मन** को क्षमा, मार्दव, आर्जस्व रूप भावों में ढाला जाता है **तब** आकिंचन्य (पूर्ण अपरिग्रह) धर्म प्राप्त होता है और तभी आत्मा–ब्रह्म (आत्मा) में लीन (तन्मय) होता है। यह आत्मा में लीनता (तद्रूपता) का होना ही 'जिन' या 'जैन' का रूप है। और इसे प्राप्त करने के लिए आस्रव से निर्वृत्ति पाकर संवर-निर्जरा के उपाय करने पड़ते हैं और वे सभी उपाय प्रवृत्ति रूप न होकर निवृत्ति रूप (जैसा कि ध्यान में होता है) ही होते हैं। किन्हीं अंशों में हम आंशिक निवृत्ति करने वालों को भी 'जिन' या 'जैन' कह सकते हैं। कहा भी है–

'जिणा दुविहा सयलदेसजिणभेएण। खविय धाइकम्मा सयलजिणा। के ते? अरहंत सिद्धा अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देस जिणा तिव्व कसायेंदियमोहविजयादो।'–धवला–9, 4, 1, 1, 10।

जिन दो प्रकार के हैं–सकलजिन और देशजिन। घातिया कर्मों का क्षय करने वाले अरहंतों और सर्वकर्मरहित सिद्धों को सकलजिन कहा जाता है तथा कषाय मोह और इन्द्रियों की तीव्रता पर विजय पाने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु को देश-जिन कहा जाता है। उक्त गुणों की तर-तमता में कथंचित् देश-त्यागी–परिग्रह को कृश करने वाले श्रावकों को भी भावी नय से जैन मान सकते हैं, क्योंकि–मोक्षरूप उत्तम सुख मिलना परिग्रह कृश करने पर ही निर्भर है, फिर चाहे वह–परिग्रह अन्तरंग हो या बहिरंग या हिंसादि पापों रूप हो–सभी तो परिग्रह है।

ये तो 'जिन' की देन है, जो उन्होंने वस्तुतत्व को बिना किसी भेद-भाव के उजागर किया और अपरिग्रह को सिरमौर रखा और अहिंसा आदि सभी में इस अपरग्रिह को हेतु बताया। पिछले दिनों हमें श्री

खुशालचन्द गोरावाला का पत्र मिला है। पत्र का सारांश यह है कि चारों कषायों और पांचों पापों में कार्य कारण की व्यवस्था उल्टी है। कार्य-निर्देश पहिले और कारण-निर्देश अन्त में है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों में अन्त की लोभ कषाय पूर्व की कषायों में कारण है। लोभ (**चाहे वह किसी लक्ष्य में हो**) के होने पर ही क्रोध, मान या मायाचार की प्रवृत्ति होगी। इसी प्रकार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पांच पापों में भी अन्त का परिग्रह पाप पूर्व के पापों में मूल कारण हैं। परिग्रह (**चाहे वह किसी प्रकार का हो**) के होने पद ही हिंसा, झूठ, चोरी या कुशील की प्रवृत्ति होगी। ये तो हम पहिले भी लिख चुके हैं कि– 'तन्मूलासर्वदोषानुषङ्गा........ममेदमिति, हि सति सकल्पे रक्षणादय संजायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्यं भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्य चाचरति, मैथुनं च कर्मणि प्रतिपतते।'–त. रा. वा. 7।17।5 सर्व दोष परिग्रह मूलक हैं। यह मेरा है, ऐसे संकल्प में रक्षण आदि होते हैं, उनमें हिंसा अवश्य होती है, उसी के लिए प्राणी झूठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है, आदि।

आचार्यो ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा हैं और यहां मूर्च्छा से तात्पर्य 14 प्रकार के परिग्रह से है। मूर्च्छा ममत्व भाव को कहते हैं और ममत्व सब परिग्रहों में मूल हैं। अरति, शोक, भयादि भी इसी से होते हैं। इसीलिए ममत्व का परिहार करना चाहिए। राग की मुख्यता के कारण ही जिन भगवान् को भी वीत-द्वेष न कह कर वीतरागी कहा गया है। यदि प्राणी का राग बीत जाय–मूर्च्छा भाव बीत जाय तो वह 'जिन हो जाय। जिनमार्ग में परिग्रह को सर्व पापों का मूल बताया गया है और परिग्रह त्यागी को ही 'जिन' और 'जैन' का दर्जा दिया गया है।

कुछ लोग रागादि को हिंसा और रागादि के अभाव को अहिंसा माने बैठे हैं और हिंसा व परिग्रह में भेद नहीं कर रहे। ऐसे लोगों का कहना है कि अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि–

'अप्रादुर्भावः खलु रागदीनां भवत्यार्हिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

ऐसे लोगों को सूक्ष्म दृष्टि से कार्य-कारण की व्यवस्था को देखना चाहिए। आचार्य ने यहां कारणरूप रागादिक में कार्य-रूप हिंसा का उपचार किया है। रागादिक स्वयं हिंसा नहीं है अपितु हिंसा में कारण है। इसीलिए आगे चलकर इन्हीं आचार्य ने कहा है–

'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबंधना भवति पुंसः।'
'आरभ्यकर्तृमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।'
'यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथमात्मनात्मानम्।'
यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणाम्।' —पुरुषा०

हिंसा पर-वस्तु (रागादि) के कारणों से होती है। हिंसा कषाय भावों के अनुसार होती है। कषाय के योग से द्रव्यभावरूप प्राणों का घात होता है और सकषाय जीव हिंसक (हिंसा करने वाला) होता है।

जो लोग ध्यान के विषय में किसी बिन्दु पर मन को लगाने की बात करते हैं उसमें भी आस्रव भाव होता है। फिर जो दीर्घ संसारी हैं, ऐसे लोगो ने तो ध्यान-प्रचार के बहाने आज देश-विदेशों में भी काफी हलचल मचा रखी है, जगह-जगह ध्यानकेन्द्रो की स्थापना की है। वहां शांति के इच्छुक जनसाधारण मनः शान्ति हेतु जाते है। पर **वहाँ वे, वह कुछ नहीं पा सकते** जो उन्हें जिन, जैनी या अपरिग्रही होने पर—सब ओर से मन हटाने पर मिल सकता है। **यहाँ आत्मा का आत्मदर्शन मिलेगा** और वहां उन्हें परिग्रहरूपी पर-विकारी भाव मिलेंगे। फिर चाहे वे विकारी भाव व्यवहारी दृष्टि से—कर्मशृंखलारूप में 'शुभ' नाम से ही प्रसिद्ध क्यों न हों। वास्तव में तो वे बधरूप होने से अशुभ ही है; कहा भी है–

'कम्मसमुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह कुसीलं।
कह तं होइ सुसीलं जे संसारं पवेसेदि।।'

—समयसार4।1।145

अशुभ कर्म कुशील—बुरा है और शुभ कर्म सुशील अच्छा है, ऐसा तुम जानते हो; किन्तु जो कर्म जीव को संसार में प्रवेश कराता है, वह किस प्रकार सुशील अच्छा हो सकता है? अर्थात् अच्छा नहीं हो सकता।

उक्त प्रसंग से तात्पर्य ऐसा ही है कि यदि जीव परिग्रह—आस्रव

जनक क्रिया को त्याग कर संवर-निर्जरा में प्रत्यनशील हो—सभी प्रकार विकल्पों को छोड़कर स्व में आए तो इसे जिन या जैन बनने में देर न लगे। आचार्यों ने स्व में आने के मार्ग रूप संवर-निर्जरा के जिन कारणों का निर्देश किया है, वे सभी कारण परिग्रह निवृत्तिरूप हैं, किसी में भी हिंसा, झूठ, चोरी जैसे किसी परिग्रह का संचय नहीं। तथाहि—स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा-परीषह जय चारित्रैः। 'तपसा निर्जरा च।' गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है और तप से संवर और निर्जरा दोनों होते हैं। उक्त क्रियाओं में प्रवृत्ति भी निवृत्ति का स्थान रखती है—सभी में पर—परिग्रह त्याग और स्व में आना है। तथाहि—

गुप्ति—'यत' संसारकारणादात्मनो गोपनं सा गुप्तिः।'

—रा. वा. 9।2।1

जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन (रक्षण) होता है वह गुप्ति है।

मनोगुप्ति—'जो रागादि णियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।'

वचोगुप्ति—'अलियादिणियत्ती वा मौणं वा होइ वदिगुत्ती।'

—नि. सा. 69

कायगुप्ति—'काय किरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगेगुत्ती।'—नि. सा. 78

समिति—'निज परम तत्त्व निरत सहज परमबोधादि परम धर्माणां संहति समिति। —नि.सा.ता.वृ.61

'स्व स्वरूप सम्यगितो गतः परिणतः समितिः।'

—प्र. सा. ता. वृ. 240

'अनंत ज्ञानादि स्वभावे निजात्मनि सम सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिंतन तन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समिति।'—प्र. सं. टी. 35

धर्म— 'भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मुभणेविणु लेहु।'

—प. प्र. मू. 2/68

'मिथ्यात्व रागादि संसरणरूपेण भावसंसारेप्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः।'

—प्र. सा. ता. वृ. 7/919

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मम्। —रत्न. 3

'चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।'

—प्र. सा. 7

अनुप्रेक्षा—'कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणुपेक्खणा नाम।' ध 9, 4, 1, 55

परीषहजय—'क्षुधादि वेदनानां तीव्रोदयेऽपि...समतारूप परमसामायिकेन... निजपरमात्मात्मा भावना संजात निर्विकार नित्यानन्दलक्षणसुखामृत संवित्तेरचलनं स परीषह जय।'

—प्र. स. टी. 35

चारित्र—'स्वरूपे चरण चारित्रम्। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः।'

—प्र. सा. वृ. 7

तप—'इच्छानिरोधस्तपः।' —त सू.

मन की रागादिक से निवृत्ति होना मनोगुप्ति है। झूठ आदि से निवृत्ति या मौन वचनगुप्ति है। काय की क्रिया से निवृत्ति—कायोत्सर्ग कायगुप्ति है। निज परमात्मतत्व में लीन सहज परम ज्ञानादि परमधर्मो का समूह समिति है। स्व-स्वरूप में ठीक प्रकार से गत—प्राप्त समित कहलाता है। अनंत ज्ञानादि स्वभावी निज आत्मा में, रागादि विभावों के त्यागपूर्वक, लीन होना, तन्मय होना परिणति होना समिति है। अपना शुद्ध आत्म-भाव धर्म है उसमें रहो। जो प्राणी को मिथ्यात्व रागादिरूप संसार से उठाकर निर्विकार शुद्ध-चैतन्य में धरे वह धर्म है, रत्नत्रय धर्म है। चारित्र निश्चय से धर्म है। समता को धर्म कहा है। मोह-क्षोभ से रहित निज आत्मा ही समय है—आत्मा है, समताभाव है, धर्म है। कर्म की निर्जरा के लिए अस्थि-मज्जागत अर्थात्

पूर्णरूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान के परिशीलन करने का नाम अनुप्रेक्षण है–शरीर भोगादि की अस्थिरता आदि का चिंतन अनुप्रेक्षा है। क्षुधादि वेदनाओं के तीव्रोदय होने पर भी–समतारूप परमसामायिक से......निज परम आत्म की भावना से उत्पन्न नित्यानन्दमयसुखामृत से चलायमान न होना परीषह जय है। स्वरूप में आचरण चारित्र है अर्थात् स्वात्मप्रवृत्ति चारित्र है। इच्छा का निरोध तप है।

उक्त सभी उद्धरणो में (जो संवर-निर्जरा के साधनभूत हैं) परिग्रह की निवृत्ति और स्व-प्रवृत्ति ही मुख्यतः परिलक्षित होती है और उक्त व्यवस्थाओं में प्रयत्नशील किन्हीं व्यक्तियों को भी कदाचित् हम किन्हीं अपेक्षाओं से देशजिन या जैन कह सकते है। पर, आज तो जैनाचार से सर्वथा अछूता व्यक्ति भी किसी समुदाय विशेष में उत्पन्न होने मात्र से ही अपने को जैन घोषित करने का दम्भ बनाए बैठा है और विडम्बना यह कि इस प्रकार 'जैन' को सम्प्रदाय बनाकर भी कुछ लोग इसे बड़े गर्व से धर्म का नाम दे रहे हैं–कह रहे हैं 'जैन सम्प्रदाय नहीं, अपितु धर्म है। और वे स्वय भी जैनी हैं। जब कि इस धर्म के नियमों के पालन से उन्हे कोई सरोकार नहीं। यह तो ऐसा ही स्व-वचन बाधित वचन है जैसे कोई पुरुष बांझ स्त्री का लक्षण करते हुए कहे कि–'जिसके संतान न हो उसे बॉझ कहते हैं जैसे–'मेरी मां।'–भला बाँझ है तो मॉ कैसे और वह उसका पुत्र कैसे? इसी प्रकार यदि वह सम्प्रदायी है तो जैन कैसे?

हमारा कहना तो यही है कि यदि किसी को सच्चा जैन बनना है तो परिग्रहों में संकोच करे। इनमें संकोच होते ही उसमे अहिंसादि सब व्रतों का संचार होगा–क्योंकि सभी पापों की जननी परिग्रह है और 'जैन-संस्कृति' का मूल अपरिग्रह है।

❑

परिग्रह-मोह ने पंचव्रतों के नाम बदलाए

आचार्य श्री उमा स्वामी तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता हैं और जैन परम्परा के सभी सम्प्रदायों में सूत्र की प्रामाणिकता व महत्ता आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। सूत्र के पाठ करने मात्र से उपवास का फल मिल जाता है।– 'दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुगवैः।।'–

उक्त सूत्र ग्रन्थ जैन-दर्शन के हार्द को स्पष्ट करने वाला है। इसके सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र में आचार्य ने व्रत शब्द की जो परिभाषा दी है वह पुण्य-पाप जैसे सभी अंतरंग और धन-धान्यादि बहिरंग परिग्रहों से निवृत्त होने की दशा का बोध देती है– उसमें किसी प्रकार के सकल्प-विकल्प तक को स्थान नहीं, जो यह कहा जा सके कि– तू अमुक को ग्रहण कर। पर, आज तो ग्रहण करने का ग्रहण सब को ग्रस रहा है। भौतिक सुख-सम्पदा है, तो उसे ग्रहण करो, धर्म का कोई अंग है तो उसे ग्रहण करो· आदि गोया, छोड़ने से किसी को प्रयोजन ही नहीं।

वस्तुस्थिति ऐसी है कि तू अपने में रहने का पूर्ण अधिकारी है और अपने में रहने के लिए तुझे शुभ-अशुभ जैसे सभी पर-भावों– परिग्रहो से निवृत्ति आवश्यक है। प्रवृति करना तो अपने को कर्मों से आच्छादित करना है। इसीलिए कहा जाता है कि यह जीव जैसे-जैसे जितने-जितने अंशो में परिग्रह से निवृत्त होता जायगा वैसे-वैसे उतने-उतने अशों में शुद्ध होता जायगा। जीव की ऐसी निवृत्ति से उसकी विशेषताओं

का स्वयं विकास होगा। इसे अहिंसक या सत्यवादी बनने के लिए कुछ ग्रहण करना नही होगा—यह निर्विवाद है। खेद है कि—वस्तु की ऐसी मर्यादा होने पर भी लोग संचय करने या पर को पकड़ने की ओर दौड़ रहे हैं। देने वाले व्रत आदि दे रहे हैं और लेने वाले ले रहे हैं। दोनों में से कोई भी विरत नहीं हो रहा। इस पकड़ में लोग यहां तक पंहुच गये हैं कि—उन्होंने पकड़ के नशे में व्रतों के नामों तक को विपरीत दिशा में मोड़ दिया है। जहां किसी व्रत का नाम 'हिंसाव्रत' था वहां वे उसे 'अहिंसाव्रत' कहने लगे हैं—उन्होंने पंचव्रतों के नाम ही पकड़ रूप मे बदल लिए हैं।

'हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरति* र्व्रतम्।'— यह व्रत की परिभाषा है। इसका अर्थ है कि—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्ति—विराम लेना अर्थात् इन्हे परिवर्जन करना 'व्रत' है। आचार्य ने व्रत को दो श्रेणियो में दर्शाया है—1-अणुव्रत 2-महाव्रत। अणु का अर्थ अल्परूप में और महा का अर्थ महान् रूप में लिया गया है। हम पांचों व्रतो को नामकरण इस प्रकार करते हैं—

1—श्री आचार्य उमास्वामी के मत में:— (वारण अर्थ)

अणुव्रत :

1. हिंसा से अणुरूप मे विरति=हिंसाअणुव्रत=हिंसाणुव्रत
2. अनृत से अणुरूप में विरति=अनृत+अणु+व्रत=अनृताणुव्रत
3. स्तेय से अणुरूप में विरति=स्तेय+अणु+व्रत=स्तेयाणुव्रत
4. अब्रह्म से अणुरूप में विरति=अब्रह्म+अणु+व्रत=अब्रह्माणुव्रत
5. परिग्रह से अणुरूप में विरति=परिग्रह+अणु+व्रत=परिग्रहाणुव्रत

महाव्रत:

1. हिंसा से महानूरूप में विरति=हिंसा+महा+व्रत=हिंसामहाव्रत
2. अनृत से महानूरूप में विरक्ति=अनृत+महा+व्रत=अनृतमहाव्रत

* 'तेभ्यो विरमण विरति'—सर्वा० 7/1, "औपशमिकादिचारित्राविर्भावात् विरमणं विरति" —त० वा० 7/1

3. स्तेय से महानूरूप में विरति=स्तेय+महा+व्रत=स्तेय महाव्रत
4. अब्रह्म से महानूरूप में विरति=अब्रह्म+महा+व्रत=अब्रह्ममहाव्रत
5. परिग्रह से महानूरूप में विरति=परिग्रह+महा+व्रत=परिग्रहमहाव्रत

2—अन्य कई आचार्यों के मत में:— (वरण अर्थ)

अणुव्रत :

1. अहिंसा से अणुरूप में रति=अहिंसा+अणु+व्रत=अहिंसाणुव्रत
2. अनृत से अणुरूप में रति=अनृत+अणु+व्रत=अनृताणुव्रत
3. अस्तेय से अणुरूप में रति=अस्तेय+अणु+व्रत=अस्तेयाणुव्रत
4. ब्रह्म से अणुरूप में रति=ब्रह्म+अणु+व्रत=ब्रह्माणुव्रत
5. अपरिग्रह से अणुरूप में रति=अपरिग्रह+अणु+व्रत=अपरिग्रहाणुव्रत

महाव्रतः

1. अहिंसा से महत्‌रूप में रति=अहिंसा+महा+व्रत=अहिंसामहाव्रत
2. अनृत से महत्‌रूप में रति=अनृत+महा+व्रत=अनृतमहाव्रत
3. अस्तेय से महत्‌रूप में रति=अस्तेय+महा+व्रत=अस्तेय महाव्रत
4. ब्रह्म से महत्‌रूप में रति=ब्रह्म+महा+व्रत=ब्रह्म महाव्रत
5. अपरिग्रह से महत्‌रूप में रति=अपरिग्रह+महा+व्रत=अपरिग्रह महाव्रत।

वर्तमान में व्रतों में प्रचचित नामों से 'विरति' पोषक आचार्य श्री उमास्वामी सहमत नहीं। प्रचलित नामों से 'रति' पोषक आचार्यों का ही सम्बन्ध है और ये रतिपोषण प्राणियों की राग-भाव प्रवृत्ति के कारण है। क्योंकि जीवों का अभ्यास प्रवृतिरूप में सहज है और वे विरत्त होने के अभ्यासी नहीं हैं। —वे विरत होने को कठिन समझते हैं और रत होने में सुख मानते हैं। यही कारण है कि 'वृञ्' धातु के 'वृणोति' (वरण करना) के भाव में निष्पन्न 'व्रत' शब्द को ग्रहण करने के अभ्यासी बनते रहे हैं और उन्होंने अहिंसा आदि को अणु या महत् रूप में वरण करना श्रेष्ठ माना है, जैसा कि देखने में आ रहा है—अहिंसा+अणु+व्रत आदि। जब कि उन्हें सोचना चाहिए था कि वरण करने जैसे भाव में परिग्रह से छूट भी सकेंगे या नहीं?

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि बड़ी गहरी थी। वे निवारण को इष्ट

मानते थे। इसलिए उन्होंने 'व्रत' की परिभाषा में 'विरति' को प्रधानता दी—'रति' को प्रधानता नहीं दी और इसीलिए उन्होंने 'वृञ्' धातु के 'वृणोति (वरणार्थक) जैसे रूप को न अपनाकर, उसके निवारणार्थक कर्तृवाच्य, णिजन्तरूप 'वारयति'* को अपनाया। अर्थात् उनके मत में जहां हिंसा का वारण होता है वहां हिंसा-व्रत (हिंसाविरति) होता है; आदि। यदि हम 'व्रत' शब्द को निवारण अर्थ में न लेकर 'वरण' करने के अर्थ में लेंगे तो इससे आ० उमास्वामी का मन्तव्य पूरा बदल जाएगा यानी हिसा का वरण करना 'हिंसाव्रत होगा और जब सूत्र का 'विरति' शब्द भी व्यर्थ हो जायगा तथा पाप को बढ़ावा मिलेगा।

आ० उमास्वामी सम्मत 'विरति' को मुख्य मानकर जब हम 'विरति' अर्थात् अपरिग्रह को मूल जैन-संस्कृति मानने की बात करते हैं तब कुछ लोग उसे 'महाभारत' के 'अहिंसा परमोधर्म. यतो धर्मस्तत. .. ..'ॐ जैसे नारे में विलीन करने का प्रयास करते हैं। हमें नही मालूम कि उक्त वाक्य किस जैनाचार्य का है (किसी जैनाचार्य का हो तो दिशा-बोध दें, हम साभार विचार करेंगे) और-हमारी दृष्टि में आत्म-विषयक 'समयसार' जैसे अध्यात्म-ग्रन्थ मे भी 'अहिसा' शब्द दृष्टिगोचर नहीं हुआ जिसे हम आत्मगुण या जन-संस्कृति का मूल मानने के लिए विवश हो सकें। हाँ, समयसार ग्रन्थ में 'अपरिग्रह' शब्द का उल्लेख अनेक बार किया गया है। इस विषय में हम इससे अधिक रंजित योग प्रवृत्ति से होने वाले प्राण हनन व प्राण रक्षण जैसे भावों और कार्यों से पूरा मेल खाते है। अन्तिम दो लक्षणों मे तो लेश्या को औदयिक भाव बतलाया जाने से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा जैसा औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव कषाय और योग जैसे औदयिक भावों को कार्य नही हो सकता। जबकि कषाय और योगजन्य प्राण रक्षण जैसे उपक्रम को अहिसा माना जा रहा है और अहिंसा के मूल अप्रमाद (अपरिग्रह)

---

*वृणोति इति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म—'वारयति'-इति।' —निरुक्त 2/4/1 पृष्ठ 88।

ॐ महाभारत वन पर्व 207/74 और शान्ति पर्व 199/70 के अश।

से नाता तोड़ा जा रहा है। परिग्रह की बढ़वारी की जा रही है।

हां, कदाचित् यदि आचार्य रागादिक के अप्रादुर्भाव को अहिंसा का लक्षण घोषित करते और हिंसा के लक्षण में प्रमाद के योग को कारण न मानते मात्र प्राण-हनन को हिंसा का लक्षण घोषित करते, तो हम ऐसा मान सकते थे कि जैसे मात्र प्राण-हनन हिंसा है वैसे प्राण-रक्षण भी अहिंसा है। पर, आचार्य ने ऐसा नहीं किया और सभी पापों मे प्रमाद को प्रमुखता दी। अतः यह आवश्यक है कि हम पापों के त्याग के पूर्व पापो के कारणभूत प्रमाद-परिग्रह का त्याग करें तथा कषाय और योग जन्य भाव और कार्यों को शुभ और अशुभ लेश्याओं के रूप में स्वीकार करें। यतः- सभी सविकल्प अवस्थाओं में रागादि के अंश विद्यमान हैं–पाप-पुण्य का पूर्ण परिहार तो निर्विकल्प-प्रमादातीत वीतराग अवस्था में ही है, जो जैन धर्म को इष्ट है।

हम एक निवेदन और कर दे– अपरिग्रह को मूल मानकर हमने जो शास्त्रीय तथ्य उजागर किए है वे भले ही दया, करुणा और दान आदि के आदान-प्रदान के छलावे से यश एवं परिग्रह-अर्जन में लगे लोगों को पसन्द न आये– वे इसका विरोध करें, पर, हमें सतोष है कि प्रबुद्धों ने उन तथ्यो को स्वीकार कर जैन धर्म और जिनवाणी की रक्षा को समर्थन दिया है। हमारे पास समर्थन मे बहुत से पत्र आये हैं, हम सभी का स्वागत करते है। यदि कोई समझे और सन्मार्ग पर आयें तो हमें उनका स्वागत करने मे भी हर्ष होगा– जिन्होंने परिग्रह की लालसा मे जैन के मूल-अपरिग्रह की उपेक्षा के लिए, मिथ्या व प्रच्छन्न रूप से लेश्या के लक्षण को अहिसा के लक्षण मे फलित कर कु-शील (कुस्वभाव) का परिचय दिया- पॉचों पापों की बढ़वारी की और जो अब प्रायश्चित्त के सन्मुख हों; अस्तु, 'सर्वे भवन्तु जैनाः।'

❑

दो पर्यायवाची जैसे शब्द
(परिग्रह और कर्म)

जैन-संस्कृति के मूल में निवृत्ति का विधान और प्रवृत्ति का निषेध है। निषेध इसलिये कि प्रवृत्ति में समन्ततः शुभ या अशुभ कर्मो का ग्रहण होता है और कर्मो का ग्रहण संसार है जबकि निवृत्ति मोक्ष साधिका है। यदि गहराई से विचारा जाए तो प्रवृति स्वयं भी परिग्रह है और परिग्रह में कारणभूत भी है। इसीलिए तत्वार्थ सूत्र के षष्ठम अध्याय के प्रथम सूत्र मे 'कायवाड. मन· कर्म योगः' जैसी प्रवृति (क्रिया) को अगले सूत्र 'सः आस्रव·' से आस्रव बतला दिया; जो कि संसार का कारण है। यदि प्रवृत्ति सूत्र को आस्रव में गर्भित न कर, अगले संवर या निर्जरापरक प्रसंगो में दर्शाया गया होता। इस प्रसंग में हमें परिग्रह की परिभाषा पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए–

शास्त्रों में परिग्रह शब्द की दो व्युत्पत्तियां देखने में आती हैं :

(1) 'परिगृह्यते इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादि।'

(2) 'परिग्रह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहण-हेतुरात्मपरिणामः।''

–धवला 12/4/286 पृ० 282

अर्थात् जो ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है जैसे बाह्यपदार्थ क्षेत्रादि और जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है, जैसे रागादिरूप आत्मा के वैभाविक परिणाम।

उक्त दोनों व्युत्पत्तियों में द्वितीय व्युत्पत्ति से फलित अर्थ आचार्यों को अधिक ग्राह्य रहा है, अपेक्षाकृत प्रथम व्युत्पत्ति-फलित अर्थ के।

इसीलिए उन्होने परिग्रह के लक्षण में मूर्छा (ममेदं-रागद्वेषादि रूप परिणामों) को प्रधानता दी है। क्योंकि रागादि-प्रवृत्ति ही बाह्य आदान-प्रदान में कारण है और यही प्रवृत्ति कर्मास्रव और बन्ध में भी प्रमुख कारण है। आचार्य का भाव ऐसा भी रहा है कि भव्यजीव प्रवृत्ति को छोड़े और निवृत्ति की ओर बढें। इसी प्रसंग मे तनिक हम व्रतों की परिभाषाएं भी देख ले कि वहाँ आचार्यो ने निवृत्ति का उपदेश दिया है या प्रवृत्ति का ही उपदेश है। तथाहि–

'हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरति र्व्रतम्' यह तत्त्वार्थ सूत्र के सप्तम अध्याय का प्रथम सूत्र है। इसमें हिंसा आदि से विरक्त होने का निर्देश है। कदाचित किसी भांति भी कहीं भी प्रवृत्त होने का निर्देश नहीं है। वे कहते हैं–हिंसा से विरक्त होना, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होना 'व्रत' है। वे यह तो कहते नहीं कि अहिंसा में रत होना सत्य में रत होना आदि व्रत है। फलितार्थ यह है कि जब हिंसादि परिग्रह छूट जायेगे तब अहिसादि स्वयं फलित होंगे। यदि जीव उन फलीभूत अहिसादि मे प्रवृत्ति करता है–रति करता है तब भी उसको परिग्रह से छुटकारा नही मिलता। अन्तर मात्र इतना होता है कि जहाँ वह अशुभ में था वहॉ शुभ में हो गया। यदि जीव शुद्ध होना चाहता है तो अशुभ से विरत हो जाय और शुभ में भी प्रवृत्त न हो। आपसे आपमें ही ठहर जाय।

जहां प्रवृत्ति होती है वहां परिग्रह होता है– आस्रव होता है। व्रत नहीं होता। और जहां निवृत्ति में वह भी परिग्रह का बोझ हल्का होता है और पूर्ण निवृत्ति में वह भी छूट जाता है। जो जीव जितने अशों में विरक्त होगा उतने अंशों में अपरिग्रही होगा। कहा भी है–

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।'

—समयसार 150

फलतः जब कोई भव्यात्मा संसार से उदास होकर आत्म-कल्याण की ओर बढ़ना चाहे और गुरु के पादमूल में दीक्षा लेने जाय तो गुरु

का कर्तव्य है कि वे उसे 'निवृत्ति' रूप व्रत का उपदेश दें—आस्रव व बंधकारक क्रियाओं से 'विरत' करें। उसे कुछ ग्रहण करने को न कहें। पर परिपाटी ऐसी बन गई है कि 'आप व्रत ग्रहण कर लें, कहकर उसे व्रत दिए जाते हैं जबकि आगमानुसार व्रत का लक्षण 'विरत' होना है, अपरिग्रही होना है, रत होना नहीं। ये जो कहा जा रहा है कि—'अमुक ने महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण किए' सो यह सब व्यवहार भाषा है, इसका तात्पर्य है कि वह उन पापों से विरक्त हुआ—उसकी उन पापों से रति छूटी। न यह कि पुण्य में रत हुआ।

ये बात हम नहीं कह रहे। आखिर, आचार्य देव ने निवृत्ति को स्वयं ही व्रत का लक्षण बताया है। तथाहि :

'हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रेहभ्यो विरतिर्व्रतम्।'

—तत्त्वार्थ 7/1

'सर्वनिवृत्तिपरिणामः।' पर प्र टी. 2 ।52 ।173 ।5

'समस्त शुभाशुभ रागादिविकल्प निवृत्तिर्व्रतम्।'

—द्र स० टी. 35 ।100 ।13

'देशसर्वतोऽणुमहती।'

देशश्च सर्वश्च ताभ्यां देशसर्वतः। विरतिरित्यनुवर्तते।

हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रत, सर्वयोविरति महाव्रतम्।

न हिनस्मि नानृत वदामि नादत्तमाददे नांगनां स्पृशामि न परिग्रहमूपाद "" दे' इति।'

—त. रा. बा. 7/2/2

ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतम्।' —भ. आ.

—वि. 421/614/11/पृष्ठ-633 कोष

निरत.कात्स्‍र्न्यनिवृतौभवतियतिः समयसारभूतोऽयं।

या त्वेक देशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।'

—पुरुषार्थ 41

'अप्रादुर्भावः खलुरागादीनां भवत्यहिंसा।

पुरु. 44

'पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदार गमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादोविय अणुव्वयाइं विरमणाई।।'

भ. आ. मूला. 2080/1899 पेज 635

'हिंसाविरदी सच्चं अदत्त परिवज्जणं च बंभं च।
संग विमुत्ती या तहा महव्वया पंचपण्णत्ता।।

—भ. आ. 4

—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति सर्वनिवृत्ति-परिणाम, समस्त शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों से निवृत्ति, देश-विरत्ति सर्व-विरति, पापों से विरमण, कृत्स्न (पूर्ण) निवृति एकदेशविरति, रागादि का अप्रादुर्भाव, प्राणवधादि से विराम, हिंसादि परिवर्जन अथवा उनसे विमुक्त, आदि। उक्त सभी स्थलों में विरति की प्रधानता है। कहीं भी अहिसादि में प्रवृति का विधान नही है जैसा कि कहा जाता है—'मैंने या उसने अहिंसादि व्रतों को ग्रहण किया है या कर रहे हैं। ये सब जीवों के अनादि रक्त—रागी-परिणामों का ही प्रभाव है जो हम छोड़ने की जगह ग्रहण करने के अभ्यासी बन रहे है— जब कि जिन या 'जैन' का धर्म विरक्ति (शुद्धता की ओर बढ़ने) का धर्म है। 'जिन' स्वयं भी सब छोड़े हुए हैं। देखें 'नियमसार'—

कुल जोणिजीवमग्गण-ढाणाइसु जाणऊणजीवाण।
तस्सारंमणियत्त—परिणामो होई पठम वदं। 56।।
रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा मोसभासपरिणामं।
जा वजहदि साहु सया विदिवयं होई तस्सेव।। 57।।
गामे वा णयरे वा रण्णे वा पंछिऊण परमत्थं।
जो मुचादिग्रहण भावं तिदियवद होदि तस्सेव।। 58 ।।
ददूण इच्छिरुव' वांछाभाव णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं।। 59।।

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणा पुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स।। 60 ।।

—नियमसार

—कुल, योनि, जीव समास, मार्गणा आदि जीवों के ठिकानों को जानकर उनमें आरम्भ करने से हटना अहिंसाव्रत है।

जो सज्जन पुरुष राग द्वेष व मोह से झूठ के परिणामों को जब छोड़ता है, तव उसके सत्यव्रत होता है।

दूसरे के द्वारा छोड़ी या दूसरे की वस्तु को (चाहे वह ग्राम, नगर, वन आदि में कहीं भी पड़ी हो) उठाने के परिणाम को जो छोड़ता है उसके अचौर्य व्रत होता है।

जो स्त्री के रूप को देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होने रूप परिणामों को हटाता है। उसके ब्रह्मचर्य व्रत होता है।

जो वांछा रहित भावना के साथ सर्व ही परिग्रहों को त्यागता है उसके अपरिग्रह व्रत होता है।

—उक्त गाथाओं में आचार्य ने सभी जगह पाप छोडने को व्रत कहा है जब कि वर्तमान में ग्रहण करने में व्रत शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। जैसे 'अमुक' व्रत ग्रहण कर लीजिए, आदि।

'ग्रंथ' शब्द को भी परिग्रह के भाव में लिया जाता है। जिसमें ग्रंथ नही होता उसे 'निर्ग्रंथ' कहा जाता है। ग्रंथ शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में लिखा है– 'ग्रन्थन्ति रचियन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथाः। मिथ्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानं, असंयम; कषायाः योगत्रयं चेतयमी परिणामा.।'

भ. आ. वि./47/41/20

—जो संसार को गूंथते है, अर्थात् जो संसार की रचना करते हैं, जो संसार को दीर्घकाल तक रहने वाला करते हैं, उनको ग्रंथ कहना चाहिए। तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असयम, कषाय, मन-वचन-काययोग

इन परिणामों को आचार्य ग्रंथ कहते हैं। इन ग्रंथों का त्यागी निर्ग्रन्थ कहलाता है और वह अपरिग्रही नाम से भी पहिचाना जाता है। दोनों के ही परिग्रह-त्याग-रूप व्रत होता है– कुछ ग्रहण रूप नहीं क्योंकि व्रत का लक्षण 'विरत' है न कि 'रत' होना।

यदि कोई जीव शुभ में भी रत होता है तो वह परिग्रह का वैसा पूर्ण त्यागी नहीं होता जैसे कि 'जिन' अर्हन्त भगवान्।

–तात्पर्य ऐसा कि जो पूर्ण-व्रती (विरत) होगा– वही अपरिग्रही या निर्ग्रन्थ होगा। उसके पूर्व यदि किसी को निर्ग्रन्थ कहा जायगा तो वह उपचार ही होगा। मुनियों के भेदों में 'पुलाकबकुशकुशील निर्ग्रन्थस्नातकानिर्ग्रन्थाः' में भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'मुहूर्तादुद्भिद्यमान केवल' ज्ञान दर्शनभाजो निर्ग्रन्थः' के अभिप्राय में है। अर्थात् जो अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त होते हैं। यानी जिनकी आत्म-घाती कर्म प्रकृतियाँ क्षय प्राप्त करने के सम्मुख होती है वे निर्ग्रन्थ या अपरिग्रही होते हैं।

–उक्त भाव में, जहां कर्मों से राहित्य अर्थ है वहां हमें परिग्रह और अपरिग्रह शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी विशदता से विचार करना चाहिए जिससे हम परिग्रह के सही भाव को फलित कर सकें और जिसकी विरति में व्रत का भाव फलित हो सके।

यदि आचार्य चाहते तो 'परिग्रह शब्द को केवल 'ग्रह' शब्द से भी व्यक्त कर देते। क्योंकि इस शब्द की जो ब्युत्पत्ति ऊपर पैरा 2 में दी गई है और उससे जो अर्थ फलित किया गया है वह अर्थ केवल 'ग्रह' शब्द से भी फलित हो सकता था। जैसे–'गृह्यते इति ग्रहः–रागादिः।' पर आचार्य ने 'परि' उपसर्ग लगाकर अध्यात्म में कुछ और ही दर्शाना चाहा है–ऐसा मालूम पड़ता है। शायद वे चाहते हैं कि हम बाहरी पदार्थों की उठाधरी की चर्चा के विकल्पों में न पड़ें और आत्मा और उसमें लगी कर्मकालिमा को देखें–उसका और अपना भेद-विज्ञान करें तथा कर्मों से विरति लें, उनसे विरत हों, अपरिग्रही बनें।

कर्म ग्रहण परिग्रह है और इसकी सिद्धि परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति से फलित होती है।

'तत्वार्थसूत्र' के आठवे अध्याय के 24 में सूत्र में प्रदेश बन्ध को बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं कि 'सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः'—इसकी व्याख्या में राजवार्तिककार लिखते हैं—'सर्वात्मप्रदेशेष्वितिवचनमेक प्रदेशाद्यपोहार्थम'—एक द्वित्रिचतुरादि प्रदेशेष्वात्मनः कर्मप्रदेशा न प्रवर्तते, क्वतर्हि? ऊर्ध्वपधस्तिर्यक्षु सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्या स्थिता इति प्रदर्शनार्थम् सर्वात्म प्रदेशेष्वित्युच्यते।'

इसका भाव है कि कर्म आत्मा के सर्व प्रदेशों में स्थित होते हैं और वे पूरी आत्मा के द्वारा सर्व ओर से आकर्षित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ—जैसे अग्नि मे तपा लोहे को सुर्ख गोला यदि पानी में डाला जाए तो वह पानी को सभी ओर से सम-रूप में आत्मसात् करता है, वैसे ही कषाय और योग की अग्नि से तप्त-आत्मा कर्मरूप परिणत-कार्माण वर्गणाओं को सभी ओर से सम रूप में आत्मसात् करता है। कर्म के सिवाय ऐसी अन्य कोई वस्तु नहीं है, जिसे आत्मा चारों ओर से अपने में आत्मसात् करे और जिससे चारो ओर से आत्मसात् किया जाय—ग्रहण किया जाय। ऐसा यदि है तो कर्म ही परिग्रह है। तथाहि—

परि (समन्तात्) गृह्यते यः सः परिग्रहः-द्रव्य-कर्म।
परि (समन्तात्) गृह्यते येनः सः परिग्रहः-भाव-कर्म।

उक्त भाव में अपरिग्रह और व्रत के अर्थ भी विचारिए और निर्ग्रन्थ पर भी ध्यान दीजिए।

❑

परिग्रह के दलदल में फंसा अपरिग्रही धर्म

इस समय जैन समाज विधानों के आयोजन में आकण्ठ डूबी हुई है। जहाँ तक निगाह जाती है-विधान ही विधान और विधानों के लिए वर्तमान में परमपूज्य गुरुओं के सान्निध्य मिलने की सूचनाओं से रंग-बिरंगे, मनोहारी एव आकर्षक पोस्टरों से मंदिरी की दीवारे अटी पडी हैं। जैन समाज की वैभव की झांकी यदि देखनी हो, तो मदिर जी के सूचना पट्ट की ओर ही देखने की आवश्यकता है। स्वतः ज्ञात हो जायेगा कि आज के श्रावक के पास धन और समय की कोई कमी नहीं है। विधान चाहे आठ दिन का हो या पन्द्रह दिन का अथवा इक्कीस दिन का। लोगो मे इन पाठो में भाग लेकर पुण्योपार्जन प्राप्त करने की होड आसानी से देखी जा सकती है। लगे हाथ गुरु का आशीर्वाद भी मिलता है, जिससे ऐहिक आकांक्षाओ की पूर्ति की गारंटी का सुखद आश्वासन मिलता है। ऐसे ही एक पोस्टर पर निगाह पडी; जिसमे लिखा था कि इस विधान में भाग लेने पर ... "सौभाग्य, जीवन में सभी प्रकार के संकट-हरण, पापनाश, कर्मक्षय, शारीरिक पीडा विनाश, आरोग्य लाभ, धन-धान्य वृद्धि और भव्य वैभव प्रकट होकर परम्परा से मोक्षप्राप्ति की सीढ़ी बन सकती है। घर मे प्रत्येक प्रकार की बाधायें, उपसर्ग दूर हो जाते हैं, अक्षय पुण्य की प्राप्ति व सभी सम्पदाये, मनोकामनाये पूरी हो जाती है।"

पोस्टर की उपर्युक्त पंक्तियाँ लुभावनी लगीं। लोभ आखिर किसे नहीं होता? सांसारिक मनुष्य तो संसार-भोगों के प्रति तीव्र-लालसा

रखता ही है और उन लालसाओ की पूर्ति यदि गुरु-सान्निध्य और आठ, दस, पन्द्रह दिनो के पाठ मे भाग लेने मात्र से हो जायें, तो भला कौन सुधी श्रावक चूकेगा? फिर, निरन्तर लाभ-हानि का लेखा-जोखा रखने वाला व्यापारी वर्ग भला कैसे चूक सकता है? चूकता तो बेचारा वह है, जो गाँठ का पूरा नही होता और अपनी हीनता को लेकर सिर धुनता है। सिर धुनने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा भी तो नही होता और इस कारण एक ओर अपने भाग्य को कोसता है कि मेरा पुण्योदय कहाँ, जो ऐसे सर्वविघ्न विनाशक, कर्मक्षयकारी, पापनाशक विधानो मे भाग ले सके तो दूसरी ओर अपने पुण्योदय के प्रसाद से अभिभूत प्रतिभागी श्रावक-गण की शान और बढ़ा हुआ रुतबा उन्हें आत्म-मुग्ध करता है। गुरु-कृपा से कुछ राजनीतिक व्यक्तियो के परिचय का सुअवसर भी मिलता हे, जो भविष्य में व्यापारिक दृष्टि से लाभकारी होता है। इस प्रकार बोनस की गारंटी भी मिल जाती है। आज-कल कोई भी धार्मिक आयोजन राजनीतिक महापुरुषो के सान्निध्य के बिना फीके-फीके से रहते है ओर उस आयोजन की चर्चा वडे ही बेमन और नीरस भाव से होती है। कदाचित् आयोजन-कर्ताओ की लगन और मेहनत से प्रधानमत्री, मुख्यमत्री, उद्योगमत्री, वित्तमंत्री आदि की सन्निधि मिल जाये तो आयोजन-कर्ता की प्रसन्नता का पारावार नही रहता। भले ही, राजनीतिक व्यक्ति का आचरण कैसा भी हो, इससे आयोजन और आयोजनकर्ता को कुछ लेना-देना नही। राजनीतिक व्यक्ति के चारित्रिक पक्ष की ओर देखना न तो आयोजकों को इष्ट होता है और न ही प्रेरक को, जबकि धर्मानुष्ठान में चारित्र को सर्वोच्च वरीयता दी जानी चाहिए। चारित्रिक व्यक्ति द्वारा उद्घाटित आयोजन से कुछ चारित्र-ध ारण करने की प्रेरणा मिलने की सभावना तो रहती है, परन्तु इस पक्ष को सर्वथा गौण करते हुए समागत राजनीतिक व्यक्ति के साथ फोटो खिंचवाने मे सभी आतुर देखे जाते है। बाद मे वे चित्र ड्राइगरूम ओर व्यापारिक प्रतिष्ठानों को अलंकृत करते हैं। यहाँ भी प्रच्छन्न लाभ-हानि का लेखा-जोखा रखा जाता है। आगन्तुक व्यक्ति उन चित्रों को देखकर प्रभावित तो होता ही है साथ ही, कदाचित् कोई सरकारी अधिकारी

निरीक्षण आदि के लिए आ जावे तो सहसा हाथ रखने में हिचहिचाएगा और सोचेगा कि अरे! इनके तो बड़े-बड़े लोगों से ताल्लुकात हैं, कहीं ऐसा न हो कि मुझे ही लेने के देने पड़ जाये।

इस प्रकार पाठ मे प्रतिभागी और मंचस्थ होने का यह परोक्ष लाभ मिलता है तो अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष लाभ भी होते ही है, जिनका उल्लेख पोस्टर की उपर्युक्त शब्दावली से ध्वनित होता है। विचारणीय यह है कि विधि-विधानो का शास्त्रीय पक्ष क्या है? यदि विधि-विधानों मात्र से ही सभी प्रकार के कष्टों का निवारण और कर्मक्षय सम्भव है, तब व्रत-सयम-तप आदि को निरर्थक मानकर छोड़ देना चाहिए क्योंकि नीति-वाक्य है कि **'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'-मन्दबुद्धि भी निष्प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं करता।'** कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव को स्वकृत कर्मो के फलो को भोगना पडता है। संचित कर्मो के संवर-निर्जरा हेतु व्रत-सयम-तप आदि का आश्रय लेना आवश्यक है। ऐसे में यदि विधान ही हमारे सभी कर्मो के कर्मक्षय मे समर्थ है, तब इससे सरल उपाय भी कोई अन्य नही हो सकता। ऐसे मे महाकवि बुधजन की ये पक्तिया व्यर्थ ही हो जाती है-

पाप-पुण्य मिलि दोय पायन बेड़ी डारी।
तन कारागृह मांहि, मोहि दियो दुःख भारी।।

उपर्युक्त पक्तियो को जब उन्होंने रचा, तब गुरुओ का सान्निध्य आज जैसा नहीं था। अतः शास्त्रों के स्वाध्याय से ही उन्होने जाना होगा कि-

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तः, तपस्वी स प्रशस्यते।।

विषय आशा से तथा आरम्भ परिग्रह से रहित ज्ञान, ध्यान और तप में लीन साधु प्रशंसनीय होता है, परन्तु मात्र जानने से भला क्या होता है। प्रत्यक्ष अनुभव सबसे अधिक मूल्यवान् होता है। सो, 20वीं शताब्दी के आरम्भ में परमपूज्य आचार्य शान्तिसागर जी से मुनि परम्परा का पुनर्प्रवेश होने पर तत्कालीन श्रावको ने स्वयं को अतिशय पुण्यशाली

माना तो आश्चर्य की बात नही है, परन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब परमेष्ठी-स्वरूप साधु को यश-आशा, तीर्थ-निर्माण, बाह्य-क्रियाकाण्ड मे आकण्ठ निमग्न होता हुआ देखते हैं। स्थिति यह है कि आज कई आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के पास दो एजेण्डे हैं। पहला है-श्रावकों को जिस किसी प्रकार आकर्षित करना, उनके दुःखो को दूर करने के लिए या तो गण्डा-ताबीज़ प्रदान करना या विधानो या पंचकल्याणको के भव्य आयोजन करने की प्रेरणा देना। इन सब कार्यों के पीछे दूसरा ही एजेण्डा रहता है-वह है अपने प्रायोजित-सकल्पित कार्यों के लिए अधिकतम धन-संग्रह करना।

दूसरे एजेण्डे के क्रियान्वन के अनेक रूप हो सकते हैं, मसलन-कैलाश पर्वत, अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयो की स्थापना, ढाई द्वीप की रचना, विदेह क्षेत्र, तीन लोक की स्थापना, रथ-प्रवर्तन आदि-आदि। चूँकि श्रद्धालु श्रावको ने इनको सुना भर है, सो वह इन कार्यो को तन-मन-धन से सहायक होने का सुअवसर देखकर, अपनी बन्द थैलियो का मुँह उदारता के साथ खोलने मे अपना अहोभाग्य मानता है। भले ही, वाद में अपने को वह ठगा सा महसूस करे। इसकी प्रतिध्वनि यदा-कदा इस प्रकार सुनाई पडती है कि अरे! क्या बताये। अमुक ने कहा तो मै मना नही कर सका। वैसे तो अपने पास समय है नही, फिर यह अवसर मिला। उस पर अमुक आचार्य ने प्रेरणा की तो सोचा कि कुछ धर्म ही कर ले।

आज नब्बे प्रतिशत श्रावकों के मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति है। सभी महसूस करते है और एकान्त में चर्चा भी करते है कि क्या हो गया है हमारे साधुओं को। गृहस्थ से भी ज्यादा आकांक्षाओ और धन की तृष्णा को देखकर तो ऐसा लगता है कि इससे सुन्दर व्यापार और कोई नही हो सकता। वेप धारण करो, योजना बनाओ, श्रावको को जोडो-तोडो। कार्य सिद्ध। कुल मिलाकर स्थिति यह हो गई है-

मुनि बनन ते तीन गुण, सब चिन्ता से छुटकार।
बहु यश औ धन मिले, लोग करें जयकार।।

जबकि हमारे परम्परित आचार्यों ने श्रावकों एवं श्रमण मुनि के लिए जो भी मानदण्ड स्थापित किए हैं, वे पूर्णतः सार्वकालिक हैं। आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, जिसके अन्तर्गत निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना अंगों को आवश्यक तत्त्व निरूपित किया है। आज ठीक उसके विपरीत श्रद्धान के वशीभूत कार्य निष्पन्न होते देखकर सन्ताप होता है। बाह्य-आडम्बर, क्रिया-काण्ड, जिसका जैन-शासन में कोई स्थान नहीं है, वह पूरी तरह प्रविष्ट हो चुका है। जैनेतर साधुओं की तरह ही आरम्भ-परिग्रह में सलिप्त दिगम्बर साधु भी प्रवृत्ति कर, मठाधीश जैसी प्रवृत्तियो का संवाहक बन रहा है। यदि यह कहा जाय कि आज साधु-सस्था वीतरागता की आड मे परिग्रह के ही मकड-जाल मे उलझ गई है तो अतिशयोक्ति नही होगी। पिच्छि-कमण्डलु की मर्यादा से बधा श्रद्धालु श्रावक मौन होकर उनके अभीष्ट कार्यों को सम्पन्न करने/कराने में दत्त-चित्त है। आदर्श स्वरूप साधु की इन प्रवृत्तियों को किस श्रेणी मे रखें यह "विज्ञ श्रावकों" की सहज चिन्ता है। तिल-तुष मात्र परिग्रह भी निर्ग्रन्थता को मूल्यहीन बना देता है। शास्त्रोक्त वचन भी है- "बह्वारम्भ परिग्रहत्त्व नारकस्यायुषः"। क्या हमारे साधु इस आगम वाक्य से परिचित नही हैं? लोक मे कहा जाता है कि-जिस साधु के पास दो कौड़ी है वह दो कौड़ी का और जिस गृहस्थ के पास कौड़ी नहीं, वह दो कौडी का।

वस्तुतः दिगम्बर जैन धर्म की मूलभूत शिक्षा ही अपरिग्रही वृत्ति है, त्याग प्रधान है, न कि त्यागियों के लिए ही त्याग का। गृहस्थ का त्याग यदि साधु के पास एकत्र हो जाए तो उस स्थिति मे, गृहस्थ ही अपरिग्रही ठहरेगा, साधु नहीं। साधु-संस्था के निर्वाह का उत्तरदायित्व श्रावकों का है। इसमें कोई दो राय नहीं और धर्मभीरु श्रावक इस कर्तव्य को पूरी निष्ठा के साथ निर्वाह कर रहा है, परन्तु हमारे परमपूज्य साधुओं को भी विचार करना चहिए कि क्या इन्हीं यश-लिप्सा और विभिन्न योजनाओं को मूर्त रूप देने के लिए ही असिधारा-व्रत को

अंगीकार किया था? क्या ये ही निर्ग्रंथ वीतराग मार्ग का पाथेय है? तप-संयम की क्या यही फलश्रुति है कि नित नये काल्पनिक तीर्थों का सृजन किया जाये? जब चाहें तब विधान-अनुष्ठान आदि के लिए लोगों को उत्प्रेरित किया जाये? हमे याद है कि पहिले जब कभी किसी श्रावक को उद्यापन या विधान करवाने की इच्छा होती थी, तब सामान्य सूचना-मात्र से लोगो मे उत्साह का संचार हो जाता था। उसके लिए समाज के प्रचुर धन को आज की तरह टेन्ट, गाजे-बाजे, शान-शौकत भरे दिखावे मे व्यर्थ नही बहाया जाता था। आजकल के प्रदर्शन भरे आयोजनो से किस प्रकार वीतरागी एव अपरिग्रही जिनधर्म की प्रभावना हो रही है? यह सर्वाधिक चिन्तनीय है।

अच्छा होता कि हमारे साधु परमेष्ठी उन प्राच्य सस्थाओ की स्थितिकरण में प्रवृत्त होते, जहाँ से सैकड़ों विद्वान् तैयार होकर जिन-शासन की सेवा मे सन्नद्ध हुए हैं। हमारे सुनने में अब तक नही आया कि अमुक आचार्य ने किसी सस्था को पुनर्जीवन प्रदान के लिए कोई ठोस-प्रेरणा की हो। पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से स्थापित अनेक सस्थाये काल-कवलित हो चुकी हैं या समाप्ति की ओर है। इन प्राच्य सस्थाओ पर ऐसे लोग काबिज हो गए हैं, जिन्हें न जिन-परम्परा से कुछ लेना-देना है और न ही उन सस्थाओ को चलाने की उनकी कोई दृढ इच्छा शक्ति है। हॉ, साधुओ की प्ररेणा से नई-नई सस्थाओ का सृजन अवश्य हो रहा है, वह भी लाभ-हानि की तर्ज पर।

इसी प्रकार नए-नए तीर्थों की परिकल्पनाओ और उन्हें मूर्त्त स्वरूप प्रदान करने मे हमारे साधुगण जिन अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयो की प्रतिकृतिया निर्मित करवा रहे हैं, वे क्या अकृत्रिम स्वरूप बन पाते हैं? कदाचित् बन भी जाए, तो भी कहलायेगी तो कृत्रिम ही। फिर, ध्यान देने की बात यह भी है कि हमारे अनेक प्राचीन तीर्थ विवादो के घेरे में हैं। शाश्वत तीर्थ श्री सम्मेद शिखर का विवाद चल रहा है। पावापुरी तीर्थ पर विवाद है। उन तीर्थक्षेत्रों की रक्षा और उसके समुन्नयन के

प्रति किसी साधु की चिन्ता न देखकर दुःख होता है। कृत्रिम रूप से निर्मित होने वाले तीर्थों के प्रति अति-उत्साह और प्राचीन तीर्थों के प्रति उदासीनता कालान्तर मे उनके अस्तित्व को ही प्रश्नचिन्ह लगाती दिखती है। जीवन्त-तीर्थ हमारी परम्परा के पोषक हैं। यदि इन तीर्थों की रक्षा न हो सकी तो हम अपनी परम्परा की रक्षा में भी समर्थ नहीं हो सकेंगे। इतना ही नहीं, ये वही तीर्थ हैं जहाँ से अनेकानेक तीर्थंकरों और मुनियों ने आत्मलाभ प्राप्त किया है। यदि इन जीवन्त तीर्थों के प्रति अब भी जागृति नहीं आती और तप-संयम से प्राप्त ऊर्जा को मात्र नए-नए तीर्थों की स्थापना में ही लगाते रहे तो कालान्तर में नवीन स्थापित तीर्थों के प्रति भी कोई उत्सुकता न रहेगी और न प्राचीन तीर्थों की स्थिति। इस प्रकार जीवन्त तीर्थों के अभाव में मुनिमार्ग भी अन्धकार में चला जायेगा। नव-तीर्थों के बजाय प्राचीन तीर्थों का बने रहना जहाँ धर्म-परम्परा के लिए आवश्यक है, वहीं साधु संस्था को भी जीवन्त रखने को अप्रतिम साधन है।

दिगम्बर जैन समाज और साधुओं की प्रवृत्तियों से शिक्षा ग्रहण करते हुए आत्मार्थी मुमुक्षुओ द्वारा विशाल स्तर पर श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ द्वारा मंगलायतन नाम से सर्वोदय कल्प आयतन का शिलान्यास हुआ है। चर्चा है कि इससे विधि-विधानों, प्रतिष्ठाओ और अन्यान्य धार्मिक कार्यों के लिए तथा स्वाध्याय के लिए उपयुक्त साधन श्रावको को उपलब्ध होंगे। वैसे अब तक हमने पढ़ा है कि लोक में चार ही मंगलायतन होते हैं- अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्रणीत जिनधर्म। उनके प्रतीक स्वरूप जिनालय, दिगम्बर मुद्राधारी साधु और परम्परित आचार्यों द्वारा रचित पर्याप्त आगम हैं। ऐसे में, पृथक् रूप से मंगलायतन की क्या जरूरत आन पड़ी? सम्भव है अपने प्रचार-प्रसार के निमित्त ही वे ऐसा केन्द्र बना रहे हों, जहाँ से वे अपनी स्वपोषित गतिविधियों को सचालित कर सकें। ठीक भी है, जब सारा समाज और साधु इस कार्य को करने मे कटिबद्ध हो तब भला मुमुक्षु ही क्यो पीछे रहे? अब तो मुमुक्षु भाइयों को वर्तमान दिगम्बर साधु भी पूज्य लगने लगे हैं। कल तक उन्हे कोई भी साधु

पूज्य नहीं लगता था, अचानक इस हृदय परिवर्तन में कोई रहस्य भी हो, तो आश्चर्य की बात नही। भविष्य ही बतायेगा कि वे समाज को किस दिशा में उद्वेलित करेंगे।

हमारा तो मानना है कि जब तक अनर्थकारी धन के प्रति लोगो में मूर्च्छा है, तब तक कभी धर्म के नाम पर, कभी विधान के नाम पर तो कभी नव-तीर्थों के नाम पर समाज का इसी प्रकार दोहन होता रहेगा और श्रद्धालु श्रावक मौन रहेगा क्योंकि उसका मानना है-'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे'। अस्तु, यदि हम दिगम्बर जैन धर्म को जीवन्त रखना चाहते है तो हमें परिग्रह के दल-दल में फसे अपरिग्रही धर्म के चिरमूल्यों को स्थापित करने में प्रवृत्ति करनी होगी।

❑

श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा

जैनाचार्यों ने श्रावकाचार का वर्णन करते हुए श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का वर्णन किया है। ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। दशवी प्रतिमा तक उद्दिष्टत्याग का सर्वथा विधान नहीं है और उससे आगे श्रावक और मुनि दोनों के उद्दिष्ट का सर्वथा त्याग है।

प्रारम्भिक आचार्यों में जैसे कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सोमदेव, जिनसेन, अमितगति और पद्मनन्दि आदि ने इस प्रतिमा का समान्य निर्देश किया है–इसका अभेदवर्णन किया है। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व की रचना 'प्रायश्चित्त चूलिका' में भी एक क्षुल्लकपद का विवेचन मिलता है। बारहवीं शताब्दी में वसुनन्दी आचार्य ने इस प्रतिमा को प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक इन दो भेदो में विभक्त कर दिया। यह कैसे और क्यों हुआ यह विचारणीय है। विचारार्थ पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों के मंतव्यों को उद्धृत किया जा रहा है–

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने चारित्र पाहुड में मात्र प्रतिमाओं के नाम दिए हैं–

दसण-वय-सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बभारभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य।।22।।

–दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग इस प्रकार ये देशविरत श्रावक के ग्यारह भेद हैं।

आचार्य उमास्वामी ने प्रतिमाओ का वर्णन नहीं किया और आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रतिमा का वर्णन 'खण्डचेल धराः' मात्र के रूप में

किया है। उन्होंने क्षुल्लक व ऐलक जैसे कोई भेद नहीं किए और न ही एक या दो वस्त्र का उल्लेख किया। आ० सोमदेव ने भी ग्यारह प्रतिमाओ के नाम मात्र का संकेत दिया है–

'मूलव्रतं व्रतान्यचा पर्वकर्माकृषिक्रियाः।
दिवानवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम्।।'
परिग्रह परित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।
तद्धानौ च वदंत्येतान्येकादश यथाक्रमम्।।'

—कल्प 44 ।853-854।

इसके बाद उन्होंने 11 प्रतिमाओ के विषय में यह भी स्पष्ट किया है कि पहिली छः प्रतिमाओं के धारक गृहस्थ, सातवीं से नवमी प्रतिमा तक के ब्रह्मचारी और अन्त की दो प्रतिमाओ वाले भिक्षु कहलाते है। सबसे ऊपर साधु होते है–

'षडत्रगृहिणो ज्ञेयास्त्रय· स्युर्ब्रह्मचारिण·।
भिक्षकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ तत· स्यात्सर्वतो यति ।856।'

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने ग्यारहवीं प्रतिमा के सन्दर्भ में निम्न मन्तव्य प्रकट किया–

'त्यक्तागारस्य सद्दृष्टे; प्रशान्तस्य गृहेशिनः।
प्राग्दीक्षोपयिकात्कालादेकशाटकधारिण.।।38।158।।
त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः।
एकशाटकधारित्व प्राग्वद्दीक्षाद्धमिष्यते।।39।77।।
तेपा स्यादुचितं लिगं स्वयोग्यव्रतधारिणाम्।
एकशाटक धारित्वं सन्यासमरणावधि·।।'40।169।।

उक्त सभी श्लोको में एकशाटकधारित्वं रूप को पुष्ट किया गया है जैसे कि पूर्वाचार्यों को भी इष्ट था उन्होंने भी दो वस्त्रधारी और एकवस्त्रधारी जैसे कोई दो भेद नहीं किए। आचार्य अमितगति और पद्मनन्दि ने भी पूर्वमतों की पुष्टि की और ग्यारहवी प्रतिमा के दो भेद

नहीं किए। इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व की रचना 'प्रायश्चित्त चूलिका' के देखने से भी स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उस शती तक यथावत् ग्यारहवी प्रतिमा एक रूप में चलती रही। तथाहि–

'क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्नस्थितिभोजनं।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते।।1553।।
क्षौरं कुर्याच्चलोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने।
कौपीन मात्र तत्रोऽसौ क्षुल्लक परिकीर्तितः।।156।।'

इन श्लोकों में क्षुल्लक के लिए एक वस्त्र का विधान दो बार कहा गया है और जोर देकर 'अन्यत् न' के द्वारा द्वितीय वस्त्र को निषेध किया गया है (जब कि बाद के काल में क्षुल्लक के दो वस्त्रों की परिपाटी रही है। यह क्यो और कैसे? यह स्पष्ट नही हो पा रहा।) दूसरे श्लोक मे तो 'कौपीन मात्र तत्रोऽसौ' मे 'मात्र' पद देकर द्वितीय वस्त्र का सर्वथा ही निषेध कर दिया। इसका भाव ऐसा हुआ कि ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व तक ग्यारहवी प्रतिमा क्षुल्लक के रूप मे ही रही और क्षुल्लक एक वस्त्रधारी ही कहे जाते रहे।

बारहवी शाताब्दी मे आचार्य वसुनन्दी ने सर्वप्रथम दो भेद किए– और उन्हें प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट नाम दिए। तथाहि–

'एयारसंमि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीण परिग्गहो विदिओ।।301।'

–ग्यारहवें स्थान अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमा को प्राप्त उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार के होते हैं–प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट। इनमे प्रथमोकृष्ट श्रावक एक वस्त्रधारी और द्वितीयोत्कृष्ट कौपीन परिग्रहधारी होता है।

उक्त गाथा से किसी के भी दो वस्त्र होने की स्पष्ट पुष्टि नही होती, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथमोत्कृष्ट के लिए वस्त्र (बड़ा– जो शरीर के कुछ भाग पर लपेटा जो सकता हो।) का विधान हो और द्वितीयोत्कृष्ट को उसमें संकोच करके कौपीन-मात्र जैसा। वस्त्र दोनो पर

ही एक हो? यहां तक भी ऐलक शब्द का व्यवहार नहीं हुआ—भेद भी हुए तो प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के नाम से।

आचार्य वसुनन्दी ने दोनों की विशेष विधि का वर्णन करते हुए निम्न गाथा दिए हैं—

धम्मिल्लाणं चवणंकरेईकत्तरि छुरेण पढमो।
ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा।।
भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो।
उववास पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु।।
पक्खालिऊण पत्त पविसइ चरियाय पंगणें ठिच्चा।
भणिऊण धम्मलाह जायइ भिक्खं सयंचेव।।
सिग्घंलाहालाहे अदीण वयणो णियतिऊण तओ।
अण्णम्मि गहेवच्चइ दरिसइ मोणेण काय वा।।
जइ अद्धवहे कोइवि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह।
मोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं।।
अह ण भणइ तो मिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाण।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुग सलिल।
ज किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण।
पक्खालिऊण पत्त गच्छिज्जा गुरुसयासम्मि।
जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि चरियाए।
पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं ता कुज्जा।।
गतूणगुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा।
गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पवत्तेण।।'

—वसु० 302–310।

—प्रथमोत्कृष्ट श्रावक कैंची या छुरे से हजामत करता है, प्रयत्नशील होकर उपकरण से स्थान का संशोधन करता है। हाथों अथवा पात्र में **एक बार बैठकर** भोजन करता है और पर्व-दिनों में नियम से उपवास करता है। **पात्र** को प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर में प्रवेश

करता है और आंगन में ठहरकर 'धर्मलाभ' कहकर स्वय ही भिक्षा याचन करता है। भिक्षा न मिलने पर अदीनमुख वहाँ से शीघ्र निकलकर दूसरे घर जाता है और मौन से अपने शरीर को दिखलाता है। यदि अर्धपथ में कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घर से प्राप्त भिक्षा को खाकर, जितना पेट खाली रहे, उतना उस श्रावक के अन्न को खावे। यदि कोई भोजन के लिए न कहे तो पेट के प्रमाण भिक्षा न मिलने तक भ्रमण करे, भिक्षा प्राप्त होने पर किसी एक घर मे जाकर प्रासुक जल मांगे। जो भिक्षा प्राप्त हुई हो उसे शोधकर भोजन करे और सयत्न पात्र-प्रक्षालन कर गुरु के समीप जावे। यदि किसी को उक्त विधि से गोचरी न रुचे तो वह मुनियों के गोचरी कर जाने के बाद चर्या के लिए प्रवेश करे अर्थात् एक भिक्षा के नियम वाला उत्कृष्ट श्रावक चर्या के लिए श्रावक के घर जावे। यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उसे फिर किसी के घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए। पश्चात् गुरु के समीप जाकर विधि पूर्वक चतुर्विधि आहार का त्याग कर प्रत्याख्यान कर पुनः प्रयत्न के साथ सर्व दोषो की आलोचना करनी चाहिए।

उक्त कथन से कई बातें समक्ष आती है–

1. छुरे से हजामत करना।
2 उपकरण से स्थान संशोधन।
3. पात्र प्रक्षालन करके चर्या के लिए श्रावक के घर प्रवेश करना।
4. भिक्षा स्वयं माँगना।
5. कई घरो से (भी) माँगना।
6. बैठकर भोजन करना आदि। इस प्रतिमाधारी से द्वितीयोत्कृष्ट प्रतिमाधारी में जो भिन्नता बतलाई है वह इस प्रकार है–

'एमेव होइ विदिओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोच धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तंमि।।311।।'

–द्वितीयोत्कृष्ट प्रतिमाधारी भी इसी प्रकार होता है परन्तु उसमे इतनी विशेषता है कि वह नियम से लोच करता है, पीछी धारण करता

है और पाणिपात्र में आहार करता है।

उक्त स्थिति में सर्वप्रथम विचार यह उठता है कि जब पूर्वाचार्यों ने सभी प्रतिमाओं का वर्णन अभेदरूप मे एक प्रकार का ही किया है और ग्यारहवीं प्रतिमा के नामान्तर क्षुल्लक और त्यक्तागार घोषित किए हैं तब ग्यारहवीं प्रतिमा के पृथक्-2 दो भेद करने की आवश्यकता क्यों पड़ी और ऐलक शब्द कहां से आया?

विचारने पर प्रतीत होता है कि 'ऐलक' शब्द 'अचेलक' शब्द का प्राकृत व्याकरण प्रसिद्ध लघु रूप है। प्राकृत व्याकरण के सूत्र 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लुक्' के अनुसार दो स्वरों के मध्यवस्थित व्यजन का विकल्प अदर्शन (लोप) हो जाता है। फलत. अ+च्+एलक मे अ +और ए के मध्य का 'च्' लुप्त हो गया तथा अ+ए को वृद्धि रूप मे ऐ होने पर ऐलक रूप बन गया।

यह 'अचेलक' शब्द ऐसा है जिसे दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदाय मानते है और इसका प्रयोग मुनि के लिए करते है। भेद इतना है कि दिगम्वर 'अ' उपसर्ग का अर्थ सर्वथा निषेध रूप मे और श्वेताम्बर सर्वथा निषेध और अल्प स्वीकृति दोनो अर्थों मे करते है। इसीलिए उनमे जहा चेल-वस्त्र का सर्वथा निषेध है वहां मुनि 'जिन-कल्पी' है और जहां अल्प चेल-स्वीकृति है वह मुनि स्थविरकल्पी' है—है दोनो ही मुनि। पर, यह बात दिगम्बरों को मान्य नही, वे सर्वथा वस्त्र त्याग में ही मुनि पद स्वीकारते है।

मालूम होता है जब श्वेताम्बरों द्वारा किंचित् वस्त्र वाले को भी 'अचेलक' घोषित किया गया तो दिगम्बरो ने किचित् वस्त्र वाले के लिए एक नया सम्बोधन चुन लिया और वह सम्बोधन 'ऐलक' था। इससे ईषत् अर्थ में 'अ' का प्रयोग भी मान्य हो गया और मुनि रूप के ग्रहण का परिहार भी। इससे यह भी ध्वनित हुआ कि ईषत् वस्त्र वाला श्रावक ही है, मुनि नहीं। स्मरण रहे कि 'ऐलाचार्य' शब्द भी

प्राकृत व्याकरण के उक्त 'सूत्र' से ही निष्पन्न है—अचेलकाचार्य, ऐलकाचार्य ये सब एक ही शब्द के विभिन्न रूप हैं और प्राकृत के 'क-ग-च-ज-त-द-यवां प्रायोलुक्' सूत्र से बंधे हैं, तीनों ही रूप विकल्प से लोप के हैं।

पूर्वाचार्यों के व्याख्यान से ऐसा भी ध्वनित होता है कि अन्य प्रतिमाओ की भांति ग्यारहवी प्रतिमा भी एक अभेद रूप है, जो अपेक्षा भेदो से नाम भेदो में विभक्त कर ली गई है। इसे मुनि पद के समीप्य और मुनिपद से छोटा-नीचा होने की अपेक्षा क्षुल्लक, घर छोड़ने की अपेक्षा त्यक्तागार और ईषद् वस्त्र होने से ऐलक कहा गया है। वस्तुतः 'ऐलक' शव्द अचेलक (सर्वथा वस्त्र त्यागी) दि० मुनि का ही नामान्तर है जिसे 'अ' के ईपत् अर्थ मे श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा मे स्थान देकर प्रतिमा को दो भागो मे विभक्त कर दिया गया है।

जहां तक श्वेताम्बर परंपरा के साधुओ का प्रश्न है, वे साधुओ का प्रश्न है, वे साधारणत श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा के रूपान्तर प्रतीत होते है, अपितु उस रूप में भी स्पष्ट शिथिलता ही परिलक्षित होती है। जैसे—ढेर से वस्त्र, ढेर से पात्र, कई बार आहार आदि। हां, पात्र प्रक्षालन करके श्रावक के घर प्रवेश, भिक्षायाचना, कई घरों से याचना, बैठकर भोजन आदि नियम क्षुल्लक के नियमो से मेल खाते है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वे० मुनि का यह रूपान्तर बारह वर्षीय अकाल के प्रभाव का द्योतक है।

जहां तक दिगम्बर परपरा मे क्षुल्लक के नियम बतलाए गए है उनमे भी कुछ प्रश्न खड़े होते है। जैसे—छुरे से हजामत। क्या क्षुल्लक छुरा रख सकते हैं? यदि हा, तो परिग्रह बढ़वारी के साथ हिसोपकरण रखने का दोष भी आता है और यदि श्रावक से मांगते हैं तो नियमित श्रावक उन्हें क्यो और कैसे देता है जबकि आ० समन्तभद्र हिसोंपकरण दान का सर्वथा निषेध करते हैं—'परशुकृपाण खनित्र' आदि। इसी प्रकार पात्र रखना, उसे धोना आदि आडम्बर क्षुल्लक को नहीं कल्पते। ऐसा

मालूम होता है कि किसी समय स्पृश्य-अस्पृश्य का प्रश्न बड़ी प्रबलता से सामने उभरकर आया हो और पात्र आदि के रखने की छूट दी गई हो। इसी प्रकार द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक मे जो विशेषताएं बतलाई गई हैं वे भी इसलिए विचारणीय नहीं हैं तो वह भूमि परिमार्जन किससे करता है? यतः एक वस्त्र के सिवाय अन्य वस्त्र का कहीं भी विधान नहीं है। ऐसे में एक वस्त्रधारी और दो वस्त्रधारी आदि भेद कैसे घटित हो गए?

❑

श्रावक और रत्नत्रय

मोक्ष मार्ग को इंगित करने के भाव में 'श्रावक' शब्द का बहुत बड़ा महत्व है। जैन परम्परा में श्रावक और मुनि इन दोनों शब्दों का उल्लेख प्राचीनकाल से मिलता है। मुनि अवस्था में सर्व पाप और आरम्भ का पूर्णतः त्याग होता है और श्रावक में अंशतः। 'श्रावक' अवस्था मोक्षमार्ग की प्रथम प्रारभिक सीढ़ी है। संसार में डूबे प्राणी को पार लगाने मे श्रावक पद लकड़ी के तख्ते की भाँति सहार का काम करता है तो मुनिपद नौका की भाँति सहारा देता है।

संसार समुद्र में मग्न जिस जीव से नौका का दूर का फासला हो उसे तख्ते का सहारा लेकर नाव के पास तक पहुंचना चाहिए–इसी मे बुद्धिमानी है।

तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्षमार्ग के प्रसंग में एक सूत्र आता है– 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसका भाव है सत्यश्रद्धा, सत्य-ज्ञान और सत्य-चारित्र की पूर्णता (एकत्वपना) मोक्ष का मार्ग है। यही भाव अंशतः 'श्रावक' शब्द के वर्णों से सहज ही निकाला जा सकता है–'श्रा' से श्रद्धा, 'व' से विवेक और 'क' से क्रिया। अर्थात् जो श्रद्धा-विवेक और क्रिया (चारित्र) वान् है वह श्रावक है, वही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त है–ऐसा समझना चाहिए।

श्रद्धा-सम्यग्दर्शन का अपर नाम है। आचार्यों ने समझाने की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का दो भाँति से वर्णन किया है–निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। इन दोनों की पहिचान तो बड़ी कठिन है, पर व्यवहार में जो जीव शंका-आकांक्षा आदि दोषों से रहित हों–और

देवशास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखते हों, जिनके अष्टमूल गुण का धारण हों और मद्य-मांस-मधु इन तीन मकारों का त्याग हो वे जीव भी सम्यग्दृष्टि की श्रेणी में आते हैं। उक्त बातो से हमें व्यवहार सम्यग्दृष्टि का निर्धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन का जैसा विशद् वर्णन आचार्यो ने किया है उसकी किंचित् झलक इस भाँति है—अतः इसे समझ कर अपने में सदा सावधान रहना चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसी सम्यग्दर्शन पर आधारित हैं—

सम्यग्दर्शन

'शिष्यों के प्रति संबोधन करते हुए जिनवरों—तीर्थकर परमदेवों तथा अन्य केवलियों ने धर्म को दर्शनमूल कहा है अर्थात् धर्म की प्रतिष्ठा प्रासादगर्तापूरवत् और वृक्ष-पातालगत जटावत् सम्यग्दर्शन के आधार पर है। ऐसे धर्म को स्वकर्णों से सुनकर—अन्तरग से मनन चिन्तवन करना व मानना चाहिए और दर्शन से हीन धर्म (धर्मी) की वन्दना (मान्यता) नहीं करनी चाहिए'। श्री श्रुत-सागर सूरि तो यहां तक कहते हैं कि दर्शनहीन अर्थात् मिथ्यादृष्टि के (दान की दृष्टि से) दान भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि—

'मिथ्यादृग्भ्यो तद्दानं दातामिथ्यात्ववर्धकः।

विपरीत इसके—शास्त्रो मे सम्यग्दर्शन की महिमा दिखलाई गई है और यहां तक भी कह दिया गया है कि 'सम्यग्दर्शन संपन्नमपि मातंग देहजम्' अर्थात् शरीर से चाण्डाल भी हो पर यदि सम्यग्दर्शन संपन्न है तो वह देव तुल्य (उत्तम) है! भाव यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मगुण है उसका इस नश्वर शरीर-पुद्गलपिण्ड से साक्षात्'परमार्थ रूप कोई सबंध नहीं है। यदि कोई जीव देहादिक जड़ क्रिया अथवा देह के आश्रित रूप मे सम्यग्दर्शन का महत्व मानता है तो वह भ्रम में है हमें तो ऐसा उपदेश मिला है कि—आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की मान्यता रखना, बहिरंग की बढ़ोतरी में गर्व अथवा न्यूनता में हीनता का भाव करना आत्मतत्त्व की दृष्टि से हेय है आचार्य ने शरीराश्रित

और अनाश्रित दोनों ही प्रकार की विभूतियों की बढ़वारी अथवा हीनता में समता भाव का ही उपदेश दिया है उक्त विवेचन का सार हम तो यही समझे हैं कि—

'न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।

व्यवहार में हम जिन उत्तम क्षमा-मार्दव आर्जव शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य को धर्म का रूप मानते हैं उन धर्मों की जड़ मे भी सम्यग्दर्शन बैठा हुआ है। अतः मिथ्यादृष्टि के उत्तम क्षमादि होना सर्वथा अशक्य हैं। यदि कोई कुलिंगी उक्त धर्मों का आसरा लेता है और उनके आसरे मिथ्यात्व सहित अवस्था में धर्म ऐसे मानता है तो वह धर्म एवं उसके स्वरूप को नहीं जानता सम्यग्दृष्टि का धर्म ऐसे किसी प्रपंच से सम्बन्ध नहीं रखता जिसमें संसार-वर्धक क्रिया-कलापो का संसर्ग भी होता हो। कहा तो यहॉं तक है कि—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनां।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव किन्हीं भी और कैसे भी कारणो के उपस्थित होने पर कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं की मान्यता नहीं करता। मूलरूप मे धर्म भी वहीं है जहॉं शुद्ध आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त पर पदार्थों मे निजत्व की कल्पना अथवा उन पर पदार्थों से ख्याति-पूजादि की चाह आदि का पूर्ण अभाव होता है और किसी भी लोभ-आशा अथवा स्नेह के वश से पर-पदार्थों की प्रशसा नहीं की जाती है। हॉं, पदार्थ स्वरूप अवगम की दृष्टि से उनके याथातथ्य स्वरूप पर विचार और वर्णन करने में दोष नहीं। सार यह कि धर्म के अस्तित्व मे सम्यग्दर्शन की उपस्थिति परमावश्यक है। आत्म-पुरुषार्थी का प्रयत्न होना चाहिये कि उसका एक भी क्षण सम्यग्दर्शन की आराधना के बिना न जाय।

सम्यग्दर्शन-महिमा के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

दंसण भट्ठा भट्ठा, दंसण भट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा, दंसण भट्ठा ण सिज्झंति।।3।।

अर्थात् दर्शन से भ्रष्ट जीव भ्रष्ट हैं। उनके सर्वकर्मक्षयलक्षण मोक्ष नहीं है। चारित्रभ्रष्ट (व्यवहार-चारित्रभ्रष्ट) जीव तो कदाचित् ठिकाने पर आ आत्मोपलब्धि को प्राप्त कर लेते है। परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव आत्मोपलब्धि नहीं पाते। आशय है कि–

संसारी जीव अपनी अज्ञानतावश जिस इन्द्रियजन्य सुख को सुख समझ रहे हैं वह सुख नहीं अपितु दुख ही हैं क्योंकि उसमें अनाकूलता और स्थायित्व नहीं। सुख परमसुख वह है जिसके आदि मध्य अन्त्य तीनों सुखरूप हो। जिसमें दुख और आकुलता का लेश न हो। ऐसा परमसुख सर्वकर्म क्षय लक्षण मोक्ष में है और वह मोक्ष सम्यग्दर्शन रूपी सीढ़ी के बिना नहीं मिल सकता। अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है। इसलिए दर्शन से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। क्योकि–

'नहि सम्यक्त्व समं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम्।'

अर्थात् तीनों कालों और तीनों लोकों मे शरीरधारियों को सम्यक्त्व सदृश कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के सदृश कोई अकल्याणकारी नहीं है।

सांसारिक सुख अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि मे तुच्छ सुख तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते हैं। पर मोक्ष सुख के लिए सम्यग्दर्शन होना अवश्यम्भावी है। आचार्यो ने जहां पुण्य की महिमा का वर्णन किया है वहां सम्यग्दर्शन को ही प्रधानता दी है। यथा–

'सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाणं ण सो कुणई।।'

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता। स्वाध्यायी देखेंगे कि उक्त गाथा में पुण्य के पूर्व सम्यग्दर्शन का उल्लेख किया गया है। यदि मात्र पुण्य से ही मोक्ष मिलता होता तो आचार्य इस गाथा में सम्यग्दर्शन जैसे महत्वपूर्ण शब्द का प्रयोग पुण्य के पूर्व में न करते। और अन्यत्र मोक्ष विधि में पुण्य प्रकृति के नष्ट करने

का विधान भी नहीं करते। यदि कदाचित् सम्यग्दर्शन-हीन पुण्य को ही मोक्ष का कारण मान लिया जाय तो ज्ञान ने कौन सा अपराध किया है जिसे आत्म-गुण होने पर भी सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष का कारण न माना जाय। विचित्र सी बात होगी कि एक ओर तो आत्मा से सर्वथा विपरीत और कर्म प्रकृति-रूप-पुण्य को सम्यग्दर्शन की उपेक्षा कर मुक्ति का दाता मान लिया जाय और दूसरी ओर आत्मा के निज तत्व-ज्ञानगुण को सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्पना भी न दिया जाय।

इन बातों पर दृष्टिपात करने से ऐसा ही बोध होता है कि उक्त वर्णन में आचार्य का तात्पर्य उन जीवों को संबोधन का रहा है जो कदाचित् मात्र पुण्य को ही सब कुछ मान उसे मोक्ष का कारण तक मान बैठे हो। आचार्य ने दर्शाया है कि–हे भव्य जीवो, केवल पुण्य को ही मोक्ष का कारण न मान सम्यदर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करो। अन्यथा पुण्य तो मिथ्यात्वी के भी होता है। आचार्य का भाव ऐसा है कि जब सम्यग्दर्शन होगा, तभी पुण्य शुभ रूप मे उपस्थित होगा। यद्यपि पुण्य साक्षात् रूप से तब भी मोक्ष न पहुंचायेगा अपितु उस पुण्य को भी नष्ट करना ही होगा। यह तो सम्यग्दर्शन की महिमा होगी कि उससे प्रभावित पुण्य सामग्री उस जीव को निरन्तर उत्कर्ष की ओर ले चलेगी। अन्यथा पुण्य साधारण तो मिथ्यादृष्टि के भी देखा जाता है। वध कर्म करने वाले वधक को पुण्य योग से प्राप्त सामग्री वध जैसे अशुभ कार्य मे प्रयुक्त होती देखी ही जाती है।

स्पष्ट यह है कि पुण्य शुभ है और पाप अशुभ है। शास्त्रों मे अशुभ से निर्वृति कर शुभ मे प्रवृत्ति और शुभ से निर्वृत्ति कर शुद्ध में प्रवृत्ति का उपदेश है। अशुभ सर्वथा हेय है और शुभ कथचित् उपादेय है। कथचित इसलिए कि शुभ भाव सहित सम्यग्दृष्टि शुद्धि की ओर बढता है। अन्ततोगत्वा मोक्ष विधि में शुभ को सर्वथा छोड़ शुद्ध ही धारण करना पड़ता है।

बहुत से जीव ऐसा विचार कर लेते हैं कि अशुभ की निर्वृत्ति से शुभ और शुभ की निर्वृत्ति से शुद्ध स्वाभाविक ही हो जाता है। इस

प्रकार शुभ-पुण्य से मोक्ष हो ही जायेगा। सो उनका ऐसा मानना भी भ्रम है। क्योंकि ऐसा नियम नहीं है। अतः जीव शुभ से निर्वृत्त हो अशुभ में भी जा सकता है, शुद्ध में भी जा सकता है। ये सब जीवों के अपने परिणामों पर निर्भर करता है और परिणामों के सम्यक् व मिथ्या होने में जीव के सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन मुख्य कारण हैं। इसी बात को पंडित प्रवर टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक में विशेष स्पष्ट करते हैं, वे कहते हैं-

'कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है। शुद्धोपयोग का कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। अथवा द्रव्यलिंगी कैं शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है- शुद्धोपयोग होता ही नहीं।'

'बहुरि जो शुभोपयोग ही कौं भला जानि ताका साधन किया करै तो शुद्धोपयोग कैसे होय। तातैं मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग कौ कारण है नहीं। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग की प्राप्ति होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोग कौं शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है।'

इससे स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग प्रकरण में सर्वत्र सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता है। किसी कर्म प्रकृतियों के नष्ट करने का ही विधान है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि पुण्य को सभी दृष्टियों से हेय मान पापरूप प्रवृत्ति की जाय। जब तक जीव की प्रवृत्ति शुद्ध दशा की ओर सर्वथा नही, तब तक पुण्यजनक क्रियायें करने का शास्त्रों में समर्थन है। देव-पूजा आदि षट्कर्म-श्रावक और मुनि के व्रत सभी इसी के अंग हैं। जहाँ तक व्यवहार है ये सब रहेंगे। पर सर्वथा इनसे ही चिपके रहना और आत्मा की शुद्ध परिणति की संभाल न करना आत्म-कल्याण में आचार्य को इष्ट नहीं। निष्कर्ष ये निकला कि बिना सम्यग्दर्शन के शुभक्रियायें भी आत्म-साधन में कार्यकारी नहीं। अतः सम्यग्दर्शन की सभाल रखनी चाहिए। सम्यग्दर्शन

से भ्रष्ट जीव सदा ही भ्रष्ट हैं—यह पूर्वार्ध का भाव है।

मूल गाथा में जो ऐसा कहा गया है कि 'सिज्झंति चरिय भट्टा' इसका आशय इतना ही है कि जिन जीवों को सम्यग्दर्शन है और चारित्र नहीं है, उन्हें भविष्य में स्वभाव प्राप्ति की तीव्र लगन होने पर चारित्र सहज भी प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों में वर्णन है कि बाह्य चारित्र के अभाव में भी 'आणं ताणं कछु न जाणं' और 'तुषमाषं घोषन्तो' रटते हुए अंजन चोर आदि अनेकों जीव कदाचित् क्षणमात्र में पार हो गए। अर्थात् उन्हें आत्मबोध और लीनता प्राप्त करते देर न लगी। और दर्शनभ्रष्ट मरीचि जैसे जीव को सीझते सीझते भगवान आदिनाथ के काल से प्रारम्भ कर भगवान पार्श्वनाथ के होने तक के करोड़ों-करोड़ों वर्षों का लंबा काल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में लग गया। यदि दर्शन शीर्घ भी हो जाय तो भी आश्चर्य नहीं पर इसका होना जरूरी है क्योंकि इसके बिना ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यक्ता को प्राप्त नहीं करते।

इतना ध्यान रखे कि उक्त कथन 'दर्शन' की मुख्यता को लिए हुए है। वैसे जैनधर्म चारित्र प्रधान धर्म है और इसमें सभी रूपों में चारित्र की महिमा गाई गई है। साधारण जन के लिए मुनिपद तो बड़ी दूर की कल्पना की बात है, इसके श्रावक पद का ही चारित्र इतना ऊँचा और कठिन है कि जिसे देख स्वर्ग में देव तक भी ईर्ष्या करते हैं। वे चारित्र पालन में हेतुभूत मनुष्य भव की चाहना करते हैं क्योंकि मनुष्य भव के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र-चारित्र की उच्चतम अवस्था ही का नाम है। मूल बात ये कि यह यथाख्यात चारित्र भी सम्यग्दर्शन के बल पर ही होता है—मूल सम्यग्दर्शन होने पर कभी न कभी चारित्र होता ही है। अतः आचार्य ने दर्शन को मूल कहते हुए उपर्युक्त गाथा में उसकी प्रशसा और महानता को दर्शाया है। भाव ऐसा जानना चाहिए कि हमें बाह्य चारित्र में रहकर दर्शन प्राप्त करने में 'उद्यम करना चाहिए, चारित्र से विमुख नहीं होना चाहिए।

❑

पर्युषण और दशलक्षणधर्म

जैनों के सभी सम्प्रदायो में पर्युषण पर्व की विशेष महता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोल्लास मनाते हैं। व्यवहारतः दिगम्बर श्रावकों मे यह दश दिन और श्वेताम्बरों मे आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगो मे धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टाह्निका (अठाई) कहते है।

पर्युषण के अर्थ का खुलासा करते हुए राजेन्द्र कोष मे कहा है.–

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपसमना" अथवा "परि· सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्तदिनानि उत्कृष्टत षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा "परिसामस्त्येन उषणा।"

–अभि० रा० भा० 5 पृ० 235-236।

जिसमे क्रोधादि भावो को सर्वतः उपशमन किया जाता है अथवा जिसमें जघन्य रूप मे 70 दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र में किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पर्युषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा, पजुसणा, वासावासो य (नि० चू० 10) ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।

पर्युषण (पर्युपशमन के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते हैं–(1) जिसमें क्राधादि भावों का सर्वतः उपशमन किया जाय अथवा (2) जिसमें

जघन्य रूप में 70 दिन और उत्कृष्ट रूपों में चार मास पर्यन्त एक स्थान में वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण में जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का सम्बन्ध अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है, कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्युषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ में साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नहीं। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नहीं है। अनिवार्यता का अभाव होने के कारण ही श्रावको में दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते हैं और ऐसी परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराएं ऐसा मानती हैं कि उत्कृष्ट पर्युषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनों ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हैं। यत –उन दिनो (वर्षाऋतु) में जीवोत्पत्ति विशष होती है। और हिंसादि दोष की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।–उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कप्प का वर्णन दोनों सम्प्रदायों में है। दिगम्बरों के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है:–

पज्जोसमणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षुमासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्यागः। विंशत्यधिक दिवसशत एकत्रवस्थानमित्ययमुत्सर्ग कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवां कल्प है। वर्षाकाल के चार मासो में एकत्र ठहरना–अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते हैं। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास 4 पृ० 616।

श्वेताम्बरों में 'पर्युषणाकल्प' के प्रसंग में जीतकल्प सूत्र में लिखा है:–

'चाउम्मासुक्कोसे' सत्तरि राइंदिया जहण्णेणं।
ठितमट्ठितगेमतरे, कारणे बच्चासितऽणयरे।।–

–जीत क० 2095 पृ० 179

विवरण–'उत्कर्षतः पर्यूषणाकल्पश्चतुर्मासं यावद्भवति, अषाढ़ पूर्णिमायाः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः– अशिवादै कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासितं विपर्यस्तमपि कुर्युः।

–अभि० रा० भाग० 5 पृ० 245

पर्युषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास (120 दिन रात्रि) जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।–कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है– ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनों के सभी सम्प्रदायों मे पर्व के विषय में ही भेद नही है और न ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा में ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि (1) दि० श्रावक इस पर्व को धर्मपरक 10 भेदों (उत्तम, क्षमा, मार्दवार्जव, शौच, सत्य, संयम, तपस्त्याग, अकिचन्य, ब्रह्मचर्याणि धर्मः) की अपेक्षा मनाते है और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते हैं जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते हैं। वहां इन दिनों में कहीं कल्पसूत्र की वाचना होती है और कहीं अन्तकृत सूत्रकृतांग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'– आह्निक(अष्टाह्निक अठाई) कहते हैं। साधुओं का पर्यूषण तो चार मास ही है।

दिगम्बरों में उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरों में पंचमी को पूर्ण होता है। दोनों सम्प्रदायों में दिनों का इतना अन्तर क्यों? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगो ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए हैं कि पर्यूषण मनाने

की तिथियां दोनों में एक ही हों। पर, वे असफल रहे हैं।

पर्यूषण के प्रसंग में और सामान्यतः भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप से निश्चित तिथियों पर विचार करते हैं तब हमें विशेष निर्देश मिलता है कि–

"एवं पर्वेसु सर्वेसु चतुर्मास्यां च हायने।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणां कृति।।"

–धर्म सं० 69 पृ० 238

–वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों में और जीवन में भी यथाशक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वो के सम्बन्ध में कहा गया है कि–

"तत्र पर्वाणि चैवमुचः–

"अट्ठम्मि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्वं।
मासंमि पव्व छक्कं, तिन्नि अ पव्वाई पक्खंमि।।"

"चाउद्दसट्ठममुद्दट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथे तु ज्ञान पचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। अट्ठमी, चउद्दसीसुं नाण पंचमीसु उववास न करेइ पिच्छत्तमित्यादिवचनात्। एषु पर्वसु कृत्यानि यथा–पौषधकरणं प्रति पर्व तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन। यदागमः,–

'सव्वेसु कालपव्वेसु' पसत्थो जिणामए हवइ जोगो।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ।।'

–धर्म सं० (व्याख्या) 69

–पर्व इस प्रकार कहे गये हैं–अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावश्या, ये मास के 6 पर्व हैं और पक्ष के 3 पर्व हैं। इसमें 'चउद्दसट्ठमद्दिट्ठपुण्णिामासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ में ज्ञान पंचमी को भी पर्व पंचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।–इन पर्वों के कृत्यों में प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व में उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी के नियम से करना चाहिए। आगम

में भी कहा है–'जिनमत में सर्व निश्चित पर्वों में योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमतः करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरों में देखते हैं तब ज्ञात होता है कि उनके पर्व पंचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते है, और उनमें आगम विहित उक्त सर्व (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा) पर्व आ जाते हैं।' जब कि श्वेताम्बरों मे प्रचलित पर्व दिनो में अष्टमी का दिन छूट जाता है–उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमें किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए कि पर्यूषण काल में अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियों का समावेश रहे। यह समावेश और जैनियों के विभिन्न पन्थों की पूर्व तिथियों में एकरूपता भी, तभी सम्भव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से ही प्रारम्भ माने जाये।

कल्पसूत्र के पर्यूषण समाचारी में लिखा है–'समणे भगवं महावीरे वीसाण सवीसइराए मासे वइक्कते वासावासं पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० 236 भा० 5 मे 'पर्यूषणामाकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्यूषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण में श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखे पृ० 268)–

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्याः? एवमुच्यते, वर्षाणां विशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्यूषणमकार्षीत्।' दूसरी ओर पर्यूषणाकल्प चूर्णिमें 'अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेए सालिवाहणे भणिओ भद्दबजुण्हपंचमीए पज्जरोपणा'–(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है।

–अभि० पृ० 238

उक्त उद्धरणो में स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्यूषण करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पचमी था। इस प्रकार पंचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पचमीए' पद की विभक्ति मे सन्देह की गुजाइश रह जाती

है कि पर्यूषण पंचमी में होती थी अथवा पंचमी से होती थी क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पचमीए' रूप तीसरी पंचमी और सातवीं तीनों ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पंचमी में ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को 7-8 या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, और न ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हां, पंचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो में आठ या दस दिनो की गणना को पूरा किया जा सकता है। सम्भवतः इसीलिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पंचम्या अनतरं' पृ० 253 और 'भाद्रपद शुक्ला पंचम्या कर्तिक पंचम्या कार्तिक पूर्णिमा यावदित्यर्थः' पृ० 254 में लिख दिया है। यहां पंचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पचमीए' का अर्थ 'पंचमी से' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व में अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति मे शक्य है। 'अनन्तर' से तो सन्देह को स्थान ही नहीं रह जाता कि पचमी से पर्यूषण शुरू होता है और पर्यूषण के जघन्य काल 70 दिन की पूर्ति भी इसी भाँति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ़ में अन्त के आठ दिनों में (अष्टमी से पूर्णिमा) अष्टाह्निका पर्व माने हैं। ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप में इन दिनों अकृत्रिम जिन मन्दिरों में बिम्बों के दर्शन-पूजन को जाते है। देवों के नन्दीश्वर द्वीप में जाने की मान्यता श्वेताम्बरों मे भी है। श्वेताम्बरों की अष्टाह्निका की पर्व तिथिया चैत्र सुदी 8 से 15 तक तथ असौज सुदी 8 से 15 तक है। तीसरी तिथि जो (सम्भवतः) भाद्र वदी 13 से सुदी 5 तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी 8 से प्रारम्भ क्यों नहीं? यह विचारणीय ही है—जबकि दो बार की तिथियां अष्टमी से शुरू हैं।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के 50 दिन बाद

पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्त्तन हुआ हो। पर यदि 50 दिन के भीतर किसी भी दिन शुरू करने की बात है[1] तब इस अष्टाह्निका को पंचमी के पर्व से शुरू न कर पंचमी से ही शुरू करना युक्ति संगत है। ऐसा करने से 'सवीसराए मासे वइक्कंते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइदिया जहण्णेणं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका में समाविष्ट रह जाती है जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य है।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनों में पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य कोई प्रक्रिया अपनाते हों उन्हें भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए–

> 'चाउम्मास अवरिसे, पक्खि अ पंचमीट्ठमीसु नायव्वा।
> ताओ तिहीओ जासि, उदेइ सूरो न अण्णाउ।।1
> पूआ पच्चक्खाणं पडिकमणं तइय निअन गहणं च।
> जीए उदेइ सूरौ तीइ तिहीए उ कायव्वं।।2।।
>
> –धर्मसं० पृ० 239

वर्ष के चतुर्मास में चतुर्दशी पंचमी और अष्टमी को उन्हीं दिनो में जानना चाहिए जिनमें सूर्योदय हो, अन्य प्रकार नहीं। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि में करना चाहिए जिसमें सूर्योदय हो।

---

1. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगने से लेकर 50 दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् अषाढ़ शुक्ला 14 से लेकर भाद्रपद शुक्ला 5 तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।
–जैन-आचार (मेहता) पृ० 187

दिल की बात दिल से
कही-और रो लिए।

जयन्ती : एक गलत परम्परा :

तीर्थंकर भगवान् तद्भाव मोक्षगामी जीव होते हैं और उनके कल्याणकों के मनाये जाने का शास्त्रों में विधान है। जिनको पूर्व के किसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, उनके पाँच कल्याणक होते हैं तथा चरम (चालू) भव में ही चौथे-पाँचवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वालों के तप, ज्ञान, मोक्ष या तीन और छठे-सातवे गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वालों के ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक होते हैं– "तीर्थबन्धप्रारम्भश्चरमागाणामप्रमत्तसंयत देशसंयतस्योस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणादीनित्रीणि प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे।"–गो. क./जी. प्र. 381/546/5 कल्याणक तद्भवमोक्षगामी के ही मनाये जाते हैं।

णमोकर मंत्र गर्भित किसी परमेष्ठी की जयंती मनाने का शास्त्रों में कहीं विधान नहीं है न कभी किसी पूर्व परमेष्ठी की जयन्ती मनाई ही गई। यदि कहीं जयन्ती मनाने का उल्लेख हो तो आगम में देखें। वैसे तो एक-एक तीर्थंकर के समय में कोड़ा-कोड़ियों मुनियों के मोक्ष जाने का वर्णन है– उनमें आचार्य, उपाध्याय और साधु सभी रहे– किसी की कोई जयन्ती नहीं मनाई गई। हम तो देख रहे हैं कि हमें कहीं, परम्परित पूर्वाचार्यों में ही किसी एक की हो, किसी जयन्ती मनाये जाने का उल्लेख मिल जाय। आखिर, धरसेन, गुणधर, यतिवृषभ, भूतवलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द प्रभृति सभी तो हुए और ये वर्तमान आचार्य और मुनियों से अपनी श्रेष्ठता में न्यून नहीं कहे जो सकते। अस्तु, कहीं भी

किसी की जन्म, दीक्षा जैसी जयंतियों अथवा कल्याणकों का उल्लेख नहीं है जैसा चलन कि अब चल पड़ा है।

संस्कारों में सोलह संस्कार श्रावक धर्म में हैं और श्रावक गण जन्म, विवाह आदि जैसे संस्कारों के जयन्ती (जन्मदिन आदि) के रूप में मनाते देखे जाते हैं और ऐसी जयन्तियाँ सांसारिक सुख समृद्धि की कामना में मनाई जाती हैं, जो श्रावक के लिए मनाना-मनवाना उपयुक्त है। साधु तो सांसारिक बन्धन काट कर परम्परया मोक्ष पाने के उद्देश्य में बना जाता है और इसीलिए साधुओ को वैराग्य और तप जैसे ससार छेदक उपक्रमों मात्र का विधान है–**'ज्ञान-ध्यान तपोरक्तः।'** यदि सांसारिक चाहनाओ की ही पूर्ति करना हो तो साधु बनना ही निरर्थक है।

उक्त तथ्य के होते हुए भी पंचपरमेष्ठियों मे इस युग के तीर्थंकर महावीर के बताए सिद्धान्तो को प्रचार में लाने की दृष्टि से (आगम मे उल्लेख के अभाव में भी) दिल्ली की जैन मित्र मण्डल सस्था ने महावीर जयन्ती मनाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे यह भारत मे प्रचलन पा गई। बाद को कतिपय अन्य तीर्थंकरों की जयन्तियाँ मनाना भी चालू हो गया। और किसी अपेक्षा धर्म प्रचार की दृष्टि से मोक्षप्राप्त आत्माओं के जन्मकल्याणक का यह सम-रूप लोगो में धर्म प्रचार का साधक सिद्ध हुआ। चूंकि महावीर आदि कृत्यकृत्य (मोक्ष प्राप्त) थे, उन्हे इससे कुछ लेना देना नहीं था। तीर्थंकरो की मोक्षप्राप्ति से पूर्व भी उनके कल्याणक उन्हें स्वयं कोई आकर्षण पैदा नहीं करते, जबकि आज सभी मे आकर्षण ही आकर्षण शेष है।

वर्तमान में त्यागी-साधुओं की जयन्तियाँ मनाने की बाढ़-सी आ गई है। जन्म और दीक्षा की जयन्तियाँ तो दर किनार रहा। अब तो आचार्यो में सर्वज्ञ भी होने लगे, तब भविष्य में केवलज्ञान की जयन्ती की सम्भावना होना भी कोई आश्चर्य नहीं। सुना है, कुछ समय पूर्व ही लोगों ने एक आचार्य को **'कलिकाल-सर्वज्ञ'** की उपाधि से भूषित किया है। सोचना यह है कि लोगों को क्या हो गया है?

जब इस काल में यहाँ से मोक्ष नहीं, तब केवलज्ञान की सम्भावना कैसे? और केवलज्ञान के दश-अतिशय उनमें किसने कब और कहाँ देखे? आदि। इन विडम्बनाओं को देखने से ऐसा भी सन्देह होने लगा है कि भविष्य में कहीं मुनियों की चार या पाँच जयन्तियाँ तक मनाना भी चालू न हो जायँ? लोगों का तो कहना है—इन जयन्तियों में प्रभूत-द्रव्य का अपव्यय होता है। पर हम इससे उल्टा विचार कर चलते हैं—हमें द्रव्य के आय-व्यय की चिन्ता नहीं होती। द्रव्य तो आनी जानी चीज है, वह तो जैसे आया है वैसे ही जायगा, उसका क्या गम? हमें तो दुःख तब होता है जब हम आगम-रक्षा का लोप और श्रावक व मुनियों द्वारा आगम-आज्ञा का उलंघन देखते-सुनते हैं। सम्भव है कि परिग्रह-संग्रही को आत्म-दर्शन कराने की भाँति यह भी कोई धर्म-मार्ग के घात की विडम्बना हो। वैसे भी आज तो अनेक शोधक कुन्दकुन्दाद्याचार्यों की कथनी के शुद्ध रूपों की खोज तक में लगे हैं। इसलिए कई लोगों को तो आगम-रूप माना जाता है, कहीं वह विकृत रूप तो नहीं है? वे इसी प्रतीक्षा में हैं कि जब शुद्ध-रूप समक्ष आए, तब उस पर चलने का विचार किया जाय। सर्वज्ञ जाने, ये शोधक हैं या और कुछ?

स्व-समय और पर-समय?

हम और आप दोनों ही इस मायने में सदा भाग्यशाली रहे कि हमें और आपको कभी कोई अज्ञानी नहीं टकराया—जो भी मिला वह बुद्धिमान् ही मिला। कभी किसी ने अपने को नासमझ नहीं समझा चाहे लोग उसे अज्ञानी भले ही समझते रहे हों। पर, किसी के समझने से तो कोई मूर्ख नहीं हो जाता; जब तक कि उसे अपनी अज्ञानता का अनुभव स्वयं न हो।

हमारी सतहत्तर वर्ष की उम्र में हमें बहुत से जानकार मिले। उनमें कई ऐसे मिले जिन्होंने अपने को विविध ग्रन्थों का गहन स्वाध्यायी होने का दावा तक किया। हालांकि ऐसे विभिन्न विद्वानों में भी आगमों के मूलार्थ करने के विषय में भारी मत-भेद रहे।

हमने एक स्वाध्यायी और वाचक से कहा—कि हम मात्र किसी एक पक्ष को लेकर ही न चला करें—आचार्यों के मूल शब्दार्थ पर चिन्तन कर ही बोला करें।

वे बोले—हम तो कोई अपना पक्ष नहीं लेते, हम तो जिनवाणी के अनुसार ही व्याख्यान करते हैं।

हमने कहा—यदि ऐसा है तो आप कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार की उस दूसरे नम्बर की गाथा की द्वितीय पंक्ति की व्याख्या कीजिए, जो उन्होंने 'पर-समय' की व्याख्या मे कही है—'पुग्गलकम्मपदेशट्ठियं च जाण पर-समयं।'

उन्होंने कहा—जो जीव (व्यक्ति) पुद्गल कर्म प्रदेशों में—उनके फलों में, आपा मानता है वह पर-समय (परसमयी) है।

हमने कहा—'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ'—कुछ पाने के लिए गोता लगाना पड़ता है—उसमें घुसना पड़ता है। समुद्र से मोती निकलता है, गहरे पानी में पैठने से— केवल पानी के ऊपर तैरने से मोती नहीं निकलता। हमें आचार्यों के मूल-शब्दार्थ के अनुसार प्रवर्तन करना चाहिए।

ऊपर की गाथा की शब्दावली से तो कर्म या कर्मफलों में आपा मानने या आपा जानने जैसा भावात्मक क्रियारूप अर्थ प्रकट नहीं होता। वहाँ तो स्पष्ट रूप में द्रव्यरूप-पुदगलकर्म प्रदेशों में स्थितिमात्र की ही बात प्रकट होती है। वहाँ 'पुग्गलकम्मपदेशट्ठियं' शब्द पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों को लक्ष्य कर रहा है और जड़द्रव्य कर्मों में स्थित मात्र होना, आपा-पर मानने जैसे विकल्पों से सर्वथा विपरीत है। आपा पर मानने जैसी क्रिया होना दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः वहाँ तो जीव यावत्काल पुद्गलरूप द्रव्य कर्मों से बँधा है तावत्काल जीव पर-समय है। जब यह रोधक-द्रव्यकर्मों से छुटकारा पाए तब स्व-समय होवे।

गाथा का भाव स्पष्ट ऐसा जान पड़ता है कि जब तक यह जीव

आत्मगुण घातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रदेशों में स्थित है—उनसे बंधा है, तब तक यह जीव पूर्णकाल पर-समयरूप है। मोह क्षय के बाद —केवलज्ञानी में ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा सकता है और वह अवस्था चारित्र के धारण किये बिना नहीं होती जब कि आज परिपाटी ऐसी बनायी जा रही है कि कुछ एकन्ती बिना चारित्र पालन किए, परिग्रह की बढ़वारी में रस लेते हुए, चतुर्थ-गुण स्थान में ही पूर्ण स्व-समय में आने के स्वप्न देख, कुन्दकुन्द के 'पुग्गलकम्मपदेशट्ठिय' जैसे कथन की अवहेलना कर रहे हैं। उन्हें कुन्दकुन्द के 'चरित्तदंसणणाणट्ठिय जैसी त्रिमूर्ति का भी किंचित् ध्यान नहीं। इन्हें पाँचवें-छठे गुणस्थान से भी कोई प्रयोजन नहीं। खेद है, कि जिस मनुष्यगति में संयम की विशेषता होनी चाहिए उस संयम (चारित्र) से ये मुंह मोड रहे हैं जब कि इसमें आचार्यों ने श्रावक के व्रत, प्रतिमाओं और महाव्रतादि धारण करने का क्रम निर्धारित किया है।

वे बोले—अपेक्षा दृष्टि से यह कथन भी ठीक है। आचार्यों ने यह भी कहा है—'अणियदगुणपज्जओध पर समओ.......'। पुद्गलकर्म प्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च पर-समय इति प्रतीयते'— "पुद्गलकर्मोदयेनजनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशा, संज्ञा पूर्वक निश्चय रत्नत्रयाभावात् तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं पर-समयं जानीहि इति।"

इस प्रकार हम दोनों की बात अधूरी और चिन्तन का विषय ही बनी रह गई। विज्ञों को इस चर्चा में हमारी मदद करनी चाहिए कि हम कोरी चर्चा में ही स्व-समय की बात करें या स्व-समय को प्राप्त तीर्थंकर-अर्हन्तों वत् संयमाचरण के साथ उस ओर बढ़ने का प्रयत्न भी करें? जब कि आचार्यों ने समुदित रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग कहा है। तब ये कोरे सम्यग्दर्शन से आत्मा देख रहे हैं।

❑

दिल की बात दिल से कही- और रो लिए।

1. हम कोरी चर्चा नहीं, चिन्तन चाहते हैं:

सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन और आत्मानुभव की चर्चा मात्र में जैसा सुख है वैसा सुख और कहाँ? इस चर्चा में बोलने या सुनने के सिवाय अन्य कुछ करना-धरना नहीं होता। बोलने वाला बोलता है और सुनने वाला सुनता है—लेना देना कुछ नहीं। भला, भव्य होने का इससे सरल और सबल प्रमाण अन्य क्या हो सकता है जहां आत्मा दिख जाय और जिसमें परिग्रह-संचय तो हो और तप-त्याग और चारित्र-धारण करने जैसा अन्य कोई व्यायाम न करना पड़े और स्व-समय में आने के लिए कुन्द-कुन्द के बताए मार्ग—चरित्तदंसणाणट्ठिउ तं हि स-समयं जाण'—से भी छुटकारा मिला रहे—यानी मात्र सम्यग्दर्शन में ही स्व-समय सिमिट बैठे। ठीक ही है—'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यः भाविनिर्वाण भाजनम्।'—का इससे सरल और सीधा क्या उपयोग होगा?

पहिले हमने स्व-समय और पर-समय के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के 'पुग्गलकम्मपदेशट्ठियं च जाण पर समय' इस मूल को उद्धृत करते हुए लिखा था कि 'जब तक यह जीव आत्मगुणघातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्यकर्मप्रदेशों में स्थित है—उनसे बँधा है, तब तक यह जीव पूर्णकाल पर-समयरूप है। मोह-क्षय के बाद केवलज्ञानी में ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा सकता है और वह अवस्था चारित्र के धारण किये बिना नहीं होती।'

उक्त गाथा के 'कम्मपदेशट्ठिय' शब्द से घातिया कर्म प्रदेशों से बंध को प्राप्त—उनमें स्थित ऐसा अर्थ लेना चाहिए मात्र उपयोग के लगाने जैसा अर्थ ही नहीं लेना चाहिए। क्योंकि स्थूल रीति से उपयोग के बारह भेद हैं– चार दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। इन बारह उपयोगों में से केवलदर्शनोपयोग और केवलज्ञानोपयोग ये दो ही ऐसे हैं जिनकी प्रदेशों में गति है—छद्मस्थ के शेष सभी उपयोग प्रदेश ग्राहक नहीं। एतावता प्रसंग में **'पदेस'** शब्द की सार्थकता समझ—पर में उपयोग लगाने वाला मात्र, पर-समय है ऐसा अर्थ न लेकर 'कर्मप्रदेशों में बंधे आत्मा को पर-समय कहा है, ऐसा अर्थ लेना चाहिए। यह बात दूसरी है कि पर से उपयोग हटाना क्रमशः मोक्षमार्ग है।

रयणसार गाथा 140 में स्पष्ट कहा है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों पर-समय हैं और परम-आत्मा स्व-समय है—'बहिरंतरप्पभेयं पर-समयं भण्णए जिणिदेहिं। परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे।।' इसी को पंचास्तिकाय में ऐसे कहा है—'जीवो सहावणियदो अणियदगुण पज्जओ य पर-समओ।।155।। उक्त दोनों उद्धरण मान्य आचार्य के हैं। यदि जीव गुण और पर्याय दोनों में नियत नहीं—अनियत है तब भी वह पर-समय ही है। आज जो लोग मात्र गुणों की बात कर पर्याय को स्वभाव न मान उसका तिरस्कार करने का उपदेश दे रहे हैं क्या वे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' को झुठला नहीं रहे? क्या, यह सम्भव और जैन को मान्य है कि केवल गुण ही द्रव्य हो और पर्याय का लोप हो जाय? यदि उनकी मान्यता इकतर्फा है तो हमें "पज्जयमूढो हि पर-समओ' का अर्थ भी यही इष्ट होगा कि जो पर्याय के विषय में मूढ़ है—उसको नहीं जानता—सही नहीं मानता, वह पर-समय है। यदि पर्याय सर्वथा विनाशीक है तो 'सिद्ध' भी तो एक पर्याय है। क्या, किसी जैन को यह मान्य होगा कि वह पर्याय भी नाश हो जाती है? फिर कोरा निश्चय वालों को तो यह भी सोचना होगा कि निश्चय से शुद्ध में (सर्वथा असम्भव) अशुद्ध पर्याय कैसे सम्भव हुई जो उससे मुक्ति का मार्ग बताने का मिथ्या चलन चल पड़ा? क्या, यह सब चलन लोगों को कोरी चर्चाओं

में फँसा कर, खाओ-पिओ और मौज करो जैसा नहीं?

ऐसे ही जब हम आत्मानुभव पर विचार करते हैं तब हमारे चिंतन में सम्यग्दर्शन के दो भेद आते हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। विचार आता है कि जिन सम्यग्दृष्टी जीवों को आत्मानुभव होता है उनको उक्त दोनों में से कौन-सा सम्यग्दर्शन होता है? रागी में सम्यग्दर्शन हो इसमें तो बाधा नहीं पर, रागी के आत्मानुभव हो यह नहीं जँचता। (आज तो रागी भी आत्मानुभव होना कहते हैं) प्रश्न होता है कि यदि रागी को आत्मानुभव होता है तो वह अखण्ड आत्मा के किसी खण्ड का या अखण्ड का खण्ड तो हो नहीं सकता। आत्मा के टुकड़े मानना पड़ेगें, जो जैन को इष्ट नहीं। हाँ, अखण्ड आत्मा का अनुभव होता हो तब बात दूसरी। भला, जब संसारी राग अवस्था में ही सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव होने लगे तब कौन मूढ़ होगा जो मोक्ष के लिए चारित्र आदि तीनों में स्थिति को स्व-समय कह रहे हैं और लोग अकेले सम्यग्दर्शन मात्र में आत्मानुभव हो जाने का उपदेश दे रहे हैं।

जो लोग ध्यान से आत्मानुभव होना बतलाते हैं वे सोचें कि चारों ध्यानों में से किस ध्यान से आत्मानुभव होता है। धर्म ध्यान के तो सभी भेद विकल्पात्मक हैं सो क्या विकल्पात्मक से निर्विकल्प आत्म-स्वरूप का अनुभव सम्भव है। शुक्ल ध्यानों में आदि के दो ध्यान श्रुतकेवली के होते हैं। क्या छद्मस्थ में अन्त के दो शुक्ल ध्यान सम्भव है जो अरूपी आत्मा का अनुभव करा सकें। फिर ये भी सोचें कि आत्मानुभव प्रत्यक्ष होता है या परोक्ष? इन्द्रियाधीन होने से परोक्ष ज्ञान की पहुंच तो वहां होना सम्भव ही नहीं। आत्म-प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान मात्र का विषय है ऐसे में आत्मानुभव होना छद्मस्थों में कैसे माना जाने लगा? फिर आत्मानुभव तो ज्ञान-चारित्र का विषय है।

दर-असल बात ऐसी होनी चाहिए कि सम्यग्दृष्टी को जो अनुभव होता है वह आत्मानुभव नहीं, अपितु वह अनुभव, मात्र तत्त्वार्थ श्रद्धान से उत्पन्न स्व-पर भेद विज्ञान (होने) रूप होता है—सम्यग्दृष्टि भिन्न-भिन्न

तत्त्वों में आपा या एकत्वरूप श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और इसी के सहारे वह आगे बढ़ता है। इसे आत्मानुभव के नाम से प्रचारित करने से तो मोक्षमार्ग और चारित्र धारण का सफाया ही होता जा रहा है—घर में ही आत्मा दिख जाय तो चारित्र की आवश्यकता ही कहाँ? जैसा कि अब हो रहा है।

एक बात और! स्मरण रहे कि जैनेतर ग्रन्थ 'मनुस्मृति' के छठवें अध्याय में सम्यग्दर्शन की महिमा में एक श्लोक आया है—'सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्ननिबध्यते। दर्शनेनविहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।।74।।' इसमें सम्यग्दर्शन का अर्थ 'ब्रह्मसाक्षात्कारवान्' किया है और हिन्दुओं की श्रुति भी है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'—फलतः ब्रह्म-साक्षात्कार उनकी दृष्टि से ठीक हो सकता है। क्योंकि वहां ब्रह्म को सर्वव्यापक और प्राणी को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया गया है—वहाँ ब्रह्म अखण्ड होते हुए भी खण्डों में बँटा है और ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकना सम्भव है पर, जैनियों में तो अरूपी और अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार या अनुभव केवलज्ञान गम्य ही है। इसे विचारें, हमें कोई आग्रह नहीं। हम तो जैनियों में प्रचारित की जाने वाली—छद्मस्थ में आत्मानुभव होने की बात को अजैनों की देन होने पर विचार कर रहे हैं।

2. उभय-परिग्रह का त्याग आवश्यक :

संसारी जीव की अनादि कालीन प्रवृत्ति बहर्मुखी है—वह बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ रहा है—उनमें मोहित हो रहा है। फलतः—उसका संसार (भ्रमण) बढ़ता जा रहा है। जब यह अपने स्वरूप को पहिचाने – बहिर्मुखपने को त्याग कर अन्तर्मुखी हो—अपने में झाँके और शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों को निश्चय-व्यवहार दोनों नयों से तौले तब इसका उद्धार सम्भव हो—कोरे एक नय को सम्यक् और दूसरे को असम्यक् मानना भ्रान्ति है। नय दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा लिए सम्यक् हैं। यदि सम्यक् नहीं तो

नय ही नहीं—कुनय हैं। अन्तर्मुख और बहिर्मुख की पुष्टि को लोग कछुए के दृष्टान्त से करते हैं। अर्थात् जब तक कछुआ अपना मुख बाहर निकाले रहता है तब तक उसे कौवों की चोचों के प्रहार का भय रहता है और जब अपने को खोल में समेट लेता है तब उसे कौओं का भय नहीं रहता। ठीक ऐसे ही जब यह जीव अपनी प्रवृत्ति बाह्य (जो अपने नहीं हैं) में करता है तब उन पदार्थों के संयोग-वियोग में सुखी-दुखी जैसी दोनों अवस्थाओं में झूलता है और जब बाह्य को छोड़ अपने में आ जाता है तब स्वभाव में होने से इसकी झूलन मिट जाती है— सुखी हो जाता है। अतः बहिर्मुखपन को छोड़ अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमने देखा है, सुना है कि कई लोग अन्तर्मुख होने की प्रेरणा देते हैं, पर बहिर्मुखता से मुड़ने को मुख्यता नहीं देते। उनका ऐसा करना गलत है। मानो, जैसे आप कमरे के बाहर खड़े हैं और आपको भीतर आना है तो क्या, आप बाहर को बिना छोड़े भीतर प्रवेश पा सकेंगे? कदापि नहीं। प्रवेश तभी सम्भव है जब बाहर का छूटना और अन्दर का आना दोनों साथ-साथ चलें। जितना बाहर छूटता जायगा उतना अन्दर नजदीक आता जायगा। प्रसंग में बाहर छोड़ने का अर्थ भी मोह को छोड़ना है। और जब बाह्य से मोह छूटेगा तब अन्दर सहज में आता जाएगा। और इस अन्दर आने की पहिचान का पैमाना होगा बाहर का छूट जाना। ऐसा होना सम्भव नहीं कि कोई अन्दर होकर भी बाहर का जोड़ता रहे। जिसकी बाहर की जोड़ने की तमन्ना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो और वह कहे कि मैं भीतर झांक रहा हूं—सर्वथा धोका है। हां, यह भी ठीक है कि बाहर की क्रिया होने पर भी यदा-तदा अंतरंग भाव निर्मल न भी हों। इसीलिए तो कहा है—'बाहर-भीतर एक।'

परिग्रह के बाह्य और अंतरंग भेद ही इसीलिए किये हैं कि दोनों का त्याग किया जाय। यदि अन्तरंग भाव मात्र ही परिग्रह होता तो वे बाह्य को परिग्रह न कहते और न बाह्य दिगम्बरत्व का निर्देश देते। फलतः— फलित है कि मोह का अभाव करना चाहिए पर, यह भी

सम्भव नहीं कि बाह्य दिगम्बरत्व के बिना मुक्ति हो। आप यह तो कहते हैं—'भरत जी घर ही में वैरागी' पर, आप यह नहीं कहते कि भरत महाराज छह खण्डों के भोग भोगते वैरागी भाव मात्र से—बिना दिगम्बरत्व वेष धारण के ही मुक्ति पा गए। कहते यही हैं कि—उभय परिग्रह त्याग से ही मुक्ति होती है। बहिर्मुख से मुंह मोड़े बिना अन्तर्मुख होने जैसी बात कोरा स्वप्न है। खेद है कि लोग बाह्य को छोड़े बिना अन्तर्मुख के स्वप्न देखने में लगे हैं।

❑

सिद्ध-शिला

अनादि अकृत्रिम सिद्धशिला के आकार के संबंध में एक लेख 18 फरवरी 1999 के जैनगजट में प्रकाशित हुआ था। उसके संबंध में हमसे सम्मति मांगी गई थी। वास्तव में जो विषय हमारी इन्द्रियों और ज्ञान के गोचर नहीं और वर्तमान पंचम काल में जब इस क्षेत्र से मोक्षमार्ग ही बन्द है तब हमें आचार्यों के कथन के विषय में वीरसेन स्वामी के इस कथन को प्रामणिकता देनी चाहिए कि– **'एत्थ गोयमो पुच्छेयव्वो।'** हमें तो प्रसंगानुसार प्राचीनकाल से चले आए परंपरित आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट स्वरूप के विषय में तर्क-बुद्धि का आश्रय न लेकर आस्थागत मान्यता को मानना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि आचार्य समन्तभद्र जैसे आचार्यों ने भी सूक्ष्म-अन्तरित और दूरस्थ पदार्थों को सर्वज्ञ गम्य ही घोषित किया है। जब लोक की स्थिति अकृत्रिम है तो उसमें बदलाव कैसा?

सिद्धशिला के आकार में मतभेद को स्थान नहीं, क्योंकि शिला छत्राकार है और वह छत्र ऊर्ध्वमुख बताया गया है। प्रकाशित लेख में सभी आकृतियाँ अधोमुख हैं और आगम की दृष्टि में चिन्तनीय है। अधोमुख आकृति ऊर्ध्वमुख हो तो ठीक है। लेख में उल्लिखित प्रमाणों में **'तिलोयपण्णत्ति'** का प्रमाण उत्कट है, जिसमें **'उत्तान'** शब्द को ग्रहण किया गया है और अन्य प्रमाणों में **'हरिवंशपुराण'** का **'सौत्तानित'** शब्द, **'सिद्धान्तसार दीपक'** का **'उत्तान'** शब्द भी ऐसा ही सकेत (अर्थ) प्रकट करते हैं। वस्तुतः **'उत्तान'** का अर्थ ऊर्ध्वमुख है–(पाइयसद्दमहण्णव कोश) जो चन्द्राकार के साम्य ही है। कथन में भेद है, पर आकार में भेद नहीं।

एक तर्क यह भी दिया गया है कि चन्द्राकार की स्थिति में

पंचमुष्टिलोच और बैठने की स्थिति नहीं घटती। पर सिद्धों का इन दोनों क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि वे तो अरूपी आकाश प्रदेशों में रहते हैं। शिला से उन्हें क्या प्रयोजन? साधरण शिला की आवश्यकता तो सांसारिकों की दृष्टि से है और सिद्ध-शिला नामकरण भी सिद्धों की अपेक्षा से ही पड़ा है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि आजकल आगम से लेकर आचार तक सब कुछ बदलने की प्रक्रिया तेजी से चल रही है। **यदि ठोस आगमनिष्ठ विद्वानों के अभाव में पिच्छि-कमण्डलु का अर्थ गणधर मान्य हो जाय तब कोई क्या कर सकता है?** हमारी परम्परा तो गणधरानुसारिणी है। सुना है अनेक विद्वानों ने सिद्धशिला के अधोमुख छत्राकार सदृश होने में अपनी सम्मत्तियाँ प्रकट की हैं।

हमें जिनेन्द्रवर्णी कोष और जयसेन प्रतिष्ठा पाठ आदि के उद्धरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। जबकि उक्त प्रतिष्ठा पाठ में दीक्षाविधि का प्रसंग है और जिनेन्द्रवर्णी कोष के अनुसार भी पृ.: 334-335 में उत्तान का अर्थ ऊँधे छपा है, जबकि उसी के तीनलोक के नक्शे (पृ. 455) पर शिला का आकार ऊर्ध्वमुखी चन्द्राकार सदृश ही बनाया गया है। जो ऊर्ध्वमुख छत्र-साम्य है। संक्षेप में 'उत्तान' शब्द का अर्थ इस प्रकार मिलता है–

उत्तान– ऊर्ध्वमुखशयिते, ऊर्ध्वमुखे च–अभिधानराजेन्द्र कोष

ऊर्ध्वमुख–पाइयसद्दमहण्णव

ऊपर मुख करके सोया हुआ–विश्वलोचन कोष

तद्विपर्यये– उथला– गहरा नहीं–अमरकोष

पीठ के बल लेटा हुआ– संस्कृत हिन्दी कोष

इस प्रकार सिद्धशिला का आकार चन्द्राकार या ऊर्ध्वमुख छत्रसम ही मान्य ठहरता है। दोनों के आकार में कोई भेद नहीं है। कथन में लोक प्रसिद्धि के कारण चन्द्राकार कहा जाने लगा है। शास्त्रोल्लेख के अनुसार यह ऊर्ध्वमुख-छत्र जैसा ही है।

❑

हिमालय के दिगम्बर मुनि की सल्लेखना

हमने आज से लगभग 29 वर्ष पूर्व एक पुस्तक लिखी थी– 'हिमालय में दिगम्बर मुनि'। सुना है उसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जो शुभ चिन्ह है यदि हमारी भावनानुरूप प्रचार हुआ है तो। हमारा उद्देश्य था कि किसी खास व्यक्ति विशेष की नहीं, अपितु दिगम्बरत्व के बाह्याभ्यन्तर स्वरूप, दिगम्बर की शान्त मुद्रा और दिगम्बरत्व की छवि की जनता पर ऐसी छाप पड़े जो भुलाए न भूले। ये भाव हमें तब उठे जब चौरासी मथुरा चातुर्मास के अवसर की चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शान्तिसागर महाराज की हमारे हृदय में अंकित सौम्य छवि उभरकर हमारे स्मृति पटल पर आ गई। उन दिनों हम मथुरा गुरुकुल में विद्यार्थी थे और पुस्तक लेखन के समय हिमालय के दि० मुनि में लीन।

हिमालय-यात्रा मे हमें चारित्र चक्रवर्ति आचार्य शान्तिसागर जी और मुनि विद्यानन्द जी में अन्तर नहीं रह गया था। सम्भवतः ऐसा इसलिए हुआ हो कि चारित्र-नायक हिमालय के दिगम्बर मुनि आचार्य शान्तिसागर की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से विरासत में प्राप्त गुणों का अनुसरण कर रहे हों, जो उन दिनों उनकी चर्या से मुखरित होता था। जैसा सूनी ऊबड़-खावड़, नीरव पर्वत-शृंखलाओं में दिगम्बर-मुनि का वास-विहार होना चाहिए। साधुवृत्ति के अनुरूप प्रारम्भिक प्रवाह के दौर में मुलि विद्यानन्द जी की चर्या निर्बाध एवं निर्विघ्न सम्पन्न हो रही थी। हमारा सौभाग्य था कि हमें उन दिनों ताम-झाम युक्त घनी आबादी वाले कोलाहली शहरों से दूर अनायास ही दिगम्बर साधु की उस छवि को गहराई से पढ़ने का जो अवसर मिला वह छवि शायद देवताओं को भी दुर्लभ हो। जैसा अनुभव हुआ लिख दिया था।

उसके बाद हमें अन्य कहीं किसी के वैसे दर्शन नहीं हुए।

सल्लेखना

सल्लेखना शब्द कानों में पड़ते ही हमें चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर महाराज का पुनः स्मरण हो आया। हमारी जानकारी में जैसे विधिवत् सल्लेखना उनमें घटित हुई वैसी विशिष्ट पुण्यशाली जीवों की ही होती होगी। अन्यथा व्यवहार में जैसे मृत्यु को प्राप्त हर जीव को 'स्वर्गवासी हो गया' कहने की परिपाटी चल पड़ी है।—वैसे ही शुद्ध सल्लेखना के अभाव में भी साधारण रूप से कहा जाने लगा है कि अमुक का सल्लेखना पूर्वक मरण हो गया है। परन्तु हमारी श्रद्धा में चारित्र चक्रवर्ती महाराज की सल्लेखना आज भी अनुकरणीय है।

सल्लेखना का भाव है—'काय और कषायों का कृश करना' और यह सल्लेखना परीषह सहन करने से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। कहा गया है—'मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहः' मार्ग से पतित न होने और निर्जरा के हेतु परीषह सहन आवश्यक है और यही भाव सल्लेखना में निहित हैं। वस्तुतः सल्लेखना और परीषह सहन का पारस्परिक सम्बन्ध है हम उसे साध्य-साधन का नाम भी दे सकते हैं—सल्लेखना साध्य है और परीषह सहन उसका साधन। यही कारण है कि सल्लेखना (चाहे नियम रूप हो या यम रूप हो) ग्रहण करने के पूर्व परीषह-सहन का अभ्यस्त होना और सल्लेखना काल में निरन्तर परीषह सहन करना आवश्यक है।

नियम सल्लेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष बतलाया गया है। यह इसलिए कि शरीर की आयुस्थिति की सीमा अज्ञात होती है—सम्भवतः वह अधिक काल रह सकती हो। इस बारह वर्ष के काल में परीषह सहन द्वारा अति स्थूल शरीर को भी कृष किया जा सकता है क्योंकि सभी परीषह कष्ट सहन के अभ्यास के लिए ही हैं। वैसे साधारणतया मुनिगण को तप, त्याग एवं ध्यान में विशेष सहायक होने से सदा ही परीषह सहन करना

आवश्यक है। आज अन्य गृहस्थों द्वारा निर्मित सुख-सुविधा युक्त प्रासादों में रहने का त्यागियों में जो चलन बनता जा रहा है उन स्थानों के सेवन से न तो परीषह सहन हो सकती है और न ही शास्त्रोक्त सल्लेखना ही हो सकती है। अतः मुनि व त्यागी को इनका लोभ संवरण करना चाहिए। अस्तु, हमारे हर्ष का परावार नहीं रहा जब हमने सुना कि हमारे श्रद्धास्पद 'हिमालय के दिगम्बर मुनि' ने दिनांक 16 जून 1999 को नियम सल्लेखना ग्रहण की है। हमारी भावना है कि सल्लेखना-सविधि उन चारित्र चक्रवर्ती के तुल्य ही सम्पन्न हो जो 17 अगस्त 1955 बुधवार को यम-सल्लेखना लेते ही एकान्त पहाड़ पर चले गए, वहां सल्लेखना योग्य एकान्त स्थान होता है। हमारे हिमालय के दिगम्बर मुनि भी ऐसी ही घोषणा कर चुके हैं कि वे अन्त समय में किसी तीर्थ की ओर ही विहार करेंगे।

सल्लेखना में काय को कृश करने के साथ ही कषाय कृष करने की भी प्रमुखता है। वैसे तो दिगम्बर मुनि कषायवान् नहीं होते कदाचित् प्रसंगवशात् कभी कषाय हो भी जाय तो वह जलरेखावत् संज्वलन कषाय हो सकती है। सल्लेखना में तो ऐसी कषाय को भी जीतना होता है। हमारे हिमालय के दिगम्बर मुनि जी ने स्पष्ट विज्ञप्ति द्वारा कह दिया है—

मैं समस्त श्रावक-समुदाय एवं भक्तजनों को यह सानुराग-निर्देश देना चाहता हूँ कि मेरी उपस्थिति में या उसके बाद मेरी किसी भी प्रकार की तदाकार प्रतिमा (स्टेच्यू आदि) चरण-चिन्ह आदि न बनाये जायें। न ही मेरे नाम से किसी संस्था, भवन आदि का नामकरण किया जावे। इन कार्यों के लिए हमारे प्रातः स्मरणीय परमपूज्य आचार्यों प्रवर कुन्दकुन्द, धरसेन, उमास्वामी, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर आदि मूलसंघ के आचार्यों के नाम ही रखे जावें या फिर तीर्थंकरों एवं भगवन्तों के नाम पर इनके नामकरण हों। मेरी इस भावना का सभी भक्तजन एवं धर्मानुरागी जन आदर के साथ पालन करें—ऐसा अभिप्राय है। इससे समझना चाहिए कि उनके मोह का ह्रास चरमसीमा को स्पर्श करने जा रहा है— वे साधारण

लोगों से भी क्षमायाचना कर चुके हैं जो कषाय प्रबलता वाले जीवों में सर्वथा दुर्लभ है। फलतः हम समझे हैं कि अब 'हिमालय के दि० मुनि' का पुनः दिल्ली पदार्पण हुआ है हमारे चारित्र चक्रवर्ती भी दिल्ली आये थे—वे इसी भाव में थे। उक्त प्रसंगों से दोनों में कितनी साम्य है यह सोचने का विषय नहीं।

हमारी भावना ऐसी बनी है कि जैसे 'संजद' शब्द जो लम्बे विवादों के बाद भी चारित्र चक्रवर्ती को मान्य नहीं हुआ—वह सल्लेखना के अन्तिम चरण में उन्हें सहसा मान्य हो गया। वे पूर्वाचार्यों का विरोध करने से सहमत नहीं हुए और उन्होंने स्पष्ट घोषणा कर दी कि "जिनदास, धवला

जीवस्थान का 93वाँ सूत्र भावस्त्री का वर्णन करने वाला है। अतः वहाँ पर संजद पद अवश्य होना चाहिए, ऐसा निश्चय से लगता है।"

परमपूज्य महाराजश्री का वचन सुनकर उनकी सत्यान्वेषी प्रकृति का पुनः विश्वास हुआ। इससे हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। क्योंकि इससे 'संजद' पद संबंधी विवाद भी सदा के लिए हल हो गया है।

हमारी भावना बनी है कि आचार्य शान्तिसागर जी की परम्परा का अनुसरण करते हुए हमारे 'हिमालय के दिगम्बर मुनि' भी सल्लेखना के अन्तिम चरण में यह स्पष्ट घोषणा करेंगे कि दिगम्बर आगम, जो दृष्टिवाद से प्रसूत हैं– उनकी भाषा सर्वथा 'अर्धमागधी' ही है– जैसा कि परम्परित पूर्वाचार्यों ने दर्शनपाहुडटीका, तिलोयपण्णत्ति, धवला, बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र आदि में उल्लेख किया है। ऐसे में ही जिनवाणी की प्रमाणिकता सन्निहित है और भावी परम्परा को जिनागम में दृढ़ श्रद्धानी बनाने में समर्थ है। इत्यलम् अति विस्तरेण।

❑